श्री गणेशप्रसाद वर्णी दि० जैन ग्रन्थमाला, पुष्प १२

जैन-न्याय

भाग २

लेखक

सिद्धान्ताचार्य (स्व०) पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

पूर्व प्राचार्य श्री स्याद्वाद महाविद्यालय

भदैनी वाराणसी

सम्पादक

डा० कमलेशकुमार जैन

जैनदर्शन-प्राध्यापक

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान

वाराणसी

वी० नि० संवत् २५१५] [ई० १९८९

उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रकाशन—[illegible]

भारतीय आदिवासी

लेखक

उमाशंकर मिश्र
अध्यक्ष, मानव विज्ञान विभाग
विद्यांत हिन्दू डिग्री कालेज
लखनऊ

प्रभात कुमार तिवारी
अध्यक्ष, मानव विज्ञान विभाग
श्री जयनारायण डिग्री कालेज,
लखनऊ

उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
लखनऊ
1975

प्रकाशक
ब्रह्मदत्त दीक्षित
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
लखनऊ

शिक्षा तथा समाज कल्याण मत्रालय भारत सरकार
की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्र थ योजना के अन्तर्गत
उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्र थ अकादमी द्वारा प्रकाशित

पुनरीक्षक
डा० कृपाशंकर माथुर
अध्यक्ष, नशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रथम सस्करण 1100 प्रतिया—197[illegible]

मूल्य 12 50

मुद्रक
विश्व मोहन
पनार मुद्रक
117 नजीराबाद
लखनऊ

प्रस्तावना

शिक्षा आयोग (1964 66) की सस्तुतियो के आधार पर भारत सरकार ने 1968 मे शिक्षा सम्बन्धी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी, 1968 को ससद के दोनो सदनो द्वारा इस सम्बन्ध मे एक सकल्प पारित किया गया। उस सकल्प के अनुपालन मे भारत सरकार के शिक्षा एव युवक सेवा मत्रालय ने भारतीय भाषाओ के माध्यम से शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालय स्तरीय पाठय पुस्तको के निर्माण का एक व्यव स्थित कार्यक्रम निश्चय किया। उस कायक्रम के अ तर्गत भारत सरकार की शत प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य मे एक ग्रन्थ अकादमी की स्थापना की गई। इस राज्य मे भी विश्वविद्यालय स्तर की प्रामाणिक पाठय पुस्तकें तैयार करने के लिए हि दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी, 1970 को की गई।

प्रामाणिक ग्रथ निर्माण की योजना के अ तगत यह अकादमी विश्व विद्यालय स्तरीय विदेशी भाषाओ की पाठ्य पुस्तको को हिन्दी मे अनूदित करा रही है और अनेक विषयो मे मौलिक पुस्तको की भी रचना करा रही है। प्रकाश्य ग्रथो मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

उपर्युक्त योजना के अ तर्गत वे पाडुलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित कराई जा रही हैं जो भारत सरकार की मानक ग्रथ योजना के अन्तर्गत इस राज्य मे स्थापित विभिन्न अधिकरणो द्वारा तैयार की गई थी।

प्रस्तुत पुस्तक इस योजना के अ तर्गत मुद्रित एव प्रकाशित करायी गई है। इसके लेखक श्री उमाशंकर मिश्र तथा श्री प्रभात कुमार तिवारी हैं। इसका विषय सपादन डा० कृपाशकर माथुर ने किया है। इन विद्वानो के इस बहुमूल्य सहयोग के लिए हिन्दी ग्रन्थ अकादमी उनके प्रति आभारी है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और इस विषय के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों द्वारा इसका स्वागत अखिल भारतीय स्तर पर किया जायगा। उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए हिन्दी में मानक ग्रन्थो के अभाव की बात कही जाती रही है। आशा है कि इस योजना से इस अभाव की पूर्ति होगी और शिक्षा का माध्यम हिन्दी मे परिवर्तित हो सकेगा।

हजारी प्रसाद द्विवेदी
अध्यक्ष, शासी मंडल
उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

दो शब्द

उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी के सौजन्य से प्रकाशित यह पुस्तक राष्ट्र के उस उपेक्षित वर्ग से सम्बन्धित है जिसकी समस्याओं का समाधान आज की आवश्यकता है। सम्पूर्ण देश के बीहड़ एवं अगम्य अंचलों में फैले हुए यह जनसमुदाय सदियो से हमारे सामान्य जनजीवन की धारा से बिलग उपेक्षित जीवन व्यतीत करते चले आ रहे हैं। अंग्रेजी भाषा मे इन जन समुदायो पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। सामान्य जिज्ञासुओं एवं आज के विद्यार्थी वर्ग की आवश्यकताओ को देखते हुए हिंदी भाषा में इस विषय पर प्रामाणिक पठन सामग्री का लगभग अभाव सा ही प्रतीत होता है। प्रस्तुत पुस्तक इस अभाव की पूर्ति कर सकेगी हमें ऐसी आशा है।

आदिमजातीय समुदायो के लोग वास्तव मे देश के प्राचीनतम निवासी हैं अथवा नहीं—यह एक विवाद का विषय हो सकता है किंतु देश के अन्य वर्गों की अपेक्षा वे देश की मिट्टी से कहीं अधिक निकट हैं यह एक प्रत्यक्ष सत्य है। अतीत के अंधकार में छिपा उनका इतिहास आज भी प्रागैतिहासिक युग की सीमाओ मे घिरा हुआ प्रतीत होता है। अत उन्हें देश के 'आदिवासी' संबोधन पर विशेष बल देते हुए ही पुस्तक का नाम 'भारतीय आदिवासी' रक्खा गया है।

प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियो के लिए अधिक से अधिक उपयोगी सिद्ध हो सके, इस दृष्टिकोण से किन्ही विशेष आदिमजातियो को ही चर्चा का विषय न बना कर सामान्य तथ्यों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। पुस्तक के अंत मे दो परिशिष्टों में आदिवासी समुदायो एवं विस्तृत अध्ययन सामग्री की सूची प्रस्तुत करके पुस्तक की उपयोगिता मे वृद्धि करने का प्रयास किया गया है।

भारतीय आदिवासियो के अध्ययन मे (स्व०) डा० धीरेन्द्र नाथ

मजूमदार का नाम अग्रगण्य है । हमे उनके शिष्य होने का भी सौभाग्य प्राप्त है और हमारा यह प्रयास उनकी स्मृति को समर्पित है ।

पुस्तक के लेखन मे हमारी प्रेरणा के स्रोत डा० कृपाशकर माथुर—अध्यक्ष मानव विज्ञान विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय रहे हैं जिनका सतत निर्देशन हमे प्राप्त होता रहा है । यदि इस पुस्तक मे कुछ भी बन पड़ा है तो उसका श्रेय उनके उदार सहयोग एव विद्वतापूण निर्देशन को ही है । हिंदी ग्रथ अकादमी के निदेशक श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित का सहयोग अविस्मरणीय रहेगा । जिस प्रकार मुक्त हृदय से उन्होने हमारा अमूल्य उत्साहवधन किया है—वह सराहनीय है ।

समय समय पर हमारे विशिष्ट मित्र वृन्दो म श्री हरी सहाय सक्सेना श्री दीपक त्यागी डा० ब्रजराज किशोर शुक्ल एव श्री चद्र मोहन अमोली के सुझावो एव आलोचनाओ से हमे बडा प्रोत्साहन मिला है । पुस्तक को निखरा हुआ स्वरूप देने म श्री विश्व मोहन ने मुद्रण व्यवस्था का काय जिस लगन से अल्प समय मे ही सम्पादित किया वह उनकी कुशलता का परिचायक है ।

हम उन अनेक लेखका एव प्रकाशको के भी आभारी हैं जिनकी पुस्तको के अध्ययन हमारे मस्तिष्क म नई नई जिज्ञासाये जागन करते रहे हैं । प्रस्तुत पुस्तक उन्ही जिज्ञासाओ को एक मूर्त रूप देने का परिणाम है ।

आदिवासी सस्कृतियो की विविधताओ एव विशिष्टताओ का परिसर इतना बृहद है कि किसी एक पुस्तक मे उनका अध्ययन प्रस्तुत कर पाना एक कठिन काय है । फिर भी उनकी मूल समस्याओ से सम्बन्धित लगभग सभी सामाजिक सांस्कृतिक पक्षो की चर्चा पुस्तक मे की गई है । हमे आशा और विश्वास है कि विद्वान पाठकवन्द हमारी त्रुटियो की ओर ध्यान आकर्षित कराते हुए अपने सुझाव प्रेषित करेंगे जिससे भविष्य मे हम इसे और भी उपयोगी बना सक ।

लेखकद्वय

विषय सूची

पृष्ठ सख्या

1

भारत के आदिवासी—एक परिचय

आदिम समाजो के लोग देश के आदि वासी हैं—यह एक सदिग्ध विषय है। उनसे सबधित ऐतिह्‌सिक तथ्यो के अभाव मे यही मान्यता श्रेयस्कर है। किंतु देश की सास्कृतिक धरोहर के रूप मे वे महत्वपूर्ण हैं—इसमे कोई सदेह नही। भारत की सास्कृतिक विविधता को आदिवासी सस्कृतिया एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती हैं। हमे उनकी सस्कृतियो पर गर्व है। सभवत विविधिता के इसी विशिष्ट स्वरूप का प्रदर्शन प्रतीकात्मक रूप से गणतत्र दिवस पर करके हम विविधता मे एकता का परिचय देते हैं। इस अध्याय मे देश के आदिवासी समुदायों का एक सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है।

सामाजिक समूहो का उनकी विशिष्टताओ के आधार पर कबीला, जाति वग, जनजाति तथा प्रजाति आदि कुछ श्रेणियो मे वर्गीकरण किया जाता है। सभी देशो मे यह सभी प्रकार के सामाजिक समूह नहीं पाये जाते। इसके विपरीत सभी देशो के सामाजिक समूहो को एक से अधिक प्रकार की उपर्युक्त श्रेणियो मे श्रेणी-बद्ध किया जा सकता है। यहां हमारा उद्देश्य ऐसे सामाजिक समूहो की चर्चा करना है जिन्हे सामान्यतया जनजाति अथवा आदिम जाति कहा जाता है। ससार के अधिकाश क्षत्रो मे इस प्रकार के जनसमूह पाये जाते हैं। इनकी कुछ सामाजिक एव सास्कृतिक विशिष्टताओ के आधार पर इन्हे परिभाषित किया जाता है। जाति वर्ग तथा प्रजाति आदि श्रेणियो तथा इस वग मे आने वाले जन समूहो मे भद स्थापित किया जा सकता है। जहाँ जाति तथा वग मे सामाजिक एव सास्कृतिक आधार पर इन जन समूहो को अलग किया गया है वहा प्रजाति की श्रेणी मे केवल जन्म जात मौलिक लक्षणो के आधार पर माने गये जनसमूहो को ही सम्मिलित किया जाता है। अधिकाशत जाति एव वग की तुलना म ये जनसमूह आकार मे बहुत छोटे हुआ करते है तथा इनके सामाजिक सबधो का विस्तार सीमित क्षत्रो मे ही होता है। इसी दृष्टिकोण से साधारणतया इन जनसमूहो को सीमित विस्तार वाले जन समूह अथवा लघु समाज कहा जाता है। परतु वास्तव मे यह विशेषता ठीक प्रकार से इस श्रेणी म आने वाले जन समूहो का परिचय नही दे पाती। इन जन समूहो की अपनी एक भाषा होती है। उनका अपना एक सीमित क्षेत्र भी होता है। ससार के सभी भागो मे इस प्रकार के जन समूह अधिकतर घने जगलो सीमात प्रदेशो, पवत शृखलाओ निजन मरुस्थलो तथा छोटे छोटे द्वीपो मे निवास करते है। यह सभी क्षेत्र बहुधा ऐसे क्षत्र हुआ करते है जहा अन्य प्रकार के वर्गों के जन समूहो से इनका सपक बहुत कम हो पाता है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि जिन क्षेत्रो मे ये निवास करते हैं उनमे आवागमन के साधनो के अभाव मे बाहरी लोगो का पहुच पाना सभव नही होता। एक सीमित क्षेत्र मे विशष प्रकार की भौगोलिक परिस्थितियो मे काफी लबे समय से रहते चले आने के परिणाम स्वरूप तथा बाह्य सपर्कों की न्यूनता अथवा अभाव मे इन जनसमूहो के जीवन यापन के विधानो तथा इनकी सस्कृतियो मे भी विशेषता आ जाती है। इसी कारण से इस प्रकार के जन समूहो मे अपनी एक विशिष्ट सस्कृति का होना, जो कि अपने प्रकार के ही अन्य समूहो की सस्कृतियो से भिन्न होती है इनका एक विशेष लक्षण हो जाता है। इनकी भाषायें भी अन्य प्रकार के जनसमूहों द्वारा बोली जाने वाली

भाषाओं से सर्वथा भिन्न हुआ करती हैं। इनमें से अधिकांश भाषायें लिपि हीन हैं। केवल कहीं-कहीं जहा इन जनसमूहो का सपर्क अन्य प्रकार के जनसमूहो से हो चुका है वहां किसी विदेशी लिपि का उपयोग भी होने लगा है। परन्तु इस प्रकार के लोगो द्वारा बोली जाने वाली ऐसी भाषाओं की सख्या भी बहुत कम है। एक और विशेषता जो कि इन लोगों मे पाई जाती है वह है इनका आर्थिक पिछड़ापन। अधिकांशतया जिस प्रकार के क्षेत्रों मे यह लोग रहते हैं वहा इन्हे अपने क्षेत्र मे ही प्राप्त प्राकृतिक साधनों पर निभर करना पडता है। आर्थिक आत्मनिभरता इन समाजो का एक विशेष लक्षण है। अपने पर्यावरण मे जीवन निर्वाह के इनके साधन अत्यन्त साधारण होते हैं आर्थिक व्यवस्था इतनी अविकसित होती है तथा साधन इतने न्यून होते है कि अथक परिश्रम के उपरात भी केवल न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति हो पाना ही सभव होता है। अत अन्य प्रकार के समुदायो की तुलना मे आर्थिक पिछड़ापन इन समाजो की एक विशेषता मानी जाती है। साधारणतया सभ्यता का मूल्याकन आर्थिक साधनो की प्रगति शीलता तथा लिखने पढने की परपराओ के आधार पर ही किया जाता है। इन दोनों के अभाव मे ही सभवत इन जनसमूहो को असभ्य माना जाता है। इन्ही आधारो पर सभ्य कहे जाने वाले मानव समाजो से दूर अपने सीमित क्षेत्रो मे भ्रमण करने वाले तथा अपनी विशिष्ट सास्कृतिक परपराओ से जकडे हुये यह मानव समाज ससार के भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे बसे हुये हैं। जहा अन्य प्रकार के सामाजिक समूहो का अध्ययन समाज शास्त्र अर्थ शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र आदि मे किया गया है इन शास्त्रो के द्वारा ये मानव समाज अधिकाशतया उपेक्षित ही रहे हैं। मानव विज्ञान ही एक ऐसा विषय है जिसके अतगत अन्य प्रकार के मानव समाजो के साथ-साथ इन मानव समाजो का भी अध्ययन विस्तार पूर्वक एव वैज्ञानिक आधार पर किया गया है।

मानववैज्ञानिको का मत है कि इस प्रकार के जन समूह अन्य जन समूहों से सामाजिक व्यवस्था मे भी भिन्न होते हैं। अधिकाशतया इनका सामाजिक सगठन बधुत्व सबधो पर आधारित होता है। इनके अपने वैवाहिक नियम एव पद्धतियां हुआ करती हैं। प्रत्येक समूह के वैवाहिक सबंध अपने समूह मे ही सीमित होते हैं। प्रत्येक समूह की अपनी राजनीतिक प्रणाली भी होती है—समूह के आंतरिक मामलों का निपटारा परंपरागत आधार पर सामूहिक परिषदो, बड़े-बूढो की गोष्ठियों अथवा समूह का नेतृत्व करने वाले मुखिया अथवा सरदार के द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार से जिस देश में

भी यह लोग रहते हैं वहा के अन्य प्रकार के निवासियो तथा पडोसियो की तुलना में ये समाज विशिष्ट प्रकार के समुदायों के रूप में पाये जाते हैं। इन्ही समुदायो को जनजाति, आदिमजाति, आदिवासी आदि शब्दो से सबोधित किया जाता है।

उपयुक्त वर्णित विशेषताओ के होते हुए भी, इन आदिमजातियों की परिभाषा कर सकना एक कठिन कार्य हो जाता है क्योकि यह सभी लक्षण भिन्न भिन्न अशो मे अन्य प्रकार के सामाजिक समूहो मे भी पाये जाते हैं। अत निश्चित आधारो पर इनमे तथा अन्य प्रकार के सामाजिक समूहो मे अतर स्थापित करना कठिन हो जाता है। फिर भी मानव विज्ञान के क्षेत्र मे अनेक विद्वानो ने आदिमजाति शब्द की परिभाषा करने के प्रयत्न किये हैं, जिनके आधार पर किसी सीमा तक इस अवधारणा को समझा जा सकता है।

आदिमजाति की परिभाषा

नाडेल ने इस सबध मे चर्चा करते हुये लिखा है कि किसी भी जन समूह की परिभाषा करने मे हमे दो प्रमुख बातो की ओर ध्यान देना चाहिये। प्रत्येक समूह का निर्माण व्यक्तियो के द्वारा ही होता है। इसलिये यदि आवश्यकता हो तो किसी भी समूह की परिभाषा करते समय उन व्यक्तियो के सबध मे कुछ कहा जाये। इसके अतिरिक्त प्रत्येक समूह का एक क्रियाशील क्षेत्र होता है और उस समूह की समस्त कानूनी राजनीतिक तथा आर्थिक क्रियाओ का क्षेत्र अपनी क्रियाशील सीमाओ के अतगत ही हुआ करता है। अत समूह की परिभाषा करते समय इन क्षत्रो के विस्तार की चर्चा करना आवश्यक हा जाता है। इसी आधार पर आदिमजातियो की परिभाषा भी की जानी चाहिय क्योकि जाति वग अथवा आदिम जातिया यह सभी सामूहिकता के भिन्न भिन्न स्वरूप हैं। आदिमजातियां एक विशिष्ट प्रकार के सामाजिक सास्कृतिक सगठन के स्वरूप हैं। इस शब्द का प्रयोग भी वास्तव मे एक विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था का ही परिचायक है। नाडेल के उपयुक्त विचारो के आधार पर जब हम आदिमजातियो के क्रियाशील क्षेत्रो की सीमाओ का निर्धारण करने का प्रयत्न करते हैं तो भौगोलिक भाषागत, राजनैतिक तथा सास्कृतिक आधार प्रमुख रूप से सामने आते है। क्योकि एक सामान्य क्षेत्र, सामान्य राजनैतिक प्रशासन तथा विशिष्ट सस्कृति यह तीनो विशेषतायें लगभग सभी विद्वानो द्वारा आदिम-जातियो की प्रमुख विशेषतायें मानी गई हैं। विशेष रूप से मानववैज्ञानिको ने सास्कृतिक आधार पर भेद स्थापित करने के सिद्धान्त को अधिक महत्व

किया है परंतु सांस्कृतिक आधार पर आदिमजातियो को परिभाषित करने मे अनेक कठिनाइयां सामने आती हैं। भारतवर्ष में विशेष रूप से ये कठिनाइयां और भी बढ़ जाती हैं। इसके अतिरिक्त, कहीं-कहीं पर एक ही विस्तृत सांस्कृतिक क्षेत्र मे अनेक आदिमजातियां पाई जाती हैं और उनमे आपस में सांस्कृतिक भिन्नताओ के स्थान पर समानतायें ही अधिक पाई जाती हैं। अत इन समाजों की क्रियाशीलता के क्षेत्रों को भौगोलिक, भाषा तथा राजनैतिक सीमाओ के आधार पर ही अधिक सुविधा पूर्वक निश्चित किया जा सकता है।

इम्पीरियल गजेटियर में आदिमजाति की परिभाषा करते हुये कहा गया है—"एक आदिमजाति परिवारों का एक वह समूह है जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा बोलते हैं तथा एक सामान्य क्षेत्र में या तो वास्तव में रहते हैं या अपने को उसी क्षेत्र से संबंधित मानते है तथा ये समूह अतर्विवाही ही होते हैं। इस परिभाषा मे एक आदिम जाति के सदस्यों के लिये (1) सामान्य नाम (2) एक भाषा अथवा उपभाषा का बोलना (3) एक सामान्य क्षेत्र मे निवास करना अथवा उस क्षेत्र से अपने को सबंधित मानना तथा (4) वैवाहिक संबधो का समूह के अदर ही सीमित रहना आदिमजाति की विशेषतायें माना गया है।

डब्लू० एच० आर० रिवर्स ने आदिमजाति की परिभाषा करते हुये लिखा है कि आदिमजाति एक अत्यन्त साधारण कोटि का सामाजिक समूह होता है जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा बोलते हैं उसकी एक शासन प्रणाली होती है तथा सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिये तथा युद्ध इत्यादि की स्थिति मे एकता का प्रदर्शन करते हैं।'

डा० रिवर्स की इस परिभाषा में एक सामान्य क्षेत्र मे निवास करने को कोई महत्व नही दिया गया। इसके विपरीत पैरी आदि अन्य अनेक विद्वानों ने इसे आदिमजातियो के सगठनो की महत्वपूर्ण विशेषता माना है। इन लोगो के अनुसार यहा तक कि खानाबदोश आदिमजातियाँ भी जो कि कभी स्थाई रूप से अधिक समय तक एक ही स्थान पर निवास नही करती, सदैव एक सीमित क्षेत्र में ही विचरण करती हैं। रैडक्लिफ ब्राउन ने अपने आस्ट्रेलिया मे किये गये अध्ययनों के आधार पर लिखा है कि किन्हीं-किन्हीं अवसरों पर एक ही आदिमजाति के भिन्न-भिन्न वर्गों में आपस मे ही युद्ध होता है। अत डा० रिवर्स की परिभाषा में युद्ध इत्यादि कुछ विशेष परिस्थितियो में सम्मिलित सहयोग की बात भी सभी स्थानों पर नही पाई जाती।

लोवर मे आदिमजातियो की परिभाषा करते हुये कहा है कि आदिम

जातियाँ ऐसे लोगो का एक समूह होती है जिनकी अपनी एक सामान्य संस्कृति होती है। क्रोबर के अनुसार मानव विज्ञान के क्षेत्र मे संस्कृति की अवधारणा के अनुरूप आदिमजाति के सदस्यो का एक ही सामान्य संस्कृति का अग होना उनका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लक्षण है।

आदिमजाति शब्द के सबध मे मानव वज्ञानिको मे मतैक्य न होने का एक मूल कारण यह है कि प्रत्येक मानववज्ञानिक ने जिन क्षेत्रो की आदिम जातियो मे काय किया है उन्ही के अनुभवो के आधार पर इस शब्द की परिभाषा करने का प्रयत्न किया है। अत अपनी परिभाषाओ मे क्षेत्र विशेष की आदिमजातियो मे प्राप्त विशेषताओ का उल्लेख किया है। परतु इस शब्द की भिन्न भिन्न परिभाषाआ के आधार पर सार्वभौमिक रूप से आदिम जातिया मे पाई जाने वाली विशेषताओ का उल्लख किया जा सकता है। इन्ही सामान्य विशषताओ की चर्चा पहले की जा चुकी है।

भारतीय आदिमजातिया

ससार के अन्य क्षत्रा की भाति भारतवष की आदिमजातिया का भी अपना एक निश्चित क्षत्र होता है और इसी क्षत्र की सीमाआ मे इनकी क्रिया शीलता तथा उनक सामाजिक सबध सीमित हाते हैं। कुछ आदिमजातियो म जहा काम की खोज म लोग अपने क्षत्रा का छोड कर औद्योगिक सस्थानो खानो अथवा चाय बागाना मे चले गये हैं और लगभग स्थाई रूप से उन्ही क्षत्रा म रहने भी लग हैं वे भी अपने मूल क्षत्रा से पूर्णतया अपना सबध विच्छेद नही कर सके है। अपने मूल क्षत्रा का ही परपरागत रूप स अपना मूल स्थान मानते चले आ रहे हैं। उदाहरण के लिय असम के चाय बागानो मे काम करने वाल सथाल सदव बिहार तथा पश्चिमी बगाल के उन्ही क्षेत्रो को अपना परपरागत निवास स्थान घोषित करते है जहा के वे मूल निवासी है।

जैसा कि पहले कह चुके है–आदिमजाति की परिभाषा अनक विद्वानो ने अपने-अपने अनुभवो के आधार पर भिन्न भिन्न रूप से की है। फिर भी इन सभी क आधार पर आदिमजाति की अवधारणा क सबध मे कुछ सामान्य लक्षणो की चर्चा की जा सकती है। हमने यह भी कहा है कि ससार के अन्य दशो की तुलना मे भारतवष म कुछ विशेष परिस्थितिया हैं जिनके कारण सामान्य परिभाषा के आधार पर भारतीय जनजातियो को श्रेणी बद्ध करने मे कठिनाई होती है। अनेक भारतीय मानव वज्ञानिको एवं समाजशास्त्रियो ने भारतीय आदिवासी क्षेत्रो मे अपने अनुभवो के आधार पर आदिमजाति शब्द

की परिभाषा भारतीय सदर्भ में की है। अत भारतीय आदिवासियो की चर्चा करते हुये इन परिभाषाओ पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

डा० मजूमदार ने बिहार के सिंहभूम-मानभूम जिलो के आदिवासियो में कार्य किया। वैसे उनका काय क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत रहा है फिर भी इस क्षेत्र मे उन्होने अधिक काय किया है। डा० मजूमदार ने आदिमजाति शब्द की परिभाषा इस प्रकार से की है—

यद्यपि किसी भी भारतीय आदिम जाति के सभी सदस्यो मे आपस मे रक्त सबध नहा हुआ करते फिर भी सिद्धान्ततया रक्त सबध प्रत्येक आदिम-जाति के सामाजिक सबधो के सगठन एवं नियत्रण मे महत्वपूण स्थान रखते हैं। परिणाम स्वरूप अपने समूह के अतगत ही वैवाहिक सबधो का सीमित होना तथा अधिकाश आदिम जातियो का गणो तथा उपगणो मे विभाजित होना एक सामान्य विशेषता पाई जाती है। यह गण रक्त सम्बन्धी होने के कारण बहिर्विवाही होते हैं।

प्रत्येक भारतीय आदिमजाति के सभी सदस्यो की अपनी एक विशेष भाषा होती है। एक ही क्षेत्र मे बसे होने पर भी भाषाओ मे भिन्नता अक्सर उनके सपर्कों को शिथिल कर देती है तथा उनमे सास्कृतिक अन्तर वैसे के वैसे बने रहते है। इस सम्बन्ध मे सेमानागा आदिमजाति का उल्लेख करते हुये जे० एच० हटन ने एक बडी ही रोचक घटना का विवरण दिया है, जिसमे बताया है कि सात भिन्न सेमा नागा आदिम जाति के सदस्य अकस्मात अपनी यात्राओ के दौरान एक ही स्थान पर रात काटने के लिये विश्राम करने लगे। सभी ने अपनी भाषा मे अपनी-अपनी खाद्य सामग्री का वणन किया। परन्तु जब उन्होने खाने के लिये अपना खाना निकाला तो सभी के पास एक ही खाद्य सामग्री निकली। भाषाओं का अन्तर आस-पास की बसी हुई आदिम-जातियो मे एक पर्दे का कार्य करता रहता है जिसके कारण परस्पर सास्कृतिक आदान प्रदान मे अवरोध उत्पन्न होता है। परन्तु इसके विपरीत भारतवष के कुछ क्षेत्रो मे आदिमजातियो में अपनी भाषा के साथ-साथ अपने पडोसी आदिमजातियो अथवा बसे हुये सभ्य हिंदू लोगो की भाषा भी प्रचलित हो जाती है और वे दोनो भाषाओ का प्रयोग बड़ी कुशलता के साथ करते हैं। ऐसे क्षेत्र मे परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा सहकार को प्रोत्साहन मिला है। बिहार तथा मध्य प्रदेश की अधिकाश आदिमजातियो मे ऐसी ही परिस्थितियां देखने को मिलती हैं।

यद्यपि भिन्न भिन्न आदिमजातियो मे परस्पर संघर्ष कुछ क्षेत्रों में पाये

जाते हैं फिर भी एक ही आदिमजाति के अन्तर्गत सामूहिक स्तर पर संघर्षों का अभाव मिलता है। यह भारतीय आदिमजातियों की एक विशेषता है। नागालैंड क्षेत्र की आदिम जातियां अपने आपसी संघर्षों के लिये प्रख्यात है। इसी प्रकार अरुणाचल प्रदेश मे भी आपातानी तथा डाफला आदिम जातियों में निरन्तर संघष चलते रहते हैं। इसके विपरीत ऑस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका की आदिमजातियो मे सामूहिक स्तर पर संघर्ष बने रहते हैं जिससे उनमे एकता तथा संबद्धता के बधन भारतीय आदिमजातियो की अपेक्षा शिथिल होते हैं।

यद्यपि राजनतिक दृष्टिकोण मे प्रत्येक आदिमजाति उसी राज्य के राजनैतिक प्रशासन के अतगत मानी जाती है जिस राज्य मे वह रहती है तथा देश के अन्य क्षेत्रो एव लोगो की भांति उनका प्रशासन भी संबधित राज्य सरकार तथा केन्द्रीय सरकार का उत्तरदायित्व है तथापि प्रत्येक आदिमजाति की अपनी एक परपरागत राजनतिक व्यवस्था भी होती है जिसके द्वारा उनके निजी मामलो का निपटारा तथा सामाजिक नियंत्रण का कार्य चलता रहता है। भिन्न-भिन्न आदिमजातियो मे एक अथवा एक से अधिक आदिमजातीय पचायतें होती है। अधिकाशतया पूरे समूह का नियंत्रण वयस्कों द्वारा निर्मित परिषद अथवा किसी एक ही सरदार अथवा मुखिया के नेतृत्व के द्वारा होता है।

इन सबके अतिरिक्त कुछ अन्य विशेषताओ का भी उल्लेख किया जा सकता है जो भारत की आदिमजातियो मे तो पाई जाती हैं परतु अन्य सभ्य लोगो मे उनका अभाव पाया जाता है। जैसे सास्कृतिक विषमता इनमे मे एक है। यह सांस्कृतिक विषमतायें उनके विशिष्ट सामाजिक सगठन, रीति रिवाज धार्मिक क्रियाओ, विवाह के नियमो नत्य संगीत पहनावा तथा दैनिक जीवन मे व्यवहार की जाने वाली वस्तुओ के रूप मे पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त इनका आर्थिक पिछडापन तथा आर्थिक जीवन के साधन एव स्रोत भी इन्हे भारतवर्ष के सभ्य कहे जाने वाले समाजा से पृथक करते है। इनका आर्थिक सगठन भी सभ्य लोगों के आर्थिक सगठन से भिन्न होता है और यह भी इनके आर्थिक पिछडेपन का एक मूल कारण है। उदाहरण के लिए सभ्य लोगो के आर्थिक संगठन की भांति न तो श्रम का विभाजन (कुछ गिने चुने आधारों जैसे आयु तथा लिंग को छोडकर) ही उस स्तर का पाया जाता है और न किसी प्रकार का आर्थिक विशिष्टीकरण ही देखने को मिलता है। आर्थिक क्रियाओ के जितने भी क्षेत्र होते हैं उन सभी क्षेत्रों में सभी व्यक्तियों

के सभ्य होने की अपेक्षा की जाती है। निश्चय ही कुछ व्यक्ति कुछ कार्यों को अन्य कार्यों की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से कर सकने की क्षमता रखते हैं। परन्तु उनके आर्थिक संगठन क्रम में इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। साथ ही उनका तकनीकी ज्ञान इतना सीमित होता है तथा इसके परिणाम स्वरूप उनके साधन इतने अविकसित होते हैं कि थोडे से उत्पादन के लिए उन्हे यथेष्ट समय तथा श्रम लगाना पडता है। सभ्य समाजों के आर्थिक संगठनों मे इससे विपरीत दशायें पाई जाती हैं। अत आर्थिक जीवन के आधार पर भारत की आदिमजातियो तथा देश के अन्य वर्गों मे स्पष्ट रूप से अतर स्थापित किया जा सकता है। इन सभी के परिणाम स्वरूप देश की आदिमजातियो तथा अन्य वर्गों के मध्य सांस्कृतिक विषमतायें विद्यमान हैं।

यद्यपि उपर्युक्त वर्णित अधिकांश विशेषताओ के आधार पर सार्वभौमिक रूप से आदिमजाति शब्द की अवधारणा की परिभाषा की गयी है परन्तु संसार के अन्य क्षेत्रो की तुलना मे भारतवर्ष मे कुछ विशेष परिस्थितियो के कारण अक्सर सार्वभौमिक रूप से मान्य इस परिभाषा को अपनाने मे कठिनाई होती है। मानव विज्ञान के क्षेत्र मे सर्व प्रथम अध्ययन आस्ट्रेलिया अफ्रीका दक्षिण अमेरिका तथा प्रशात महासागरीय द्वीप समूहो मेलानेशिया आदि क्षेत्रो मे किये गये जहाँ आदिमजातीय तथा अन्य वर्गों के लोगो मे स्पष्ट रूप से विषमतायें पाई गईं और किसी सीमा तक आज भी अधिकाशतया वैसी ही परिस्थितियाँ बनी हुई है। इन्ही अनुभवो पर आधारित आदिमजाति की परिभाषा एवं अवधारणा को सवमान्य किया गया। परन्तु भारतवष मे वैसी आदर्श परिस्थितियो का लगभग अभाव सा पाया जाता ह। हमारे देश मे सैकडो वर्षों से आदिमजातियाँ काफी क्षेत्रो मे अन्य प्रकार के लोगो के सपर्कों मे रहती चली आ रही है। अत केवल कुछ क्षेत्रो को छोडकर अधिकांश अन्य क्षेत्रो मे निरन्तर परस्पर सास्कृतिक आदान प्रदान की प्रक्रिया चलती रही है जिसके कारण उनकी सस्कृतियाँ अपने पडोसी सभ्य समाजो की सस्कृतियों के अधिक निकट आ चुकी हैं और उनमे व्याप्त विषमताओं मे कमी हुई है। विशेष कर पिछले पचास वर्षों मे इन क्षेत्रो मे औद्योगिक गतिविधि के बढने से तथा आवागमन के साधनों मे परिवर्धन तथा सडको के निर्माण काय से इस प्रक्रिया में तीव्रता आई है। वस्तुत अधिकांश आदिमजातीय क्षेत्रों मे, आदिमजातियों के निश्चित क्रियात्मक क्षेत्रो को अब स्पष्ट रूप से अंकित नही किया जा सकता। विशेषकर छोटा नागपुर क्षेत्र के ओरॉव तथा सन्थाल एवं मध्य प्रदेश की गोंड आदिमजातियों का प्रसार अधिक

विस्तृत क्षेत्रो मे हुआ है और अब इनके सीमित भौगोलिक क्षेत्र नहीं रहे हैं। जनसख्या के दृष्टिकोण से इन तीनो की सख्या सम्मिलित रूप से देश की सपूर्ण आदिमजातीय जनसख्या का एक बहुत बडा भाग है।

अपनी एक भाषा का होना जिसे आदिम जाति के सभी सदस्य बोलते हो, इन समाजो का एक विशेष लक्षण माना गया है। परन्तु इस दृष्टिकोण से भी भारतवर्ष की आदिमजातियो मे हमे विशेष परिस्थिति मिलती है। कुछ इने गिने क्षेत्रो को छोडकर अधिकाश आदिमजातिया सामान्यतया दो भाषायें बोलती हैं। एक तो अपनी भाषा तथा दूसरी अपने पडोसी आदिमजातियो अथवा हिंदुओ की भाषा। इसीलिये उनकी विशिष्ट भाषा के आधार पर कोई सीमा रेखा स्थापित नही की जा सकती। यहाँ तक कि कुछ आदिमजातियो ने तो अपनी भाषा पूणतया त्याग कर अपन पडोसियो की भाषा अपना ली है। उदाहरण के लिये मध्य प्रदेश के भील तथा उत्तर प्रदेश के थारू लोगो की अब अपनी कोई भाषा नही रह गई है तथा वे अपन पडोसी हिंदुओ द्वारा बोली जानेवाली हिंदी भाषा की ही किसी उपभाषा का प्रयोग करते है। इसी प्रकार से दक्षिण भारत मे काफी सख्या मे आदिमजातियाँ अपने पडोसी सभ्य समाज के लोगो द्वारा बाली जाने वाली द्रविड भाषा परिवार की भाषायें तामिल तेलगू क नाड अथवा मलयालम भाषाय अपना चुकी है। इस प्रकार से आदिम जातियो तथा समाजो मे निरन्तर सम्पर्कों के कारण सास्कृतिक समन्वय भी भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे भिन्न भिन्न सीमाओ तक हुआ है। रीति रिवाजो धर्म तथा पहनने ओढने के ढगो और त्योहारो तथा पर्वों के क्षत्र म यह सास्कृतिक समन्वय अधिक दिखाई पडता है। अत भारतवष मे वतमान समय मे जो परिस्थितियाँ है उसम मानव वैज्ञानिका द्वारा अपनाई गई परिभाषा के अनुरूप आदिमजातियाँ बहुत कम सख्या म ही पाई जा सकती हैं। वास्तव मे अधिकाश आदिमजातिया परिवतन की भिन्न भिन्न अवस्था मे है। किन्ही क्षेत्रो मे तो परिवतन का यह क्रम इस सीमा तक पहुच चुका है कि इनका अपना अस्तित्व ही लगभग समाप्तप्राय हो चुका है और व्यावहारिक दृष्टिकोण से वे अपने पडोसी सभ्य समाजा एव सस्कृतियो का ही एक अंग बन चुकी हैं। इसीलिए भारतवष म किसी एक स्पष्ट परिभाषा के आधार पर आदिम जातियो तथा देश के अ य प्रकार क जनसमूहो के बीच अतर स्थापित कर पाना एक कठिन काय है। इसीलिये हमारे देश मे आदिमजातियो के अध्ययन मे ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि परिवतन के जो भिन्न भिन्न स्तर भिन्न भिन्न क्षेत्रो में देखने को मिलते हैं वे

परिवर्तन की लंबी प्रक्रिया के परिणाम हैं। इन प्रक्रियाओं का अध्ययन स्वयं में एक मूल्यवान अध्ययन का विषय है। वास्तविकता तो यह है कि इन अध्ययनों की उपेक्षा और अधिक नहीं की जा सकती। यदि आज हम सचेष्ट होकर इन प्रक्रियाओं का अध्ययन न कर सके तो संभवत आने वाले कुछ ही दशकों मे यह अवसर सदव के लिये हमारे हाथ से निकल जायेगा। क्योंकि देश में औद्योगिक प्रगति एव कल्याणकारी कार्यों का क्रम जिस तीव्रता से चल रहा है उसके अनुसार परिवर्तन की इन प्रक्रियाओ मे अधिक तीव्रता आना अवश्यभावी है।

अनुसूचित आदिमजातियाँ

सन् 1950 मे भारतीय सविधान के अनुच्छेद 16 मे भारतवर्ष की जनसख्या के कुछ विशष वर्गों की चर्चा की गई है। इसी अनुच्छेद की धारा 330 मे उन विशष वर्गों को नामाकित किया गया है जिनके सबध मे इस अनुच्छेद मे कुछ विशेष सुविधाओ की व्यवस्था की गई है। इन विशेष वर्गों को (अ) अनुसूचित जातियाँ तथा (ब) अनुसूचित आदिमजातियाँ कहा गया है। इसी अनुच्छेद की धारा 342 के अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह सावजनिक सूचना के द्वारा समय-समय पर आदिमजातिया अथवा आदिम समुदायो अथवा इनके कुछ भागा अथवा समूहो का अनुसूचित घोषित करे तथा सविधान के उद्देश्यो के लिये इसी घोषणा के आधार पर उन्हे अनुसूचित आदिमजातियाँ कहा जायेगा। इस प्रकार राष्ट्रपति द्वारा घोषित अनुसूचित आदिमजातियो की कुल सख्या लगभग 160 है जिनमे आसाम की अनुसूचित आदिमजातियो को सम्मिलित नहा किया गया है। सविधान के अनुच्छेद 3 मे मौलिक अधिकारो की चर्चा की गई है जिसके अनुसार भारतवष के सभी नागरिको मे धम प्रजाति जाति लिंग तथा स्थान आदि के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नही किया जायेगा। सविधान के इस अनुच्छेद का महत्व आदिमजातियो के सदर्भ मे और भी अधिक बढ जाता है क्याकि भूतकाल मे धर्म प्रजाति एव जन्म स्थान के आधार पर आदिमजातियो मे अत्यधिक भेदभाव किया जाता रहा है। इस प्रकार से अन्य अनेक व्यवस्थाओ के द्वारा ऐसी सुविधायें प्रदान की गइ जिनसे यह आशा की गई कि देश का यह वर्ग शीघ्र ही उन्नत तथा सभ्य समाजो के समकक्ष आ सकेगा तथा सदियो से चले आ रहे सामाजिक अन्याय तथा पक्षपातपूर्ण व्यवहारो से इन्हे छुटकारा मिल सकेगा। स्पष्ट है कि इन

व्यवस्थाओ के लिये अनुसूचित आदिमजातियो की तालिका में केवल उन्हीं समूहों को चुना गया जिनमे इन व्यवस्थाओं की आवश्यकता सबसे अधिक समझी गई। अत संविधान मे प्रयुक्त इस शब्द के अन्तगत भारतवर्ष में हजारो की संख्या मे प्राप्त सभी आदिमजातियो को सम्मिलित नही किया जाता बल्कि यह आदिमजातियों का एक विशेष वर्ग ही कहा जा सकता है।

यद्यपि इस पुस्तक मे उपर्युक्त वर्णित जन समूहो को जिन्हे अंग्रेजी भाषा मे 'ट्राइब' की संज्ञा दी गई है लेखको ने आदिमजाति कहना ही अधिक उपयुक्त समझा है। अपितु हिन्दी भाषा मे इनके लिए अन्य कई और शब्दो का प्रयोग भी भिन्न भिन्न पुस्तको मे पाया जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि समय-समय पर की जाने वाली जनगणनाओ में भिन्न भिन्न आधारो पर अधिकारियो ने विभिन्न शब्दो का प्रयोग किया है। ये सभी शब्द अनेक पुस्तको मे भिन्न भिन्न लेखको द्वारा अपने-अपने औचित्य के अनुसार अपनाये गये हैं। हर्बट रिजले लेसी वेरियर एलविन तथा ठक्कर बापा आदि ने इन जन समूहो को आदिवासी कहना अधिक उपयुक्त समझा। बेन्स ने इन जन समूहों को पर्वतीय कबीला कहा। ग्रिगसन ने इन्हे पर्वतीय कबीला अथवा वन्य कबीले कहा है। स्पष्ट है कि इन दोनो ने इन जन समूहों के अधिकांशत पहाडियों तथा जगली क्षेत्रो में बसे होने को अधिक महत्व दिया। इसी प्रकार टैलेंटस, सेगविच ने इन्हे जीववादी कहना अधिक उपयुक्त माना। यहाँ पर इन समूहो की धार्मिक विशषताओ को महत्व प्रदान किया गया क्योकि अधिकाशत इनके धार्मिक विश्वासो मे आत्मा तथा प्रेतात्मा की मान्यतायें पाई गई और इन विश्वासो को जीवात्मावाद की संज्ञा दी गई। जे० एच० हट्न ने सभवत आर्थिक एव सांस्कृतिक पिछडेपन को अधिक महत्व देते हुए इन समूहो को पिछडे कबीले कहना उचित समझा। घुरे को इनके धार्मिक विश्वासों मे अस्पष्ट रूप से हिंदू विश्वासो का आभास प्रतीत हुआ। इसीलिये इन्होने इन समूहो को पिछडे हिंदू कहा। इस संबध मे कुछ अन्य लेखको के विचारो को प्रस्तुत करना आवश्यक है क्योकि काफी समय तक जनगणना के ब्योरो मे धार्मिक आधार पर ही इन जन समूहो को अन्य वर्गों से पृथक किया जाता रहा है। इसका काफी विरोध हुआ है। इसमे कोई सदेह नही है कि कई विरोध आत्मा तथा प्रेतात्मा में आस्था भरे इनके धार्मिक विश्वासो के कारण हुए। परन्तु अधिकांश लेखकों एव विद्वानो ने इन विश्वासो तथा हिन्दू धर्म मे निहित विश्वासों मे कोई मौलिक अंतर नहीं पाया। उदाहरण के लिए रिजले ने हिंदू धर्म के संबंध मे अपने

विचारों को प्रकट करते हुए कहा है कि, "हिंदू धर्म आर्यीनिकता के आधार पर परिवर्तित जीववाद ही माना जा सकता है जिसमें जादू टोना, आदि की मान्यताओं को तत्व ज्ञान का आवरण दे दिया गया है।" इसी आधार पर रिजले ने कहा कि हिन्दू धर्म तथा जीववाद के मध्य विभाजन रेखा सदैव अस्पष्ट ही पाई जाती है। इसी प्रकार से गेट (जो कि सन् 1911 मे जनगणना आयुक्त थे) तथा सन् 1891 के जनगणना आयुक्त बेन्स ने इन जन समूहो पर हिन्दू धर्म के प्रभाव तथा धीरे-धीरे होते जा रहे हिंदू धर्म के प्रसार का मूल्यांकन करते हुए कहा कि काफी सख्या में इन समूहो के बारे मे यह निश्चित कर पाना अत्यन्त कठिन कार्य है कि कहाँ वे अपना धर्म छोड चुके हैं तथा कहाँ हिंदू धर्म को अपना चुके हैं, क्योंकि दोनो प्रकार के धार्मिक विश्वासो मे किसी प्रकार के विरोधाभास के अभाव मे जीववाद के अन्तर्गत आने वाले विश्वासो के साथ-साथ हिन्दू ब्राह्मणो के प्रति श्रद्धा तथा हिन्दू देवी देवताओं का समावेश अधिकता से पाया जाता है। इन्हीं विचारो के आधार पर कुछ विद्वानो ने धार्मिक आधार को ही महत्व देते हुये इन जन समूहो को पिछडे हिन्दू कहना उचित समझा। जे० एच० हटटन ने इस परिस्थिति को अपने इस कथन से और भी स्पष्ट कर दिया कि आदिवासी धर्म एव धार्मिक विश्वास उन बिखरे हुए इ ट रोडो के समान है जिनको सजोकर एव व्यवस्थित करके हिन्दू विश्वासो के मदिर का निर्माण किया जा सकता है।

मानववैज्ञानिक लेखो मे अक्सर आदिमजातिया को अग्रजी भाषा के केवल 'ट्राइब शब्द से न सबोधित करके प्रिमिटिव ट्राइब शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस 'प्रिमिटिव' शब्द के सलग्न कर देने के सबंध मे आपत्ति की गई है तथा अधिकाश विद्वानो ने इसके औचित्य को निराधार माना है। सामान्यतया प्रिमिटिव शब्द का प्रयोग आदिम सस्कृतियो के लिये एक विशेषण के रूप मे किया जाता है। परन्तु तार्किक दृष्टि से इसका समर्थन नही किया जा सकता। क्योंकि ट्राइब शब्द से सलग्न करने पर यह शब्द ट्राइब की किसी विशेषता का बोध नही कराता। इसके साथ-साथ किसी भी सामाजिक व्यवस्था, रीति रिवाजो अथवा धार्मिक विश्वासो को पिछड़ा कहना उचित नही माना जा सकता है। प्रत्येक सस्कृति एक समाज के व्यक्तियों के रहन-सहन का अपना एक निश्चित दृष्टिकोण निरूपित करती है। संभव है यह दृष्टिकोण हमारे अपने दृष्टिकोण से मेल न खाता हो, अथवा हमारी अपनी मान्यताओ अथवा मूल्यो के विरुद्ध हो। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम उस सस्कृति को हेय दृष्टि से देखें। एक वैज्ञानिक के अनुसार यह

सर्वथा अमान्य है। वास्तविकता तो यह है कि मानव वैज्ञानिक वैज्ञानिक दृष्टि कोण का अनुसरण करते हुये इस शब्द के प्रयोग को अनुचित तो मानते हैं परन्तु 'प्रिमिटिव ट्राइब' शब्द मानव विज्ञान के साहित्य मे इतना अधिक प्रचलित हो चुका है कि इस शब्द को आसानी से छोडा नहीं जा सकता। प्रारम्भिक मानववैज्ञानिक अध्ययन उदविकासवादी मान्यताओ से इतना अधिक प्रभावित थे कि सभ्य कहे जाने वाले समाजो एव सस्कृतियो की तुलना मे इन आदिम समाजो एव सस्कृतियो को अप्रगतिशील अथवा कम प्रगतिशील मानने लगे और इन्ही विचारो से प्रेरित होकर इन समाजो एव सस्कृतियो के लिये 'प्रिमिटिव' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। परन्तु आज जब वैज्ञानिक एव तार्किक कसौटी पर उदविकासवाद का महल ढह चुका है तो इस संदर्भ मे इस शब्द के प्रयोग का कोई औचित्य नही रह गया।

हिन्दू जाति तथा आदिमजाति

आदिमजातियो के अतिरिक्त जाति हमारे देश मे एक दूसरी महत्वपूर्ण सामाजिक श्रेणी है जिसमे देश की जनसख्या के सबसे अधिक लोग सम्मिलित किये जा सकते हैं। इस श्रेणी की चर्चा यहाँ पर करना इसलिये आवश्यक हो जाता है कि परिभाषा एव सामान्य अध्ययनो के आधार पर दोनो प्रकार के समूहो मे काफी सामजस्य मिलता है और इस साम्य को कुछ लेखको ने इतना अधिक महत्व दे दिया कि कही कही पर आदिम जाति तथा जाति शब्दो का प्रयोग पर्यायवाची शब्दो के रूप मे किया गया यद्यपि यह दोनो शब्द सवथा भिन्न प्रकार के जन समूहो के लिये हैं। इसीलिये इन दोनो अवधारणाओ मे अतर स्थापित करना आवश्यक हो जाता है।

एक आदिमजाति की भाँति जाति भी केवल कुछ परिवारो का एक समूह है और उस समूह का भी एक नाम होता है। आदिमजातियो की भाँति जातियाँ भी या तो वास्तव मे एक निश्चित क्षेत्र मे निवास करती हैं अथवा उसमे अपने को सबधित मानती रहती हैं। इसी प्रकार जाति के सदस्य भी अधिकतर एक सी ही भाषा का प्रयोग करते हैं तथा जाति भी एक अतरविवाही सामाजिक समूह है। एक ही जाति के कुछ सदस्य जब किसी दूर के क्षेत्र मे जाकर बस जाते हैं दूसरी भाषा का प्रयोग करने लगते हैं तथा अपने स्वजातियो से उनके सामाजिक सबध तथा सम्पर्क समाप्त हो जाते हैं तो एक नई जाति का निर्माण हो जाता है। इसी प्रकार आदिम

जातियों की भाँति जातियों मे भी उनके सामाजिक नियंत्रण के लिये एक प्रकार का राजनैतिक संगठन पाया जाता है। जातीय पचायतें वास्तव मे जातियो में प्रभावशाली संगठन हुआ करती हैं। कुछ विद्वानों ने आर्थिक आधार पर भेद स्थापित करते हुये यह कहा है कि आदिमजातियाँ आर्थिक दृष्टिकोण से आत्मनिर्भर इकाइयाँ होती हैं जब कि जातियाँ एक बृहद आर्थिक व्यवस्था की उप इकाइयाँ होती हैं। प्रत्येक जाति का अपना एक परम्परागत व्यवसाय माना जाता है जबकि आदिम जातियों मे इस प्रकार की बात नही पाई जाती। मैक्स वेबर ने अपने निबध सोशल स्ट्रक्चर मे चर्चा करते हुए कहा है कि जब एक भारतीय आदिमजाति अपनी क्षेत्रीय सीमाओ का उल्लघन करके अपने को एक निश्चित भूभाग मे सीमित नही रखती तो वह जाति में परिणित हो जाती है। इसके अतिरिक्त उन्होने यह भी कहा है कि जहाँ एक आदिमजाति के अन्तर्गत सदस्यो मे पदो के आधार पर भेद स्थापित किये जा सकते हैं वहाँ एक जाति के सभी सदस्य एक ही सामाजिक स्तर के हुआ करते हैं। वेबर द्वारा बताये गये इन अन्तरो के अतिरिक्त जाति एव आदिमजाति मे एक सामान्य अतर उनके सदस्यो का हिन्दू सस्कारो एव पुरोहितो के प्रति भावना मे पाया जाता है। बहुत सी आदिमजातियो में पडोसी हिन्दुओ के सम्पर्कों के प्रभावो के कारण धार्मिक अनुष्ठानो मे हिन्दू पुरोहितो को मान्यता दी जाती है। इन पुरोहितो के द्वारा अधिकाश अनुष्ठानो को सम्पादित करवाना आवश्यक माना जाता है। परन्तु उनके बीच हिन्दू पुरोहितो की स्थिति सदव बाहरी व्यक्ति (जिसमे उनकी आस्था तो होती है परन्तु जिन्हे वे अपना नही मानते) के समान होती है। परन्तु जातियो के सदस्यो मे अपनत्व की भावना निहित होती है। वे उसे कोई बाहरी व्यक्ति नहीं मानते। ऐसी भी कुछ आदिमजातियाँ हैं जिन्होने लगभग पूर्ण रूप से हिन्दू धर्म एव धार्मिक विश्वासो को अपना लिया है परन्तु पूर्ण रूप से अपने मूल धार्मिक विश्वासो को छोड पाना उनके लिये सभव नहीं हो सका। उदाहरण के लिये मध्य प्रदेश मे कुछ आदिमजातियाँ हैं जिन्होंने पूर्ण रूप से हिन्दू धर्म को अपनाकर अपने को राजपूत कहना शुरू कर दिया है, परन्तु आज भी वे हिन्दू देवी देवताओ की अपेक्षा अपने आदिम विश्वासो के प्रतीक बोंगा में अधिक आस्था रखती हैं और उसके संबध मे उन्हें अधिक जानकारी भी है।

वास्तव में भारत की आदिमजातियो पर अधिकांश क्षेत्रो में जाति की श्रेणी में आने वाले हिन्दू धर्मावलंबियो का सम्पर्क इतना प्रभावशाली

रहा है कि सैकड़ो वर्षों से केवल हिन्दू धर्म के अपनाने की ही नहीं बल्कि आदिमजातियों की जातियों में परिवर्तित होने की प्रक्रियायें भी चलती आ रही हैं। यहाँ तक कि कुछ मानववैज्ञानिकों का तो यह मत है कि जाति व्यवस्था के अन्तर्गत निम्न जातियो (जिन्हे परिगणित जातियाँ भी कहा जाता है) में अधिकाश जातियाँ ऐसी हैं जो कि आदिमजातियो के उन सदस्यों के द्वारा ही निर्मित है जो कि अपनी आदिम व्यवस्था को त्यागकर समय-समय पर हिन्दू जाति व्यवस्था को अपनाते रहे हैं। इस मत की पुष्टि के लिये अक्सर निम्न जाति के सदस्यो तथा आस पास के क्षेत्रो की आदिम-जाति के सदस्यो मे प्रजातीय साम्य के प्रमाण भी प्रस्तुत किये जाते हैं।

आदिमजाति के जाति मे परिवर्तित होने की प्रक्रियाये

जाति तथा आदिमजाति दो भिन्न प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाये हैं। एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का दूसरे प्रकार की सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तित होने की प्रक्रियाओ का अध्ययन एक महत्वपूर्ण अध्ययन का विषय माना जा सकता है। भिन्न भिन्न प्रक्रियाओ के द्वारा यह परिवतन हाते रहे हैं। रिज़ले ने ऐसी चार प्रकार की प्रक्रियाओ का वणन किया है। पहली प्रक्रिया मे किसी आदिमजाति के कुछ व्यक्ति अपने आस पास के क्षत्रो मे स्वतत्र रूप से खेती योग्य जमीन का स्वामित्व प्राप्त कर लेते हैं और तब उसी क्षेत्र की किसी विशेष जाति (साधारण तथा राजपूत) की सदस्यता ग्रहण कर लेने का प्रयास करते है। इसके लिये वे हिन्दू ब्राह्मण पुरोहितो का अपनी उत्पत्ति तथा उच्चवशता के सबध मे कोई कथा अथवा घटना गढने के लिये तयार कर लेते है। ऐसा हो जाने पर तथा ब्राह्मण के ज्ञान तथा उसके कथन मे अन्य लोगो का अत्यधिक विश्वास हाने के कारण अन्य जाति के लोग इस कथन की सत्यता मे विश्वास करने लगते हैं और धीरे धीरे हिंदू जाति व्यवस्था मे उन्हे एक निश्चित स्थान प्राप्त हो जाता है।

दूसरी प्रक्रिया मे आदिमजाति के कुछ लोग अपने धार्मिक रीति रिवाजो को छोडकर हिन्दू धार्मिक रीति रिवाजो पर्वों आदि का अनुसरण करने लगते हैं। धीरे धीरे धार्मिक निकटता के साथ ही साथ वे अपने आदिमजातीय नाम को त्याग कर हिन्दू समाज व्यवस्था में प्रवेश करते हैं। साधारणतया इस प्रक्रिया के द्वारा ऐसे समूहो को हिन्दू जाति व्यवस्था की निम्न श्रेणियो मे ही स्थान प्राप्त हो पाता है और कालान्तर मे वे उस क्षेत्र की हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का एक अग बन जाते हैं और अपनी आदिमजाति से उनका सबध विच्छेद

हो जाता है। तीसरी प्रकार की प्रक्रिया मे एक सम्पूर्ण आदिमजाति अथवा उसका एक बड़ा भाग अपने आदिमजातीय नाम को त्याग कर किसी एक नई जाति के नाम से हिन्दू जाति व्यवस्था का अंग बन जाती है तथा हिंदू धार्मिक एवं सामाजिक रीति रिवाजो को अपनाने लगती है। चौथी प्रकार की प्रक्रिया से कोई सम्पूर्ण आदिमजाति अथवा उसका एक बड़ा भाग धीरे धीरे हिन्दू संस्कारों को अपनाने लगता है। यद्यपि वे पूर्ण रूप से अपने आदिम संस्कारो का परित्याग नहीं करते। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे वे हिंदू समाज व्यवस्था का एक अग बन जाते है। पिछले द्वारा बताई गई इन चार प्रक्रियाओ के अतिरिक्त कभी-कभी किसी आदिमजाति का कोई प्रभावशाली व्यक्ति किसी उच्च जाति का नाम तथा गोत्र अपना लेता है। अपनी व्यक्तिगत धनाढ्यता तथा प्रभाव के आधार पर उस जाति विशेष के अन्य सदस्यों को धीरे-धीरे अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। परिणामस्वरूप कुछ समय के बाद वह व्यक्ति उस जाति विशेष का ही एक सदस्य मान लिया जाता है तथा अपनी आदिमजाति से उसका कोई सबध नही रह जाता। अक्सर यह प्रक्रिया एक अन्य रूप मे भी काय करती देखी जाती है। साधारणतया उन क्षेत्रो मे जहाँ हिन्दू जाति के लोग पडोसियो के रूप मे आदिमजातियो के काफी निकट होते हैं वहाँ आदिमजातियो मे अपने प्रति एक प्रकार की हीनता की भावना विकसित होती रहती है। वे हिन्दू लोगों को एक आदर्श तथा उच्च वग के समुदाय के रूप मे देखने लगते हैं। अत उनमे अपनी हीन स्थिति मे परिवतन की लालसा सदैव बनी रहती है। हिन्दू समाज के ब्राह्मण पुरोहित उनकी इस मानसिक कमजोरी स लाभ उठाने की दृष्टि से इस दिशा मे उनका नेतृत्व करने का तैयार हो जाते हैं। वे उन लोगो मे हिन्दू धार्मिक एव सामाजिक सस्कारो का प्रसार करते हैं जिसके पीछे उनके व्यक्तिगत आर्थिक लाभ की ही भावना निहित रहती है। इस प्रकार से आदिमजातियो तथा उनके पडोसी हिन्दुओ के बीच सामाजिक एव सास्कृतिक अंतर धीरे धीरे कम होते जाते हैं। इन्ही भिन्न भिन्न प्रक्रियाओ के द्वारा भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रो मे काफी समय से आदिमजातियो की सामाजिक व्यवस्था भंग होकर हिन्दू सामाजिक व्यवस्था मे लीन होती रही है। बिहार के पलामऊ तथा उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर क्षेत्र के खरवर आदिमजाति के लोग एक उच्च हिन्दू जाति के सदस्य माने जाने लगे हैं तथा वे उच्च जाति के हिन्दुओं की भाँति यज्ञोपवीत भी धारण करने लगे हैं। इसी प्रकार से पश्चिमी बंगाल के दीनाजपुर का क्षेत्र तथा कूच बिहार जिले मे रहने वाले पोलिया आदिम-

जाति के लोग अपनी उत्पत्ति क्षत्रियो से मानने लगे हैं और अपने को राजवासी कहने लगे हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिमजातीय सामाजिक व्यवस्था एवं जातीय सामाजिक व्यवस्था सामाजिक संगठन के दो भिन्न स्वरूप होते हुये भी एक व्यवस्था का दूसरी व्यवस्था मे परिवर्तन भारतवर्ष मे एक अत्यन्त साधारण प्रक्रिया रही है इसलिये काफी क्षेत्रो मे हमे ऐसे जनसमूह प्राप्त होते हैं जिनका आर्थिक स्तर अत्यन्त पिछडा हुआ होते हुये भी सामाजिक एव धार्मिक आधार पर उन्हे आदिमजातियो की श्रेणी मे नही माना जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि भारतवर्ष मे एक ओर हिन्दू जाति व्यवस्था की उच्च स्तर की जातियाँ तथा दूसरी ओर हिन्दू जाति व्यवस्था से परे आदिमजातियाँ भारतीय सामाजिक व्यवस्था के दो विपरीत ध्रुव माने जा सकते हैं जिनके मध्य मे या तो वे जनसमूह हैं जो कि अपने आदिमजातीय स्तर को त्याग कर हिन्दू जाति व्यवस्था का अग बनने की दिशा मे अग्रसर हुये है अथवा वे जनसमूह हैं जिनका कि हिन्दू जाति व्यवस्था मे किसी समय एक उच्च स्थान रहा है परन्तु नियमानुसार सस्कारो इत्यादि का पालन न कर सकने के कारण उन्हे अपने स्थान से च्युत होना पडता है। फिर भी दोनो प्रकार के जनसमूह इस द्विध्रुवीय मध्यातर मे भिन्न-भिन्न स्तरो वाली जातियो के रूप मे समाविष्ट हैं और यह सब मिलकर भारतवर्ष की जनसख्या के सबसे बडा अश का निर्माण करते हैं।

आदिमजातीय जनगणना सबधी कुछ प्रश्न एव निष्कर्ष

भारतवर्ष मे आदिमजातियो की जनसख्या सबधी आँकडा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण एशिया मे अन्य देशो की तुलना मे भारतवर्ष मे आदिवासियो की जनसख्या सबसे अधिक है। परन्तु यहाँ पर आदिमजातियो से सबधित जनसख्या के आँकडे अधिक विश्वसनीय नही रहे हैं। इस स्थिति के कुछ विशेष कारण हैं। जैसे 1—आदिम जातियो का वर्गीकरण एक कठिन समस्या रही है। 2—सन 1909 के बाद धार्मिक आधार पर वर्गीकृत जनसख्या सबधी आँकडो को प्रस्तुत करने के निश्चय के कारण भिन्न भिन्न धर्म से सबधित लोगों के द्वारा अपने अपने समूहो की सख्या में वृद्धि की चेष्टा की जाने लगी है। इस कुचेष्टा के परिणामस्वरूप जनगणना के अन्य न्यासो की तुलना मे आदिमजातियो से सबधित न्यास सबसे अधिक त्रुटिपूर्ण रहे हैं। इन त्रुटियो के सबध मे सबसे अधिक आलोचना सन् 1941 की

जनगणना के न्यासो से की गई है। श्री एस० चन्द्रशेखर ने 1950 में सन् 1941 की जनगणना के न्यासों की आलोचना करते हुये कहा है कि इस जनगणना में कुछ स्थानों में आदिम जातियों की गणना अछूत जातियों की श्रेणी में की गई है। पिछले बीस वर्षों मे देश की जनसख्या मे जिस प्रकार से वृद्धि होती रही है उसी प्रकार आदिमजातियो की जनसंख्या मे निश्चित रूप से वृद्धि हुई होगी। इस आधार पर देश मे आदिमजातियों की संख्या आसानी से लगभग ढाई करोड मानी जा सकती है।

सन 1931 तथा उससे पूर्व की जनगणनाओ में देश के लोगो को धार्मिक आधार पर वर्गीकृत करते हुये एक सारिणी प्रस्तुत की गई। इसके अतिरिक्त एक अन्य सारिणी मे देश के लोगो को प्रजाति जाति तथा आदिम जातियो के आधार पर वर्गीकृ र किया गया। परन्तु सन् 1941 की जनगणना मे इस व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया गया। इस परिवर्तित व्यवस्था के अन्तगत प्रजाति, जाति आदिमजानि तथा धम से संबधित पूछे गये कुछ प्रश्नो के उत्तरो के आधार पर एक सारिणी मे लोगो को भिन्न भिन्न समुदायो के रूप मे श्रेणीबद्ध किया गया। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप जहाँ सन् 1931 की जनगणना के आधार पर देश मे आदिम जातियो की सख्या 22615708 थी वहाँ सन 1941 की जनगणना मे 25441489 हो गई।

सन 1948 मे आदिमजातियो से सबधित मानव वैज्ञानिको तथा कायकर्ताओ के अधिवेशन मे देश मे आदिवासियो की कुल सख्या लगभग ढाई करोड होने का अनुमान लगाया गया। इस अधिवेशन मे यह भी निश्चित किया गया कि लगभग दो करोड आदिवासी मैदानी क्षत्रो मे निवास करते है और उनका अन्य प्रकार के लोगो से घनिष्ठ सपर्क स्थापित है। केवल 50 लाख ऐसी आदिम जातियो की जनसख्या मानी गई जो अधिकारी तथा निर्जन पर्वतीय क्षेत्रो मे निवास करती हैं। सन 1951 की जनगणना के अनुसार आदिमजातियो की जनसख्या 22 511854 बताई गई जो कि देश की सम्पूण जनसख्या का 5 6 प्रतिशत थी। वास्तव मे मन 1951 की जन गणना मे प्रजाति जाति तथा आदिमजाति सबधी कुछ विशेष प्रश्न उन्ही लोगो से पूंछे गये जिनका उल्लेख सविधान मे अनुसूचित लोगो की तुलना मे किया जा चुका था। ऐसे लोगो को इन्ही प्रश्नो के उत्तरों के आधार पर तीन श्रेणियों अर्थात अनुसूचित जातियाँ अनुसूचित आदिमजातियाँ तथा पिछड़े वर्गों मे इनका विभाजन किया गया। इन तीन वर्गों के अतिरिक्त असम से 198 ऐसी जयराम पेशा आदिमजातियों का उल्लेख भी किया

गया जो किसी समय इस प्रकार के कार्यों मे रत रहा करती थीं परन्तु वे ऐसे छोड दिये थे। इनकी जनसख्या सम्बन्धी आँकडे प्रस्तुत नही किये जा सके। स्पष्ट है कि केवल अनुसूचित तालिका मे सम्मिलित लोगो मे से ही आदिम जातियो की जनसंख्या का निर्धारण किये जाने के फलस्वरूप सन् 1941 की अपेक्षा 1951 की जनसख्या मे आदिम जातियो की सख्या का कम होना स्वाभाविक था। सन 1951 की जनगणना मे यह पाया गया कि किसी भी एक आदिमजाति की जनसख्या कुछ सौ व्यक्तियो से लेकर 20 लाख व्यक्तियो तक थी। कुछ आदिमजातियो की जनसख्या मे पिछले दस वर्षों के समय मे अत्यधिक वृद्धि पाई गई जबकि कुछ आदिम जातियो जो कि अत्यन्त क्षीण साधनो पर निर्भर करती थी की जनसख्या म काफी कमी पाई गई। सन् 1951 की जनगणना के अनुसार अधिक जनसख्या वाली आदिमजातियो मे क्रमानुसार गोड सथाल भील ओराव कोड तथा मुँडा हैं।

सन 1961 तथा 1971 की जनसख्या के आँकडो के अनुसार भारतवर्ष म अनुसूचित आदिमजातियो की सख्या लगभग 3 एव 3 8 करोड पाई गई जो कि देश की सम्पूर्ण जनसख्या का 6 8 एव 7 2 प्रतिशत थी। आर्थिक क्रियाओ के आधार पर निर्धारित 90% आदिमजातियाँ किसी न किसी रूप मे कृषि से सम्बन्धित पाई गई तथा शेष 10% आदिमजातियाँ अन्य प्रकार के श्रम कार्यों पर निर्भर करती थी। सन् 1971 की जनगणना के आधार पर भिन्न भिन्न प्रातो म आदिम जातियो की जनसख्या निम्नलिखित पाई गई है।

तामिलनाडु म प्रात की कुल जनसख्या 4 11 करोड़ थी जिसमे आदिम जातियो की जनसख्या 75 प्रतिशत थी। केरल म 2 12 करोड की कुल जनसख्या म अनुसूचित आदिमजातियो की सख्या 1 25 प्रतिशत थी। मैसूर मे प्रदेश की कुल जनसख्या 2 92 करोड मे आदिमजातियो की सख्या का प्रतिशत 1 25 था। आध्र प्रदेश म 4 34 करोड की कुल सख्या मे 3 80 प्रतिशत आदिम जातियाँ थी।

मध्य भारत के क्षत्रो मे उडीसा मे कुल 2 19 करोड की जनसख्या म अनुसूचित आदिमजातियो की सख्या 24 प्रतिशत थी। मध्य प्रदेश में कुल 4 16 करोड की कुल सख्या मे आदिमजातियो का प्रतिशत 20 था। गुजरात तथा महाराष्ट्र प्रदेशो मे क्रमश लगभग 2 67 एव 5 03 करोड की जनसख्या म आदिमजातियो की जनसख्या लगभग 14 एव 6 प्रतिशत पाई गई। राजस्थान मे लगभग 2 57 करोड़ की जनसख्या मे आदिमजातियो का

प्रतिशत 12 था। पजाब एवं जम्मू तथा काश्मीर मे कोई अनुसूचित आदिमजाति नहीं है। बिहार मे कुल 5 63 करोड की जनसख्या मे अनुसूचित आदिमजातियो का प्रतिशत लगभग 9 था। पश्चिमी बंगाल की कुल जनसख्या 4 44 करोड मे अनुसूचित आदिमजातियो की सख्या 5 6 प्रतिशत थी। अधिक आदिमजातियों वाले प्रांतो मे मध्य प्रदेश बिहार व उड़ीसा के साथ-साथ असम का भी प्रमुख स्थान है। वहाँ 1 46 करोड की कुल जनसख्या मे लगभग 14 प्रतिशत आदिमजातियो के लोग हैं।

पिछली तीन जनगणनाओ के आधार पर विभिन्न प्रातो की आदिवासी जनसख्या का अनुमान अगले पृष्ठ की सारिणी से हो सकता है। पिछले कुछ दशको के आदिमजातियों से सम्बन्धित जनसख्या के आँकडो के अध्ययन मे पता चलता है कि सन् 1911 की जनगणना के बाद से देश की आदिम जातीय जनसख्या मे देश की सामान्य जनसख्या के अनुपात मे वद्धि नही प्रतीत होती है। इस स्थिति के निम्नलिखित कुछ विशेष कारण माने जा सकते हैं।

1–काफी सख्या मे आदिमजातियाँ ऐसे क्षेत्रो म रहती हैं जहाँ मलेरिया का अत्यधिक प्रभाव रहा है। यह क्षत्र वसे भी अस्वास्थ्यकर क्षेत्र हैं। इसके परिणाम स्वरूप मलेरिया तथा अन्य प्रकार के रोगो से यह आदिमजातियाँ सदव ग्रस्त रहती हैं और इन बीमारियो से इनमे मत्यु सख्या अधिक बनी रही है।

2–असम के मैदानी क्षेत्रो मे एव मध्य प्रदेश तथा राजस्थान के क्षेत्रों मे निरन्तर आदिम जातियो का हिन्दू धर्म एव समाज व्यवस्था मे समावेश होता रहा है।

3–असम की लुशाई खासी और जयतिया पहाडिया मे मध्य प्रदेश तथा ट्रावनकोर कोचीन क्षत्रो मे ईसाई धम के प्रसार के कारण आदिम जातियाँ भग होती रही है।

4–सभ्य समाज के सम्पक मे आकर सस्कृतीकरण की प्रक्रिया के द्वारा भी आदिमजातियो का अस्तित्व समाप्त हुआ है और वे सभ्य समाज का अग बनती गई है। उपर्युक्त विवरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि समय-समय पर भिन्न भिन्न प्रकार की नीतियों के अपनाने के कारण जनगणनाओं मे आदिमजातियो की जनसख्या के जो भी आँकड़े प्रस्तुत किये जाते रहे हैं उनसे देश की आदिमजातियो की संख्या का ठीक-ठीक अदाज सही लग पाता। सन् 1951 के बाद से केवल अनुसूचित आदिमजातियो को ही आदिम

1951 1961 तथा 1971 की जनगणना से उपलब्ध विभिन्न प्रातो एव केन्द्रशासित प्रदेशो में आदिवासी जनसख्या

प्रात एव केंद्रशासित प्रदेश	1951	1961	1971
भारत (कुल आदिवासी जनसख्या)	22 511 854	30 172 221	38 015 162
आध्र प्रदेश	1 149 919	1 324 368	1 657 637
असम	1 554 801	2 064 816	1 919 947
बिहार	3 880 097	4 204,984	4 932,767
पश्चिमी बगाल	1 566 868	2 054,281	2,532 969
उडीसा	3 009 580	4 223 757	5 071 937
उत्तर प्रदेश	1967 से पूव कोई आंकडे उपलब्ध नही		198 565
पजाब	2 661	14 132	———
हिमांचल प्रदेश	27 928	108 194	141 610
राजस्थान	1 774 278	2,351 470	3 125 506
गुजरात	2 092 556	2 754 446	3 734 422

मध्य प्रदेश	4 844 123	6 678 410	8,387 403
महाराष्ट्र	1 650 852	2 397 159	2,954,249
कर्नाटक	80 402	192 096	231,268
तमिलनाडु	136 376	251 991	311 515
केरल	137 757	212 762	269 356
मेघालय	———	———	814 230
नागालैंड	206 633	343 697	457 602
केन्द्र शासित प्रदेश			
अंडमान एवं निकोबार द्वीपसमूह	———	14 122	18,102
लकादीव मिनिक्वाय एवं अमीनदीवी द्वीपसमूह	13,486	23 391	29,540
मणीपुर	194 239	249 049	334 466
त्रिपुरा	192 293	360 070	450,544
दादरा एवं नगर हवेली	———	51 259	64,445
अरुणांचल प्रदेश	———	298 167	369,408
गोवा, दमन एवं दीव	1968 से पूर्व कोई आंकडे उपलब्ध नही		7 654

जातियो की श्रेणी मे सम्मिलित किया गया । इसके परिणामस्वरूप काफी सख्या मे ऐसी आदिमजातियो को अन्य वर्गों में सम्मिलित किया गया है जो वास्तव मे आदिमजातीय अवस्था मे हैं परन्तु सविधान मे उन्हे अनुसूचित आदिमजातियो की तालिका मे स्थान नही प्राप्त हो पाया । इस दृष्टिकोण से सन् 1961 की जनगणना मे भी आदिमजातियो की जो जनसंख्या बताई गइ है वह भी त्रुटिपूर्ण ही मानी जा सकती है । अनुसूचित जातियाँ देश की सभी आदिमजातियो का प्रतिनिधित्व नही कर सकती ।

● ●

2

भारत के आदिवासियो का वर्गीकरण

वर्ण विभेद के प्रति आक्रोश बीसवी शताब्दी के जीवन दशन की विशेषता है। किन्तु बिलकुल इसके विपरीत वर्गीकरण इसी शताब्दी मे एक ठोस वैज्ञानिक प्रणाली के रूप मे उभर कर सामने आया है। मानव विज्ञान मे भी आदिम समुदायों के अध्ययनो मे इसी प्रणाली का अनुसरण किया गया है। अत विभिन्न आधारों पर आदिम समुदायों का वर्गीकरण वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से महत्वपूर्ण है।

वर्गीकरण वैज्ञानिक अध्ययन की आधारशिला होती है। किसी भी ऐसे विषय के वैज्ञानिक अध्ययन मे जहाँ विविधताओ मे समानतायें निहित होती हैं, वर्गीकरण के द्वारा ही इन समानताओ का निरीक्षण एव उनकी विवेचना सुलभ हो जाती है। आदिवासियो के अध्ययन मे भी इसी दृष्टिकोण से वर्गीकरण आवश्यक हो जाता है। भारतवष के आदिवासियो के अध्ययन मे यह विशेष रूप से आवश्यक हो जाता है क्योंकि ससार के किसी एक देश की अपेक्षा भारतवष जसे विशाल देश मे आदिवासियों मे विविधता का रूप कही अधिक पाया जाता है। वैसे तो भारत जैसे विशाल देश में सभी आदिवासियो का अध्ययन कर पाना कठिन काय है परन्तु भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे बसने वाले जिन आदिवासियो के सम्बन्ध मे अध्ययन किये जा चुके हैं उनके आधार पर स्पष्ट रूप से कछ आधारो पर वर्गीकरण किये जा सकते हैं। इस अध्याय मे विभिन्न सम्भव आधारो मे से कुछ आधारो पर भारतीय आदि वासिया का वर्गीकरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

भारतवष एक विशाल भूखण्ड है जिसमे भिन्न भिन्न क्षेत्रो की भौगोलिक परिस्थितिया उन क्षेत्रो मे बसने वाले लोगो के सामाजिक एव सास्कृतिक जीवन को प्रभावित करती हैं। सभ्य समाजो की तुलना मे आदिवासियो का जीवन इन परिस्थितियो से कही अधिक प्रभावित होता है क्योंकि आदिवासी सभ्य लागो की अपेक्षा प्रकृति के अधिक निकट होते हैं। अत भौगोलिक परिस्थितिया प्राकृतिक कारको के रूप मे उनके दैनिक जीवन को अधिक प्रभावित करती है। परिणामस्वरूप किसी क्षेत्र विशेष मे बसने वाले आदिवासियो मे कुछ सामाजिक-सास्कृतिक एव आर्थिक समरूपताएँ उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त भारतीय भूखण्ड का प्राकृतिक विभाजन स्वय एक ऐसा आधार हो जाता है जिसके अनुरूप भिन्न भि न क्षेत्रो मे निवास करने के आधार पर भी वर्गीकरण करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार से भारतीय आदिवासियो मे निहित प्रजातीय विषमतायें भी इतनी महत्वपूर्ण है कि इस दृष्टिकोण से भी आदिवासियो की विवेचना आवश्यक हो जाती है। भारतवष के प्रागैतिहासिक अध्ययनो से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रागैतिहासिक काल मे ही भारतवर्ष मूल रूप मे एक दूसरे से भिन्न पाषाणकालीन सस्कृतियो का केन्द्र रहा है। यद्यपि ककालिक साक्षियो के अभाव मे इन प्रागैनिहासिक सस्कृतियो के कर्णधारो के प्रजातीय लक्षणो के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है फिर भी अधिक सभावना इसी बात की मानी जाती है कि उत्तर भारत मे सोहन सस्कृति परम्परा' एव

दक्षिणी भारत में 'मद्रासी संस्कृति' से सम्बन्धित सांस्कृतिक परम्पराओं के जन्मदाता भिन्न प्रजातीय वर्गों के रहे होंगे। कालान्तर मे समय-समय पर भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे भिन्न-भिन्न प्रजातीय तत्वों का समावेश होता रहा। आदिवासियो की गणना देश के वर्तमान निवासियो मे सबसे प्राचीन निवासियो मे की जाती है। सन् 1947 मे देश के विभाजन के पूर्व भारतवर्ष का उत्तर पश्चिमी सीमान्त एक ऐसा प्रदेश था जहा आदिवासियो की सख्या काफी अधिक थी तथा उस क्षेत्र के अधिकाश आदिवासियो के सम्बन्ध में समुचित सूचनायें भी उपलब्ध थी। परन्तु विभाजन के उपरान्त यह सम्पूर्ण प्रदेश पाकिस्तान का अंग बन चुका है। अत वर्तमान स्थिति मे इनकी गणना भारतीय क्षेत्र मे नही की जा सकती। भारतवर्ष के भौतिक मानचित्र को देखते हुए तथा भारतीय भूभाग पर जनजातियो के वितरण को ध्यान में रखते हुए हम देखते है कि आदिवासी जनसख्या तथा भिन्न भिन्न उन भौगोलिक क्षेत्रो (जिनमे आदिवासी निवास करते हैं) मे एक घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है तथा इसी आधार पर उनके भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे उन्हें वर्गीकृत किया जा सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि आदिवासियों मे निहित विषमतायें हमारे देश मे इतनी अधिक है कि उनको एक अथवा केवल कुछ विषमताओ के आधार पर वर्गीकृत करना कठिन काय है। भारतीय अनुसूचित जातियो तथा आदिम जातियो के द्वितीय आयुक्त ने आदिवासियो की सवैधानिक सीमित परिभाषा की सीमा से बाहर एक व्यापक आधार पर समस्त आदिवासियो के वर्गीकरण से सम्बधित कुछ माय आधारो के चुनने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य से उन्होने भिन्न भिन्न राज्यो की सरकारो को उन आदिवासी समाजो की विशेषताओ के सम्बध मे सूचित करने का आदेश दिया जिनके आधार पर, उनके मतानुसार, उनके राज्यो मे आदिवासी तथा सभ्य लोगो मे सरलता से अन्तर स्थापित किया जा सकता है। इस सम्बध मे भिन्न भिन्न राज्यो से जो सूचनायें उन्हे प्राप्त हुई वे इस प्रकार से थी

असम राज्य की सरकार ने मगोलायड प्रजाति के लक्षण तिब्बती-बर्मी भाषा परिवार की उप भाषाओ का बोलना तथा सामाजिक सगठन मे ग्राम स्तर पर गण के अनुरूप सामाजिक इकाइयों का होना प्रमुख लक्षण बताया।

महाराष्ट्र राज्य सरकार ने जगली तथा पहाडी निर्जन स्थानो में निवास को प्राथमिकता दी।

मध्य प्रदेश राज्य सरकार ने इन लोगो की आदिमजातीय उत्पत्ति, जगली

क्षेत्रों मे निवास तथा आदिमजातीय भाषा के प्रयोग को मुख्य लक्षण बताया।

तमिलनाडु राज्य सरकार ने आर्थिक पिछड़ापन घने जंगलों तथा निर्जन पर्वतीय प्रदेशो मे निवास तथा अपने स भिन्न प्रकार के लोगों से संपर्क में न होना आदि लक्षणों की चर्चा की।

उडीसा राज्य सरकार ने 'पूव द्रविण तथा 'मंगोलायड प्रजातीय लक्षणो को आदिवासियो की विशेषता बताया।

पश्चिमी बगाल राज्य ने आदिवासी उत्पत्ति तथा जंगलो में निवास को प्राथमिकता दी।

आध्र राज्य सरकार ने जगलो मे निवास जीवात्मावाद से सबधित धार्मिक विश्वासो तथा मुख्यत शिकार तथा सग्रहण पर आधारित अथव्यवस्था को अधिक महत्वपूण बताया।

उपर्युक्त विवरण से देश के भिन्न भिन्न क्षत्रो तथा राज्यो मे रहने वाले आदिवासियो मे व्याप्त विषमताओ एव समानताओ का आभास हो जाता है। इन सभी सूचनाओ के आधार पर कछ ऐसे महत्वपूण आधार उभर कर सामने आ जाते है जिनकी सीमाओ म पूरे देश के आदिवासियो को वर्गीकृत करना सभव हो पाता है। मुख्यत ऐसे पाँच आधार हो सकते हैं—

(1) भौगोलिक (2) प्रजातीय (3) भाषागत (4) सास्कृतिक (5) आर्थिक।

इस अध्याय मे इनमे से प्रथम तीन आधारो को ध्यान मे रखते हुए भारतीय आदिवासियो को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया गया है।

आदिवासियो का भौगोलिक वर्गीकरण

सपूर्ण भारतवष में अधिक सख्या मे आदिवासी लोग घने जगलो तथा निजन पवतीय प्रदेशो मे ही निवास करते हैं। यद्यपि स्वतत्रता प्राप्ति के पिछले 25 वर्षों मे देश मे आवागमन के साधनो तथा परिवहन इत्यादि के क्षेत्र मे काफी विकास हुआ है फिर भी आदिवासी क्षेत्र अधिकाशत उपेक्षित ही रहे हैं और इनके क्षत्रो मे आवागमन के साधन तथा सडकें इत्यादि अभी भी पर्याप्त नही हैं। यही कारण है कि इनके क्षेत्रो में जनसंख्या देश के अन्य क्षेत्रो की तुलना मे बहुत ही कम है तथा क्षेत्रफल को देखते हुए ये क्षेत्र घने बसे हुये नही हैं। सबसे अधिक सख्या मे आदिवासियो के निवास के दृष्टिकोण से पूर्व मे सतपुणा पर्वत शृखला से लेकर विन्ध्याचल पर्वत शृंखला तक एवं मध्य भारत के दक्षिण मे स्थित पठारी भाग को सम्मिलित करते हुए गुजरात की

पूर्वी सीमाओं तक फैला हुआ क्षेत्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र के बाद आदिवासी जनसंख्या की दृष्टि से असम प्रदेश महत्वपूर्ण माना जा सकता है जिसमे नागालैंड, मनीपुर, त्रिपुरा तथा उत्तर पूर्वी सीमान्त के समस्त आदिवासियों को सम्मिलित किया जाता है। आदिवासी जनसंख्या के दृष्टिकोण से तीसरा भौगोलिक क्षेत्र दक्षिण भारत का पठारी भाग है। कृष्णा नदी के दक्षिण मे स्थित इस पूरे अचल मे तटीय घाटो के घने जंगलो तथा पहाडी स्थलो मे अधिकांश आदिवासी रहते हैं। वाइनाड से लेकर सुदूर दक्षिण मे स्थित कुमारी अतरीप प्रदेश तक पूरे क्षेत्र मे काफी सख्या मे इस क्षेत्र के आदिवासी निवासी रहते हैं। जनसख्या की दृष्टि से भले ही यह क्षेत्र प्रथम श्रेणी मे न आ सके परन्तु इस क्षेत्र के आदिवासियो की विशेषता यह है कि इनमे स कुछ आदिवासी भारत के सर्वाधिक प्राचीन निवासी माने जाते हैं तथा रहन-सहन तथा आर्थिक सगठन के आधार पर उनकी गणना ससार के अत्यन्त पिछड़े हुए लोगो मे की जा सकती है।

इन तीन प्रमुख भौगोलिक क्षत्रो के आधार पर बी० एस० गुहा ने भारतीय आदिवासियो को तीन प्रमुख वर्गों मे बांटने का प्रयत्न किया है।

1—उत्तर तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्र

उत्तर से दक्षिण की ओर चलते हुए उन्होने प्रथम वर्ग म भारत के उत्तर तथा उत्तर पूर्वी अचलो म बसने वाली आदिमजातियो को सम्मिलित किया है। यह पूरा भौगोलिक प्रदेश पर्वत शृखलाओ से घिरा हुआ है। इन्ही पवतो तथा घाटियो मे इस क्षत्र के आदिवासी निवास करते हैं। इस क्षेत्र का उत्तर पूर्वी भाग सुदूर बर्मा की सीमाओ से मिला हुआ है। दक्षिण की ओर यह क्षेत्र लगभग 31 7 अक्षाश से लेकर 35 0 अक्षाश तक फला हुआ है। पश्चिमी सीमाओ की ओर 23 30 से लेकर 28 0′ अक्षाशो तथा पूव की ओर 77 33 पूर्व से लेकर 97 0 पूर्व तक फैला हुआ है। इस क्षत्र के पूर्वी भाग मे मुख्य रूप से असम मनीपुर तथा त्रिपुरा के आदिवासियो को सम्मिलित किया जा सकता है। उत्तरी भाग मे मुख्य रूप से पूर्वी काश्मीर, पूर्वी पजाब, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तरी उत्तर प्रदेश के आदिवासी आते है। बलिपुर, अबोर तथा मिश्मी पहाड़ियो के प्रशासकीय जिलो के अतगत आने वाले असम और तिब्बत के बीच के क्षेत्रो मे रहने वाली आदिमजातियो मे सुबनसिरी नदी के पश्चिम मे अका, डाफला, मिरी तथा आपातानी और डिहोग घाटी में गलोग, मिनयोग, पासी, पदम इत्यादि आदिवासी मुख्य हैं डिबोग तथा

लोहित नदियो के बीच मे स्थित उच्च पर्वत श्रृंखलाओं पर मिश्मी लोग रहते हैं । और अधिक पूर्व के पहाड़ी तथा घाटियो के क्षेत्रों में नागा, खाम्टी तथा सिंहपो लोग निवास करते हैं । इन नागा आदिवासियो को प्रमुख रूप से पांच समूहो में विभाजित किया जा सकता है—उत्तर मे रंगपन और कोन्याक नागा पश्चिम मे रेंग्मा सेमा तथा अगामी नागा मध्य क्षेत्र मे आओ, ल्होटा फोम इत्यादि, दक्षिण मे कबुई और पूर्वी क्षेत्रो मे तखुल तथा काल्यो केगु नागा । इन नागा पहाड़ियो के दक्षिण मे मणिपुर त्रिपुरा तथा चिटगांव के पर्वतीय प्रदेशो से लेकर बर्मा की अराकान पहाड़ियो तक के विस्तृत क्षेत्रों मे कुकी लुशाई तथा लाखेर आदि आदिवासी रहते हैं ।

हिमालय से लगे हुए पर्वतीय प्रदेशों दार्जिलिंग के उत्तरी भागों तथा सिक्किम प्रदेश मे भी कई आदिमजातिया रहती हैं जिनमे लेपचा अत्यन्त महत्वपूण है । उत्तर भारत म हिमालय की तराई के काफी क्षेत्र उत्तर प्रदेश की सीमा मे भी आते हैं । इसके अतिरिक्त हिमाचल प्रदेश का क्षेत्र भी आदि वासियो के दृष्टिकोण से महत्वपूण है और वह भी इसी भौगोलिक क्षेत्र मे सम्मिलित किया जा सकता है । इन क्षेत्रो के प्रमुख आदिवासियो मे विशेष रूप से जौनसारी भोटिया थारू, खम्पा कनोटा आदि उल्लेखनीय है ।

यह सपूण भौगोलिक क्षेत्र यद्यपि क्षत्रफल के दृष्टिकोण से अत्यन्त विस्तृत है किन्तु आबादी अपेक्षाकृत अधिक घनी नही है । सास्कृतिक आधार की अपेक्षा प्रजातीय आधार पर इस सारे क्षत्र मे बसने वाली आदिमजातियो मे कुछ अधिक समीपता पाई जाती है क्योकि लगभग सभी आदिवासियो मे मगालीय प्रजातीय लक्षण अधिक स्पष्ट हैं । जिस सीमा तक भौगोलिक कारको का सास्कृतिक प्रतिरूप के निर्माण मे योगदान होता है उस सीमा तक इनमे कुछ सास्कृतिक समानतायें भी पाई जाती हैं । यह एक भौगोलिक समानता का ही परिणाम है कि इस वग की अधिकाश आदिमजातियां या तो झूम पद्धति से अथवा सीढीनुमा पहाड़ियों मे खेती-बाडी करती हैं । पर्वतीय प्रदेश एव कठिन परिस्थितियो के होने के कारण आर्थिक पिछड़ापन तथा गरीबी सभी आदिमजातियो में पाई जाती है । फिर भी कुछ जन जातियां जैसे खासी तथा आपातानी आदि ऐसी हैं जिन्होने अपने सीमित ज्ञान तथा साधनो के होते हुए भी खेती बाडी के क्षेत्र मे अनुकरणीय प्रगति की है तथा अपने आर्थिक स्तर को सुधारने मे सफल हुए हैं । उत्तर पूर्वी भारत के अधि काश आदिवासियो मे छोटे करघो पर बुनाई का काम अत्यन्त समुन्नत दशा में पाया जाता है । अपने स्थानीय जगलो से ही भिन्न भिन्न पदार्थों से रंगों

को प्राप्त कर रंगीन वस्त्रों को बड़े ही कलात्मक ढंग से बनाने की कला पाई जाती है। कपास की खेती वे स्वयं करते हैं तथा अपनी इस उत्पादन क्रिया में लगभग पूर्ण रूप से स्वावलंबी है। सामाजिक क्षेत्र में भी समानतायें स्पष्ट प्रतीत होती हैं। मातसत्तात्मक समाज इस क्षेत्र की विशेषता है तथा इस सामाजिक व्यवस्था का पूर्ण विकास हमें खासी तथा गारो आदिवासियों मे मिलता है।

2—मध्यवर्ती क्षेत्र

भारत के मध्य भाग मे स्थित यह विस्तृत क्षेत्र उत्तर तथा उत्तर पूर्व में पर्वतीय क्षेत्र तथा दक्षिण मे कृष्णा गोदावरी तथा नर्मदा की सीमाओ के मध्य का क्षेत्र है जिसे सिंधु तथा गगा के मैदान का प्रदेश कहा जाता है। मोटे तौर पर यह सम्पूर्ण क्षेत्र उत्तर मे 20 0 एव 25 0′ अक्षाशो पूर्व मे 73 0 तथा 90 0 अक्षाशों के बीच का प्रदेश माना जा सकता है। इस क्षेत्र के अधिकाश आदिवासी मध्यवर्ती भारत की उन प्राचीन पहाड़ियो तथा पठारो मे रहते हैं जो कि दक्षिण भारत को सिंधु गगा के मैदान से पृथक करते हैं। मध्य प्रदेश को केन्द्र मानते हुए उत्तर प्रदेश, मध्य भारत, आध्र प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान उत्तरी महाराष्ट्र इत्यादि प्रदेशो के अधिकांश क्षेत्र विभिन्न दिशाओ मे इस सम्पूर्ण क्षेत्र की सीमाये निर्धारित करते हैं। पूर्व मे उडीसा तथा पूर्वी घाट के क्षेत्रो से आरम्भ करते हुए इस क्षेत्र मे सवरा गडबा तथा बोदो आदिम जातियां उडीसा के गजम जिले के जगलो से ढके हुए पर्वतीय प्रदेशो मे निवास करती हैं। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र मे सम्मिलित की जाने वाली तथा उडीसा प्रदेश मे ही रहने वाली अन्य महत्वपूर्ण आदिमजातिया जुआग, खरिया, खाड तथा भूमिज इत्यादि हैं। मुडा ओरॉव, सथाल, हो तथा बिरहोर आदिमजातिया छोटा नागपुर के पठारो मे रहती हैं और पश्चिम की ओर जाने पर विन्ध्याचल श्रेणियो के पहाडी प्रदेश मे कोल, भील आदिवासी प्रमुख है। भील लोगो का प्रसार और भी पश्चिम मे अरावली पर्वत श्रेणियो तक पाया जाता है। इस क्षेत्र मे रहने वाली आदिमजातियो मे सबसे अधिक जनसंख्या गोड लोगो की है। जिस सम्पूर्ण क्षेत्र मे यह आदिमजाति फैली हुई है उसे गोडवाना प्रदेश कहा जाता है। यह गोडवाना प्रदेश दक्षिण मे हैदराबाद तथा उससे मिले हुए कांकर तथा बस्तर प्रदेश तक फैला हुआ है।

सतपुडा पर्वत श्रृंखला के दोनो ओर तथा मैकल पहाड़ियो के चारो ओर भी इसी प्रकार व्यापक रूप से आदिवासी रहते हैं जिनमे विशेष रूप से

राजगोंड, गोंड, कोरकू, अगारिया, परधान बैगा आदि उल्लेखनीय हैं। बस्तर प्रदेश की पहाड़ियों में कुछ महत्वपूर्ण आदिम जातियां जैसे मुरिया, पहाड़ी माड़िया तथा इन्द्रावती घाटी के सींग लगाने वाले माड़िया हैं।

इस सम्पूर्ण क्षेत्र के आदिवासी साधारणतया दक्षिणी तथा उत्तरी क्षेत्र के आदिवासियों की अपेक्षा अधिक समुन्नत हैं। अधिकांशत स्थान परिवर्ती खेतीबाडी उनकी जीविका का मुख्य आधार है। परन्तु ओरांव, संथाल, मुंडा तथा गोंड लोगो ने अपने पडोसी सभ्य लोगो के सम्पर्क में आकर उन्ही के समान हल के द्वारा खेती करना भी सीख लिया है और किसी भी दशा में सभ्य लोगो की तुलना मे उन्हे निम्न कोटि का कृषक नही माना जा सकता है।

3—दक्षिणी क्षेत्र

आदिवासी जनसख्या से भरपूर तीसरा क्षेत्र दक्षिण भारत का वह क्षेत्र है जो कि कृष्णा नदी के दक्षिणी भाग मे फैला हुआ है। मोटे तौर पर यह सम्पूर्ण क्षेत्र 80 0′ उत्तर तथा 20 0′ उ० तथा 75′ पूर्व और 85 0′ पूर्व अक्षाशों के बीच बसा हुआ है। आध्र प्रदेश कर्नाटक, कुर्ग, त्रिवाकुर कोचीन तथा तमिलनाडु आदि इस क्षेत्र मे सम्मिलित किये गये हैं। वाइनाड से कुमारी अतरीप तक फैले हुए पश्चिमी घाटो के सुदूर दक्षिणी भाग मे इस क्षेत्र की कतिपय अत्यन्त महत्वपूर्ण आदिमजातिया निवास करती हैं। इस क्षेत्र मे बसने वाले आदिवासियो की गणना देश के अत्यन्त प्राचीन लोगो मे की जाती है।

इस क्षेत्र के उत्तरी पूर्वी भाग से प्रारम्भ करते हुए आध्र प्रदेश के चेंचू लोगो का उल्लेख किया जा सकता है। यह लोग प्रमुख रूप से कृष्णा नदी के दक्षिण मे नल्लामलाई पहाडियो पर बसे हुए हैं। पश्चिमी घाट के किनारे किनारे कुर्ग की पहाड़ियो की निचली ढलानो पर बसने वाली प्रमुख आदिमजातिया इरूल पणियन तथा कुरूम्ब हैं। इसके अतिरिक्त कोचीन तथा त्रिवाकुर की पहाडियो से लेकर कुमारी अतरीप तक निर्जन जगलो मे रहने वाली काडर कणिक्कर, मलपतरम इत्यादि देश की प्राचीन तथा आर्थिक सगठन की दृष्टि से ससार की अत्यन्त पिछडी हुई आदिमजातियां मानी गई हैं।

एक अन्य आदिवासियो का समूह नीलगिरी पहाडियो मे रहने वाले टोडा, बडगा तथा कोटा लोगो का है जिनका इस पूरे दक्षिण भारतीय क्षेत्र

की आदिमजातियों में आर्थिक दृष्टिकोण से अपना एक अलग ही अस्तित्व है। इनको छोड़ कर बाकी सभी आदिवासियो का मूल आधार आखेट तथा खाद्य पदार्थों का संकलन है तथा पूर्ण रूप से इनमें सामुदायिक जीवन का विकास अभी नही हो पाया है। खोदने की लकड़ी तथा नुकीली कील जैसे अत्यन्त सरल रचना वाले उपकरणो की सहायता से यह खाने योग्य कदमूल तथा शहद इत्यादि का संग्रह करते हैं तथा छोटे-छोटे जन्तुओं तथा पक्षियों इत्यादि का शिकार करते हैं।

यद्यपि गुहा ने अपने इस वर्गीकरण मे अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूहो मे बसने वाले आदिवासियो का पृथक रूप से कोई उल्लेख नहीं किया है, फिर भी अनेक दृष्टिकोणों से इन द्वीप समूहो मे रहने वाले आदिवासियो का एक चौथा वर्ग माना जा सकता है। भौगोलिक आधार पर इन द्वीप समूहों का क्षेत्र भारतीय भू भाग से पृथक है किन्तु राजनीतिक आधार पर वे हमारे राष्ट्र के ही अग हैं तथा इस क्षेत्र की विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण इस द्वीप समूह के आदिवासियो मे कुछ आर्थिक एवं सास्कृतिक विशेषताओं का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इन द्वीप समूहो के आदिवासियो को भाषा एव सांस्कृतिक दृष्टि से कई वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। एक तो दक्षिणी अण्डमान के आंतरिक भागो मे जरावा लोगो को छोड कर अण्डमान द्वीप समूह के बडे-बडे द्वीपो के सभी आदिवासी तथा दूसरे ओज, जरावा तथा सेण्टिनली वर्ग। ओज लोग छोटे अण्डमान द्वीप मे जरावा लोग मुख्य रूप से दक्षिणी अण्डमान के आंतरिक भाग मे तथा सेण्टिनली लोग सम्भवत जरावा जाति के वे लोग हैं जो कि किसी समय अपने मूल स्थान को छोड कर उत्तर सेण्टिनली द्वीप मे जा बसे थे। प्रजातीय आधार पर दक्षिण भारत के आदिवासियों तथा इनमें अधिक समानतायें पाई जाती हैं।

श्यामा चरण दुबे ने भारतीय आदिवासियो के भौगोलिक वर्गीकरण को एक अन्य प्रकार से प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार इन्हें चार प्रमुख वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।

1—उत्तर तथा उत्तर पूर्व क्षेत्र

2—मध्य क्षेत्र

3—पश्चिमी क्षेत्र

4—दक्षिणी क्षेत्र

पश्चिमी क्षेत्र मे सह्याद्रि के आदिवासी जैसे वार्ली, कतकरी, महादेव, कोली तथा भील आदि आदिवासियों के कतिपय समूह आते हैं। गुहा के

वर्गीकरण मे इस समूह को मध्य क्षेत्र मे ही माना गया है। इसके अतिरिक्त दुबे के शेष तीन वर्गों तथा गुहा के तीनो वर्गों मे कोई विशेष अंतर नहीं मालूम पडता।

भारतीय आदिवासियो का प्रजातीय वर्गीकरण

वैज्ञानिको की धारणा है कि सभी मानव प्रजातिया एक ही प्राणि शास्त्रीय स्पिशीज मे सम्मिलित ह। वास्तव म बाह्य रूप से मानव शरीर पर दिखाई पडने वाले त्वचा के रग कद, सिर की बनावट बालो के स्वरूप, रक्त के कुछ रासायनिक गुण इत्यादि के आधार पर मानव जनसमूहो मे जो विविधता दिखलाई पडती ह इमके अतरतम मे कुछ निश्चित समानतायें भी निहित हैं जो कि मानव मात्र को एक ही प्राणिशास्त्रीय स्पिशीज मे सीमित कर देती ह। बाह्य रूप से दिखलाई पडन वाले यही शारीरिक लक्षण जो वशानुक्रम के द्वारा पीढी दर पीढी हस्तातरित होते रहते है प्रजाति के आधार होते हैं। मानव जनसमूहो मे इन लक्षणो के आधार पर जो अतर पाये जाते हैं ये अतर कुछ कारको के कारण सदव उत्प न हाते रहते है। उदाहरण के लिए विवाह से सम्ब धित हमारे सामाजिक प्रतिबध बहिर्विवाह अतर्विवाह सौदर्य सम्बन्धित हमारी रुचिया आदि हमारे ववाहिक क्षेत्र का सीमित करते रहते हैं। साधारणतया किसी भी समूह के अधिकाश सदस्य एक निश्चित पर्यावरण मे ही पीढियो तक सीमित रहते ह। इन सभी प्रक्रियाओ के कारण प्रत्येक जनसमूह के सदस्यो के इन लक्षणो की प्रवत्ति एक निश्चित दिशा की ओर केन्द्रित होती रहती है। परिणाम स्वरूप भिन्न भि न क्षत्रो मे बसने वाले विभिन्न जनसमूहो मे एक विशिष्ट एकरूपता आती जाती है तथा उनमे परस्पर ये अतर अधिक स्पष्ट होते जाते है। इ ही विशिष्ट शारीरिक लक्षणो से प्रस्फुटित एकरूपता को प्रजाति कहा जाता है।

भि न भिन्न भौगोलिक क्षत्रो मे बसे हुए भारतीय आदिवासी जनसमूह ज म ज मान्तर से एक विशिष्ठ पर्यावरण मे रहते चले आ रहे हैं तथा अपने अपने पर्यावरण के प्रभावो से उ हाने अनुकूलन स्थापित कर लिया है। प्रत्येक आदिमजाति एक अत विवाही समूह होती है अत अधिकतर आदिवासियो के वैवाहिक सम्बन्ध अपने समूह तक ही सीमित रहते हैं। वैसे तो प्रत्येक आदिम जाति के शारीरिक लक्षणो मे दूसरी आदिमजाति से तुलना करने पर कुछ न कुछ अतर अवश्य पाये जाते हैं पर तु एक क्षत्र विशेष से बसने वाली विभि न आदिमजातियो मे प्रजातीय आधार पर कुछ समानतायें भी प्राप्त होती हैं। इ ही समानताओ के आधार पर उनका प्रजातीय वर्गीकरण कर पाना सम्भव

है । प्रजातीय आधार पर वर्गीकरण के द्वारा कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आ जाते हैं जिनसे एक वर्ग विशेष में आने वाली आदिम जातियो का संबंध वृहद मानव प्रजातीय वर्ग से स्थापित किया जा सकता है । इन संबंधो के अध्ययन से उनकी उत्पत्ति तथा सम्भावित मूल निवास के संबंध मे ज्ञान होता है । आदिवासियों को देश का प्राचीनतम निवासी माना गया है । प्रजातीय वर्गीकरण इन मूल निवासियो की गतिविधियों के संबंध में हमें ठोस तथ्य प्रदान करता है । प्रागैतिहासिक काल में अपनी प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति तथा सुरक्षा के दृष्टिकोण से मनुष्य ने अपनी गतिशीलता को सीमित रखा परन्तु कालांतर मे साधनो की उत्पत्ति एवं उनमे नवीनता तथा जिज्ञासा जैसी प्रवृत्तियो ने उसकी गतिशीलता को प्रोत्साहन प्रदान किया । किसी भी देश के प्रजातीय इतिहास के द्वारा वहां के लोगो के भौगोलिक स्थलो का तो ज्ञान होता ही है साथ ही साथ उनमें प्राप्त सास्कृतिक विशिष्टताओ के सबध मे भी हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है ।

भारतीय जनसमुदाय में प्रजातीय तत्वो की समस्या जटिल है क्योकि अत्यन्त प्राचीन युग से ही भारतवष विश्व के विभिन्न भागो से आने वाले लोगो के आकर्षण का केन्द्र रहा है । अत समय-समय पर विभिन्न प्रजातीय तत्वो के लोगो का आगमन होता रहा है । उनमे से अधिकाश यही बसते गये और अततोगत्वा उन्होने यहा के प्रजातीय तत्वो एव सस्कृतियो को प्रभावित किया । आज के सभ्य समुदायो से दूर रह कर अधिकांश आदिवासियो ने अपने प्रजातीय गठन एव सस्कृतियो को बहुत कुछ सुरक्षित रखा है । यही कारण है कि प्रजातीय एव सास्कृतिक आधारो पर उनमे तथा सभ्य समुदायो मे पर्याप्त अतर दिखलाई देते हैं । यह अतर जहा एक ओर उनके इस देश के आदिवासी अथवा मूल निवासी होने की पुष्टि करते हैं वहां दूसरी ओर सभ्य समुदायो से उन्हे पृथक भी करते हैं ।

देश के प्रजातीय अध्ययन की दिशा मे सर्वप्रथम प्रयास भारतीय सिविल सर्विस के अधिकारी सर हबट रिजले द्वारा किया गया । सन् 1890 मे सर्वप्रथम उन्होने शरीर मापन प्रणालियो के आधार पर वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया । तत्कालीन भारत सरकार ने उन्हें 1901 मे होने वाली जनगणना का अध्यक्ष नियुक्त किया । इस जनगणना की रिपोर्ट तथा सन् 1915 में प्रकाशित-उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'दी पिपुल्स आफ इण्डिया' मे उन्होने अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत किया । रिजले के द्वारा प्रस्तुत देश के लोगो के प्रजातीय वर्गों में जिन सात वर्गों की चर्चा की गई है उनमे उन्होंने आदिवासियों

के सबध में पृथक रूप से कुछ नहीं कहा । पूरे देश को सात भौगोलिक क्षेत्रो मे विभाजित करके प्रत्येक क्षेत्र मे बसने वाले लोगो को एक विशेष प्रजातीय वर्ग मे माना है । परन्तु जैसा कि आदिवासियो के भौगोलिक वर्गीकरण में मुख्य रूप से तीन क्षेत्रो की बात की गई है इन तीन भौगोलिक क्षेत्रो मे उत्तर तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्रो को सम्मिलित करने वाले वर्ग को उन्होंने मगोल मध्य क्षेत्र को सम्मिलित करने वाले वग के लोगो को मगोलो द्राविडियन' तथा सम्पूर्ण दक्षिण भारत के निवासियो को द्रविण अथवा आर्य द्रविण कहा है । यद्यपि इन नामो के औचित्य के सबध मे वर्तमान विद्वानो ने काफी आलोचना की है फिर भी उनके प्रथम प्रयास को देखते हुए उनके प्रयत्नो को निरर्थक नही माना जा सकता । जहा तक देश के आदिवासियो का सबध है रिजले के वर्गीकरण मे प्रत्यक्ष रूप से उनके प्रजातीय गठन के सबध मे कुछ भी स्पष्ट नही हो पाता ।

सन 1931 म जे० एच० हट्टन न जनगणना सबधी काय का सचालन किया । अपने निष्कर्षों के आधार पर उ होने देश मे नीग्रिटो प्रजातीय तत्वो की जिनकी ज मभूमि अफीका है विद्यमानता को स्वीकार किया है । उन्होंने रिजले के निष्कर्षों की आलोचना की है । वास्तव मे प्रजातीय वर्गों के लिए रिजले ने आर्य तथा द्रविण शब्दो का प्रयोग करके एक बडी भूल की । आर्य तथा द्रविड शब्द भाषायी समूहो के द्योतक है । उदाहरण के लिए दक्षिण भारत को ही ल लिया जाय । दक्षिण भारत क सभी निवासी तमिल तेलगू मलयालम तथा कन्नड अथवा इनकी मिश्रित भाषाय बोलते हैं । इस आधार पर उ हे एक बहद भाषा परिवार के समह मे सम्मिलित किया गया है । परन्तु भौतिक शारीरिक लक्षणो अथवा प्रजातीय लक्षणो के आधार पर उनमे बडी असमानताय पाई जाती है । तमिल भाषी ब्राह्मणो नीलगिरि पर्वतो पर रहने वाले टोडा तथा पश्चिमी तटवर्ती घन जगलो के निवासी कादर इरूल तथा पणियन आदि लोगो को शारीरिक लक्षणो के आधार पर एक ही समूह मे नही लाया जा सकता यद्यपि भाषा के आधार पर सभी एक बृहद भाषा परिवार समूह के ही है । यही बात आय शब्द के प्रयोग के बारे मे भी कही जा सकती है । पर तु रिजले ने प्रजातीय वर्गीकरण की चर्चा करते हुए इन सभी को एक ही प्रजातीय समूह मे सम्मिलित किया । इन भ्रांतियो के होते हुए भी रिजले के महत्व को कम नही किया जा सकता । अपनी मानव वैज्ञानिक रुचियो के वशीभूत होकर रिजले ने जनगणना कार्य को एक नई दिशा प्रदान की तथा सवप्रथम देश के लोगो के प्रजातीय वर्गीकरण का प्रयत्न

करके भावी कार्यकर्ताओं का मार्ग दर्शन किया। यहां हमारा मुख्य ध्येय केवल आदिवासियों के प्रजातीय तत्वों का अध्ययन है। इस दृष्टिकोण से रिजले का प्रजातीय वर्गीकरण हमे कोई विशेष सूचना नहीं प्रदान करता।

रिजले के बाद इस दिशा मे किया गया महत्वपूर्ण कार्य हैडन का माना जा सकता है। यद्यपि इन्होने भी प्रजातीय वर्गों को नाम देते हुए रिजले के समान आर्य तथा द्रविड शब्दो का ही प्रयोग किया। हैडन ने पूरे देश में निम्नलिखित पाच प्रजातीय वर्गों का उल्लेख किया है।

(1) प्राक द्रविड
(2) द्रविड
(3) इण्डो आल्पाईन
(4) मगोल
(5) इण्डो-एरियन

इन पांच वर्गों मे से केवल तीन वर्गों अर्थात प्राक द्रविड, द्रविड तथा मगोल वर्गों को उन्होने आदिवासी जनसमुदायो से सबधित किया है। हैडन के विचार से मध्य भारत के आदिवासी इस देश के मूल निवासी हैं। मध्य भारत के आदिवासियो को प्राक द्रविड वर्ग दक्षिण के आदिवासियो को द्रविड तथा उत्तर तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्र के आदिवासियो को मगोल प्रजातीय वर्गों मे सम्मिलित किया।

वाईकस्टेड ने सन 1939 मे भारतवर्ष का प्रजातीय वर्गीकरण प्रस्तुत किया। उन्होने वेड्डिड मेलेनिड तथा इण्डिड बृहद् प्रजातीय वर्गों की चर्चा की है। इन तीनो वर्गों मे प्रथम दो वर्गों का सबध आदिवासियो से है। वेड्डिड वर्ग को अन्य दो गोंडिड तथा मेलिड उपवर्गों मे विभाजित किया है तथा मेलेनिड वर्ग को दक्षिणी मेलेनिड तथा कोलिड उपवर्गों मे विभाजित किया है। उन्होने वेड्डिड को मूल प्राचीन भारतीय माना है। वर्तमान मध्य भारत क्षेत्र के आदिवासियो को उन्होने वेड्डिड तथा मेलेनिड समूहो में माना है। गोण्डिड उपवर्ग में भूरे त्वचा वाले, घुघराले बालो वाले ओराव एवं गोंड आदिवासियों को सम्मिलित किया है। मेलिड उपवर्ग मे काले भूरे त्वचा वाले एवं घुघराले बालो वाले कुरुम्बा एवं वेडडा आदि आदिमजातियो को सम्मिलित किया है।

दूसरे वर्ग मेलेनिड को उन्होंने काले भारतीय भी कहा है। इस वर्ग के दक्षिणी मेलेनिड उपवर्ग मे दक्षिण भारत के मैदानी क्षेत्रों के निवासियों को सम्मिलित किया है—जिसमें अन्य जनसमुदायों के अतिरिक्त आंध्र प्रदेश के

मेनादी तथा चेंचू आदिवासी भी आ जाते हैं। परन्तु कोलिड उपवर्ग में उत्तरी डक्कन प्रदेश के जगलो के काले एव भूरे त्वचावर्ण वाले आदिवासियो को सम्मिलित किया। इस उपवर्ग मे सथाल एव मुडा आदिमजातियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

तृतीय प्रजातीय वर्ग को उन्होने इण्डिड कहा और इस वर्ग के एक उपवर्ग उत्तरी इण्डिड म हल्के भूरे रग वाले सभ्य जनसमुदायो के साथ ही साथ दक्षिण भारत क नीलगिरि पहाडियो के निवासी टोडा लोगो को भी सम्मिलित किया।

रगरी ने आदिवासियो के चार प्रजातीय वर्गों की चर्चा की है। प्रथम वग को नग्रिटो कहा तथा इस वर्ग मे लका के वेडडा तथा दक्षिणी भारत के जगलो मे रहने वाले आदिवासियो को सम्मिलित किया।

दूसरे वग को उन्होने प्राक द्राविडियन अथवा आस्ट्रेलायड कहा। इस वग मे छोटा नागपुर के ओराव मु डा तथा हो आदि आदिवासियो के समान अन्य आदिवासियो को सम्मिलित किया।

तीसरे वर्ग मे लम्बे कद वाले तथा लम्बे सर वाले टोडा आदिवासियो की गणना की। चौथा वग जिसे उन्होने द्राविडियन कहा अधिकाशत सभ्य समुदायो से सबधित है।

हरबट रिजले के बाद जे० एच० हटटन ही एक ऐसे जनगणना आयुक्त थे जिन्होने रिजल द्वारा आरम्भ किये गये मानववैज्ञानिक दृष्टिकोण को अत्यधिक महत्व प्रदान किया।

आदिवासियो मे अधिक रुचि होने के कारण उन्होने उनके प्रजातीय वर्गीकरण एव उनके सास्कृतिक अध्ययनो को अधिक महत्व दिया।

हटटन ने भारतीय आदिवासियो मे प्रजातीय तत्वो की चर्चा करते हुए नेग्रिटो एव आस्ट्रेलायड वर्गो की प्रमुख रूप से चर्चा की। उनके विचार से भारतवष के सबसे प्राचीन निवासियो के रूप में नाटे कद के काले त्वचा वर्ण वाले तथा ऊनी बालो वाले नेग्रिटो वग को ही मानना चाहिए जिनकी जन्म भूमि अफ्रीका है। मलाया तथा फिलीपाईन्स द्वीप समूह के आदिवासियो म भी ये प्रजातीय लक्षण परिलक्षित होते हैं तथा दक्षिण भारत के जगलो मे रहने वाले आदिवासियो को भी इसी वर्ग म सम्मिलित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कोचीन के कादर आदिवासियों मे तथा राज-महल पहाडियो के आदिवासियो मे किन्ही किन्ही व्यक्तियों मे छुट-पुट रूप से ये प्रजातीय तत्व दिखाई पडते हैं। इसके अतिरिक्त, सांस्कृतिक प्रमाणों को

को आधार मान कर उन्होंने सुदूर पूर्व में उत्तर पूर्वी भारत के नागा लोगों में भी इस प्रजातीय तत्व की चर्चा की है[1]।

आदिवासियों में प्रजातीय तत्वों के दृष्टिकोण से उन्होंने नेग्रिटो वर्ग के बाद आस्ट्रेलायड वर्ग को अधिक महत्व दिया है। जहा एक ओर नेग्रिटो वर्ग मे कुछ गिने चुने आदिवासियो की ही गणना की जा सकती है वहां इस प्रजातीय वर्ग मे उन्होंने बडी संख्या में आदिवासियों को सम्मिलित किया है।

इसी प्रजातीय तत्व को कतिपय व्यक्तियो ने प्राक द्रविण अथवा प्रोटो आस्ट्रेलायड नाम दिये हैं। हट्टन के विचार से भारतवर्ष के आदिवासियो मे प्राप्त इस प्रजातीय तत्व को दक्षिण पूर्वी योरुप की भूरी प्रजाति से सबंधित किया जा सकता है। वैसे ये प्रजातीय लक्षण आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में भली-भांति परिलक्षित होता हैं। इसीलिए इन्हें हटटन ने आस्ट्रेलायड कहा। ये प्रजातीय तत्व संपूर्ण भारतवर्ष में निम्न जातियों मे वितरित पाये जाते हैं परन्तु विशेष रूप से दक्षिण भारत के जंगलो एवं पहाडियों पर निवास करने वाले आदिवासी समुदायो मे ये प्रजातीय तत्व अपेक्षाकृत अधिक परिशुद्ध रूप मे प्राप्त होते हैं। इस प्रजातीय तत्व के लक्षणो मे अत्यन्त लहरदार से लच्छेदार बाल, चौडी नाक गहरे भूरे से लेकर काला त्वचा वर्ण एव अधिकांशतः मध्यम कद अधिक महत्वपूर्ण है। हटटन का अनुमान है कि इस प्रजातीय तत्व के लोगो के पूर्वज निश्चित रूप से उस समय से ही भारतवर्ष के पठारी क्षेत्रो मे अधिक संख्या मे विद्यमान थे जिस समय नेग्रिटो प्रजातीय तत्व वाले लोगो के अतिरिक्त भारतीय भू भाग पर अन्य किसी भी प्रजातीय वर्ग का आगमन नही हुआ था।

दक्षिण भारत के आदिवासियों में इन्ही दो प्रजातीय तत्वो के प्रमाण पाये जाते हैं। सांस्कृतिक आधार पर अत्यन्त पिछडे हुए कोचीन के कादर त्रिवाकुर के मालपतरम तथा पणियन आदिवासियों मे नेग्रिटो प्रजातीय तत्व तथा नीलगिरि पहाड़ियो पर बसे हुए टोडा आदिवासियो को छोड कर अन्य सभी आदिवासियो में मूल रूप से प्रोटो आस्ट्रेलायड प्रजातीय तत्व ही अधिकांशतः परिलक्षित होते हैं। टोडा आदिवासियो की गणना प्रजातीय आधार पर इन दोनों मे से किसी भी समूह में नहीं की जा सकती। अधिक घने बालों वाले तथा अपने पडोसी अन्य आदिवासियों से अधिक लम्बे कद वाले टोडा लोगों के प्रजातीय लक्षण बहुत कुछ इसी समुदाय के नम्बूदरी ब्राह्मणों के सदृश हैं। पशुपालक टोडा लोगों

से बिल्कुल भिन्न एवं बागबानी तथा कृषि में अत्यन्त निपुण इनके पड़ोसी बडगा आदिवासियो के प्रजातीय लक्षण भी इनसे बिल्कुल भिन्न हैं तथा दक्षिण भारत की अधिकांश अन्य आदिमजातिया के ही समान हैं। दक्षिण भारत के उत्तरी भाग के अग्रभाग मे अधिकतर गोड आदिवासी फैले हुए हैं। इसके अतिरिक्त इसी भाग के जगली प्रदेशो मे तथा पहले निजाम के शासन के अन्तर्गत रहने वाले चचू लोग भी आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछडे हुए हैं तथा प्रजातीय तत्वो के आधार पर इन्हे भी प्रोटो-आस्ट्रलायड प्रजातीय वर्ग में सम्मिलित किया जा सकता है। वर्तमान महाराष्ट्र के पश्चिमी तटीय प्रदेश मे रहने वाले कतकरी तथा कोली आदिवासी भी इसी वर्ग मे सम्मिलित किये जा सकते हैं। मध्य भारत के आदिवासियो मे गोंड आदिवासियो की सख्या सर्वाधिक है तथा बैगा लोगो से इनमे प्रजातीय स्तर पर अधिक समानतायें पाई जाती हैं। इसी क्षत्र की कोरकू तथा कोरवा आदिमजातिया भी गोड लोगो के समान हैं। बिहार प्रदेश के छोटा नागपुर अचल के आदिवासी उदाहरण के लिए मुडा हो खरिया भुईया सथाल तथा ओरांव आदि भी इसी प्रजातीय वग का प्रतिनिधित्व करते है। छोटा-नागपुर पठारी प्रदेश के दक्षिणी तथा मध्य भारत के पूर्वी भाग मे इस प्रजातीय वर्ग की प्रमुख आदिमजातिया जुआग तथा बिरहोर है। छोटा नागपुर अचल तथा मध्य भारत के पर्वतीय प्रदेश की सीमायें पूर्वी तटीय प्रदेश के विस्तृत भू भाग से मिली हुई है। यह विस्तृत भू भाग भी आदिवासियो का केन्द्र है। यद्यपि इस क्षेत्र के अधिकाश आदिवासियो मे विशेषकर सवरा लोगो मे कुछ मगोलीय प्रजातीय तत्व परिलक्षित होते हैं किन्तु इसी क्षेत्र के खोड आदिवासी जो सख्या की दृष्टि मे महत्वपूर्ण है प्रजातीय आधार पर गोड लोगो के ही समान है। अत वे भी प्रोटो आस्ट्रलायड प्रजातीय वग मे सम्मिलित किये गये हैं।

हटटन के दृष्टिकोण से असम तथा असम से मिले हुए सुदूर पूर्व के क्षेत्रो के आदिवासियो मे हमे एक तीसरे प्रजातीय तत्व के प्रमाण मिलते हैं। यद्यपि भौगोलिक आधार पर असम प्रदेश उडीसा से बगाल प्रांत के द्वारा एक दूसरे से अलग है परन्तु सास्कृतिक आधार पर इन दोनो प्रातो के आदिवासियो मे समरूपता पाई जाती है। उडीसा प्रदेश एक तटवर्ती मैदानी क्षेत्र है जो कि घने जगलो से घिरा हुआ है। असम प्रदेश मुख्य रूप से नदियो एव पर्वतो का प्रदेश है। असम के आदिवासी मगोलीय प्रजातीय वग मे आते हैं तथा प्रजातीय एव भाषा के आधार पर तिब्बतियो तथा भूटानियों से इनमें बड़ी समानता है। सुबानसरी प्रशासकीय प्रदेश में स्थित डाफला, अबोर, मिश्मी तथा

अगामी आदि लोगो में भी इसी प्रजातीय तत्व के प्रमाण प्राप्त होते हैं।* ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी तट पर दो आदिवासी समूह अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। एक तो नागा आदिवासी तथा दूसरे कुकी-चिन आदिवासी समूह। इन दोनों समूहों मे भी मंगोलीय प्रजातीय तत्व अत्याधिक परिलक्षित होते हैं परन्तु नागा समूह की अपेक्षा कुकी-चिन समूह मे ये तत्व अधिक सुस्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी तट पर ही किन्तु अधिक पश्चिम की ओर खिसा वासी तथा गारो आदिवासियों को भी इसी प्रजातीय वर्ग में सम्मिलित किया गया है। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश मे जौन्सारियो में विशेष रूप से स्त्रियो मे तथा तराई क्षेत्र के थारू लोगो मे भी मिश्रित रूप मे मंगोलीय प्रजातीय तत्व पाये जाते हैं। इस प्रकार से भौगोलिक आधार पर वर्गीकृत उत्तर तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्र के अधिकांश आदिवासियो मे हटटन ने इन्ही प्रजातीय तत्वो की चर्चा की है। निश्चय ही ये तत्व इन सभी आदिवासियो मे समान रूप से वितरित नही पाये जाते।

बी० एस० गुहा ने सन 1931 की जनगणना मे किये गये मानवमितीय सर्वेक्षण के आधार पर सम्पूर्ण भारतवर्ष के लोगो का प्रजातीय वर्गीकरण प्रस्तुत किया। सन् 1931 मे हटटन ही जनगणना आयुक्त थे और यह उनकी मानववैज्ञानिक रुचि का ही परिणाम था कि उन्होने बी० एस० गुहा ऐसे प्रशिक्षित मानव वैज्ञानिक को वैज्ञानिक आधार पर किये गये मानवमितीय सर्वेक्षण का कार्य भार दिया। रिजले के बाद यह पहला अवसर था जबकि विकसित मानवमितीय प्राविधियो के आधार पर प्रजातीय अध्ययन का कार्य किया गया। गुहा ने अपना सर्वेक्षण 1930 में ही प्रारम्भ कर दिया था और उनकी रिपोर्ट सन् 1933 मे प्रकाशित हुई। गुहा ने अपने सर्वेक्षण मे आदिवासी समूहो का सर्वेक्षण विशेष रूप से एक अलग श्रेणी के रूप मे किया। इसके परिणाम स्वरूप जहां एक ओर उनके इस सर्वेक्षण के वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित होने के कारण इसमे प्रामाणिकता का पुट अधिक था वहीं उनके लिए आदिवासियो एवं सभ्य समुदायो के प्रजातीय भेदो की स्पष्ट रूप से व्याख्या कर पाना सम्भव हो सका।

गुहा के सर्वेक्षण के परिणामो में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उनका यह निष्कर्ष था कि भारत में चौडे सर वाला प्रजातीय तत्व अधिक अंशो मे पाया जाता है जबकि गुहा से पूर्व सामान्य धारणा ऐसी नही थी। सारे भारतवर्ष मे उन्होंने छः प्रजातीय वर्गों की चर्चा की है, किन्तु केवल आदिवासियो के सम्बन्ध मे तीन प्रमुख प्रजातीय तत्वो का उल्लेख किया है। पहला—शरीर के नाटे एवं

मध्यम कद, गहरे चॉकलेट एवं भूरे त्वचावर्ण चौडी एव चपटी नाक तथा मोटे ओठो वाले आदिवासी समुदाय जिनके बाल अत्यन्त घघराले ऊनी तथा उलझे हुए होते हैं। अधिकांशत दक्षिण भारत के जगली क्षेत्रो के कादर, इरूला तथा पणियन लोगो में पाये जाते हैं। इन्हे गुहा ने नेग्रिटो कहा है।

भारतीय आदिवासियो म दूसरे महत्वपूर्ण प्रजातीय वर्ग की चर्चा करते हुए गुहा ने प्रोटो आस्ट्रेलायड तत्व की चर्चा की है। यह प्रजातीय तत्व गुहा के अनुसार अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र के आदिवासियो मे पाया जाता है। मध्य भारत के विस्तृत क्षेत्र के आदिवासियो के अतिरिक्त दक्षिण भारत के अधिकाश आदिवासियो (कुछ प्रमुख आदिवासियो को छोड कर जिनमे प्रथम प्रजातीय तत्व के प्रमाण पाये जाते है) मे भी प्रोटो आस्ट्रेलायड प्रजातीय तत्व ही पाये जाते हैं। इस प्रजातीय वग क अतगत आने वाले आदिवासियो को भिन्न-भिन्न विद्वानो ने विभिन्न नाम दिये हैं।

रिजले ने इनके लिए प्रीद्राविडियन तथा चन्दा ने निशाद शब्दो का प्रयोग किया है। अनेक विद्वानो ने यह भी मत प्रगट किया है कि सम्भवत देश के सभ्य समुदायो मे तथा परिगणित एव अनुसूचित जातियो मे भी अधिकाशत यही प्रजातीय तत्व पाये जाते हैं। यह सभी आदिवासी अपने प्रजातीय लक्षणो मे बहुत कुछ सीलोन के वेडडा तथा मलाया के सकाई लोगो मे समानता रखते हैं। इन्हीं प्रजातीय लक्षणो वाले प्रजातीय तत्व को आइस्कटेड ने वेड्डि टाईप कहा है। वैसे अधिकाश लक्षणो मे ये प्रजातीय तत्व नेग्रिटो प्रजातीय तत्व के ही समान है पर कुछ लक्षणो मे इनकी विशेषता के आधार पर इनमे तथा नेग्रिटो वग मे अन्तर स्थापित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए शरीर रचना की दृष्टि से ये छोटे तथा मध्यम कद के होते हैं। इनकी प्रमुख विशेषता यह है कि नेग्रिटो लोगो की भाति इनके माथे उभरे हुए तो होते है किन्तु माथे के निचले हिस्से मे माथे तथा इनकी चौडी छोटी तथा दबी हुई नाक के सधिस्थल पर अवनमन होता है। ऐसा नेग्रिटो प्रजातीय तत्व मे नही पाया जाता है। इसके अतिरिक्त बाल सामान्यत घुघराले होते हैं। परन्तु नेग्रिटो वर्ग के समान लच्छेदार ऊनी अथवा उलझ हुए नही होते। इसके अतिरिक्त रग काला तथा गहरा भूरा तथा सिर लम्बा होता है। शरीर रचना एव प्रजातीय लक्षणो में इनका आस्ट्रेलिया के आदि वासियो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। रक्त मे भी नेग्रिटो तथा इस प्रजातीय तत्व मे अन्तर पाया जाता है। जहा नेग्रिटो वर्ग के लोगों में ए रक्त समूह की अधिकता पाई जाती है वहा इनमें 'बी समूह का ही वितरण

अधिक है।

गुहा के अनुसार तृतीय प्रजातीय वर्ग में भारत में उत्तर तथा उत्तर पूर्वी सीमान्त प्रदेशों की पर्वत घाटियों में जो कि दक्षिण पूर्व में, बर्मा की पर्वत घाटियो मे मिल जाती हैं, मे रहने वाले समस्त आदिवासियों को सम्मिलित किया जा सकता है। इस प्रजातीय वर्ग को उन्होंने मंगोलायड कहा है। भारत में इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाओं का प्रवेश हुआ। प्रथम शाखा प्राचीन मंगोलायड तथा दूसरी शाखा तिब्बती मगोलायड है। इस प्रजातीय तत्व के प्रमुख प्रजातीय लक्षण इस प्रकार हैं—हल्का त्वचा वर्ण सीधे बाल चपटी नाक तथा चौडे चेहरे। इनकी आंखों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे आधी बन्द तथा आधी खुली हुई अवस्था मे हो। आंखो की बाहरी तथा भीतरी कोनो मे दोनो अथवा इनमे से एक मे पलको तथा पोटो का चर्म जुडा हुआ सा प्रतीत होता है जिससे आखो का खुला हुआ भाग सिमट कर थोडा सा रह जाता है। इस प्रजातीय लक्षण को 'एपीकेंथिक फोल्ड' कहा गया है। इसके अतिरिक्त आंखें तिरछी भी होती हैं अर्थात आखो के दोना कोनो को मिलाने वाली रेखा सिर की सीधी अवस्था मे जमीन मे समानान्तर नही होती। अधिकाश आदिमजातिया लम्बे सिर तथा मध्यम कद वाली हैं। किन्तु तिब्बती सीमान्त प्रदेशो मे रहने वाली कुछ आदिम जातियो मे सिर अधिक चौडा होता है तथा सिर का पृष्ठ भाग चपटा होता है और इनका कद भी कुछ अधिक लम्बा होता है।

अत हम देखते है कि गुहा द्वारा उल्लिखित आदिवासी प्रजातीय तत्वो के वर्ग लगभग हट्टन के विचारो के अनुरूप ही है। वास्तव मे लगभग सभी विद्वानो ने गुहा के निष्कर्षों से अधिकांशत सहमति प्रदान की है। गुहा का अध्ययन कदाचित अंतिम अध्ययन था जो कि सुसगठित रूप से वैज्ञानिक आधार पर किया गया था। उनके इस अध्ययन के बाद कोई अन्य ऐसा अध्ययन सम्पूर्ण भारतवर्ष के स्तर पर नही किया जा सका जिसके आधार पर गुहा के निष्कर्षों को अमान्य किया जा सके।

भारतवर्ष मे नेग्रिटो समस्या

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतवर्ष मे सभ्य समुदायों की अपेक्षा अधिक प्राचीन होने के कारण ही आदिमजातियो को आदिवासी कहा गया है। उपर्युक्त प्रजातीय तत्वों के विश्लेषण से निश्चित रूप से तीन प्रमुख प्रजातीय वर्गों की चर्चा की जा सकती है। इन तीनो प्रजातीय वर्गों मे कौन

अत्यन्त प्राचीन है तथा किस प्रजातीय वग के लोगों को देश के प्राचीनतम निवासी कहा गया है इस सम्बन्ध मे मतभेद रहा है। लगभग सभी अध्ययन कर्ताओ ने मंगोलायड प्रजातीय वर्ग के लोगो को सबसे बाद का बताया है। वास्तविक मतभेद नेग्रिटो तथा प्रोटो आस्ट्रेलायड वर्गों को लेकर है। यहाँ तक कि कुछ लोगो ने तो नग्रिटो प्रजातीय तत्व की उपस्थिति पर भी सदेह व्यक्त किया है। गुहा ने यद्यपि नेग्रिटो प्रजातीय तत्व की विद्यमानता की चर्चा केवल सीमित रूप से दक्षिण भारत के जंगलो मे रहने वाली कुछ अत्यन्त पिछडी हुई आदिमजातियो मे ही की है फिर भी इसी प्रजातीय तत्व को उ होने प्राचीनतम भी माना है तथा भारतवष के प्रजातीय गठन में एक मूल प्रजातीय तत्व के रूप मे स्वीकार किया है। इस विचारधारा को अन्य विद्वानो ने मान्यता नही दी। उनका मत यह है कि जनसख्या की दृष्टि से तथा भारतीय भूभाग पर अधिक विस्तृत क्षेत्रो मे फैले होने के कारण गुहा के प्रोटोआस्ट्रेलायड अथवा इन्ही लोगो के लिए प्रयुक्त वेड्डायड अथवा प्रीद्रविडियन वग के लोगो को ही भारतवष के अत्यन्त प्राचीन निवासी तथा इसी प्रजातीय तत्व को देश के प्रजातीय गठन मे एक मूल प्रजातीय तत्व के रूप मे मानना अधिक उपयुक्त है। अनेक विद्वानो ने इस बात की भी सभावना व्यक्त की है कि यही प्रजातीय तत्व अनुसूचित जातियो मे भी अधिकाशत परिलक्षित होते हैं। साथ ही साथ इन लोगो ने यह भी माना है कि किसी समय यह प्रजातीय तत्व सम्पूर्ण उत्तरी भारत के मैदानी क्षेत्रो मे सामान्य रूप से वितरित रहा होगा। सेवेल तथा गुहा ने लका निवासी वेड्डा लोगो तथा भारतवर्ष मे तामिल भाषी लोगो के पूर्वजो के रूप मे प्रोटो आस्ट्रेलायड प्रजातीय तत्व को ही प्रधानता दी है। इन्होने इस बात की भी सभावना व्यक्त की है कि मोहनजोदडो से प्राप्त ककालीय प्रमाणों मे भी यही प्रजातीय तत्व विद्यमान थे। हटटन ने भी अपनी सन 1933 की जनगणना रिपोर्ट म प्रोटो आस्ट्रेलायड प्रजातीय तत्वो का ही अधिक उल्लेख किया है।

प्रोटो आस्ट्रेलायड शब्द का प्रयोग सवप्रथम डिक्सन ने 1923 मे अपनी पुस्तक मे किया था। यद्यपि सन 1931 के अपने प्रजातीय वर्गीकरण मे गुहा ने भी इसी शब्द का प्रयोग किया किन्तु सन 1951 मे उन्होंने भी इस शब्द के स्थान पर 'निसाद्रिक शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त माना जिससे उनका तात्पर्य भारतवर्ष के उन आदिवासियों से है जिनमें नीग्रो प्रजातीय तत्वो का समावेश नहीं है परन्तु वे लक्षणों मे आस्ट्रेलिया के आदिवासियो से

मिलते-जुलते हैं। गुहा ने अपने 1951 के लेख में काफी संख्या में भारतीय आदिमजातियों तथा आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों में प्रजातीय आधार पर समानतायें स्वीकार की हैं। किन्तु उन्होंने इन आदिवासियों के लिए सामान्य रूप से 'वेडडायड' (veddoid) शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की है। यद्यपि मूल रूप से वेड्डा आदिमजाति के थोड़े से लोग लंका में ही सीमित रह गये हैं, तथापि प्रजातीय लक्षणो मे उनसे समानता रखने वाले अनेक आदिवासी अब भी दक्षिण भारत के जगली क्षेत्रो मे विद्यमान हैं यहाँ तक कि सेलिगमेन (1911) ने तो यह भी स्वीकार किया है कि दक्षिण भारत के जगलो मे निवास करने वाले आदिवासी उसी प्रजाति के हैं जिसके वेड्डा हैं। वेडडा लोगो से साम्य रखती हुई इन आदिमजातियो को अधिकाशत प्रीद्रविडियन ही कहा गया है। विशेष रूप से त्रिवांकुर के उराली कनिक्कर तथा मुथुवन मालावार क्षेत्र मे वाइनाड के पणियन नीलगिरि पहाड़ियो के कुरुम्बा तथा इरुल, हैदराबाद-आंध्र प्रदेश के चेंचू, कोचीन प्रदेश के कादर तथा उत्तर भारत मे राजमहल पहाड़ियो पर बसने वाले माले तथा मानभूम जिले के पहाड़िया लोगो मे वेडडा प्रजातीय लक्षण ही मुख्य रूप से परिलक्षित होते है। अत दक्षिण भारत को इस प्रजातीय तत्व का एक मुख्य केन्द्र मानना अनुचित न होगा।

भारतवर्ष में नेग्रिटो प्रजातीय प्रभावो के विद्यमानता की चर्चा लगभग उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध से ही प्रारभ हो चुकी थी। परन्तु काफी समय तक इस विषय पर कोई समुचित कार्य नही किया गया। मानवमिति पर आधारित जो थोडा सा काय वज्ञानिक आधार पर किया गया है उसका श्रेय प्रमुख रूप से गुहा को ही प्राप्त है। इस सम्बध मे इतना न्यून ज्ञान होने के बावजूद भी नेग्रिटो प्रजातीय तत्व को महत्व दिया गया। सबसे पहले सन् 1877 मे डे क्वाटर फेजेज ने इस तथ्य को सामने रखा। इसके उपरात समय समय पर अनेक मानववैज्ञानिको ने विशेष रूप से दक्षिण भारत मे कही कही पर जगलो म रहने वाले आदिवासियो में ऊनी अथवा उलझे बालो के पाये जाने की चर्चा की है। गुहा ने सन् 1931 की जनगणना रिपोर्ट मे स्पष्ट रूप से कादर लोगो में इस प्रकार के बालो का उल्लेख किया है। इससे प्रथम लेपीक ने सन 1903-1904 के मध्य कादर आदिवासियो का सर्वेक्षण किया था और उनमे नेग्रिटो प्रजातीय तत्वो को स्वीकार किया था। परन्तु बाद मे सन् 1906 में उन्होंने अपने इस मत को स्वय परिवर्तित किया और यह कहा कि जिस प्रकार से अदमान द्वीप समूह

के आदिवासियों मे स्पष्ट रूप से नेग्रिटो प्रजातीय लक्षण देखे जा सकते हैं उस स्तर पर इस प्रजातीय तत्व को कादर लोगो मे नही देखा जा सकता ।

कीन (1909) ने यह स्वीकार किया कि कुछ मिश्रित रूप में नेग्रिटो प्रजातीय लक्षणों वाले समूहो का आगमन भारतवर्ष मे सभवत' मलाया से हुआ और यही लोग इस देश मे सर्वप्रथम आकर बसने वाले थे । रिजले (1918) ने भारतवर्ष मे ऊनी बालो के लक्षण की विद्यमानता को पूर्ण रूप से अस्वीकार मे किया । हार्वेल्स ने 1937 मे दक्षिण भारत के जंगलों के आदिवासियो मे नेग्रिटो प्रजातीय तत्वों को स्वीकार किया है । हटटन (1927) ने शारीरिक लक्षणो एव सास्कृतिक आधार पर असम के कुछ आदिवासियो मे इस प्रजातीय तत्व की सभावना व्यक्त की ।

इधर हाल के निरीक्षणो मे हटटन न असम के कुछ नागा लोगो मे नेग्रिटा प्रजातीय तत्वो की विद्यमानता स्वीकार की है । गुहा ने अपने विचारो की साक्षी म कादर लोगो के जो फोटोग्राफ छापे है उनमे भी ऊनी बालो को स्पष्ट रूप से नही देखा जा सकता । फिर भी दक्षिण भारत की कतिपय जगली आदिमजातियो मे तथा विशेषकर कादर लोगो म इस प्रजातीय तत्व को एक महत्वपूर्ण प्रभाव के रूप मे स्वीकार किया है । ऐसी परिस्थिति मे वज्ञानिक आधार पर इस प्रजातीय तत्व की एक प्रमुख तत्व के रूप म भारत के आदिवासियो मे विद्यमानता आज भी एक विवादास्पद विषय बना हुआ है । मजूमदार तथा एस० सी० सरकार ने गुहा के इस निष्कर्ष का पूर्ण विरोध किया है ।

इस सम्ब ध मे सर आथर कीथ के विचार महत्वपूर्ण हैं । सन 1936 मे उ होने गुहा के निष्कर्षों पर अपने विचार व्यक्त करते हुए उनकी आलोचना की है । उनके अनुसार केवल बालो के स्वरूप को मूल रूप से आधार मान कर इतने महत्वपूण निष्कष पर पहुचना अनुचित था ।

नैग्रिटो प्रजातीय तत्व

नीग्रिटो प्रजाति पर शेबेस्टा (1950) का अध्ययन अधिकाधिक मान्य है । उन्होने भारतवर्ष मे इस प्रजातीय तत्व के सबध मे यही कहा है कि इस सबध मे गुहा तथा हटटन के विचारो को मानने से पहले और भी अधिक वज्ञानिक शोध की आवश्यकता है । वास्तव मे कादर तथा इस संबंध मे उल्लिखित दो एक अन्य आदिवासियो के शरीरमितीय अध्ययनो का इतना अभाव है कि स्पष्ट रूप से उनके प्रजातीय अभिलक्षणो के संबंध मे ठीक ठीक

कुछ कह पाना सम्भव ही नहीं है ।

अत ऐसी परिस्थिति में गुहा तथा हट्टन के विचारों को मानना कठिन है । इसमें संदेह नहीं कि दक्षिण भारत की कतिपय आदिमजातियो मे कदा कदा ऊनी बालो के लक्षण दिखलाई पडते हैं । किंतु यह साक्ष्य भारत वष के प्रजातीय गठन मे एक मूल प्रजातीय तत्व के रूप में नेग्रिटो प्रजातीय तत्व की विद्यमानता की पुष्टि नही कर सकता । इसके विपरीत प्रोटो आस्ट्रेलायड वेडिडड अथवा प्रीद्राविडियन शब्दों स सबोधित प्रजातीय तत्व बहद स्तर पर आदिवासियो मे विद्यमान हैं तथा अनेक लक्षणो के आधार पर इसकी पुष्टि भी की जा सकती है । जा भी थाडी सी ककालिक सामग्रियाँ मोहन जोदड़ो तथा हडप्पा से प्राप्त हुई है उनके अध्ययनो स भी हमे यही सकेत मिलता है कि भारतवर्ष के प्राचीनतम एव मूल निवासी इसी प्रजातीय तत्व के लोग थे और गुहा सरकार तथा मजूमदार आदि अन्य विद्वानो ने इन्हे प्रोटो आस्ट्रलायड शब्द से सबोधित किया ।

भारत के आदिवासियो का भाषा के आधार पर वर्गीकरण

विभि न भाषाआ को साधारण दष्टि से भी देखने से इस बात का अनु भव होता है कि उनमे परस्पर कुछ बातो मे समानता है और कुछ बातो मे विभिन्नता है । समानता दो तरह की हो सकती है । एक पद रचना की, दूसरी अर्थ तत्वो की । केवल पद रचना की समानता पर निभर भाषाओ का वर्गीकरण आकृति मूलक वर्गीकरण कहलाता है दूसरा जिसम आकृति मूलक समानता के अतिरिक्त अथतत्व की समानता रहती है, ऐतिहासिक अथवा पारिवारिक वर्गीकरण कहा जाता है ।

हमार आदिवासी भारत की सपूण जनसख्या का एक छोटा सा भाग हैं । इनका अपना एक अलग वग है क्योंकि इनका बौद्धिक स्तर अन्य परिष्कृत जातियो की अपेक्षा बहुत नीचा है । इनमे सामयिक परिस्थितियो के अनुकूल बदलन की क्षमता बहुत कम है और शिक्षा का अभाव है । इन्हे समझने के लिए हमारा दृष्टिकोण उदार एव वैज्ञानिक अर्थात मानवविज्ञान पर आधा रित होना चाहिए । इसीलिए इनको तथा इनकी सस्कृतियो को समझने के लिए इनकी भाषाओ का अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाता है ।

भारतवर्ष के आदिवासियों की भाषाओ का अध्ययन सर्वप्रथम विभिन्न समुदायो के ईसाई मिशनरियो ने ही किया । उनका मुख्य उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार था और इसके लिए उनकी भाषाओ का समझना तथा उनका

अध्ययन करना उनके लिए आवश्यक हो गया। इस प्रकार भारतवर्ष में आदिवासियो की भाषाओ का अध्ययन गत शताब्दी के मध्यकाल से आरम्भ हुआ और तब से अब तक इस दिशा मे काफी प्रगति हो चुकी है।

वर्णन की सुविधा के लिए संसार की भाषाओं को चार चक्रों मे बाँटा जाता है—

1—उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका

2—प्रशान्त महा सागर के द्वीप

3—अफ्रीका

4—योरुप एशिया

भारतवष मे बोली जाने वाली सभी भाषाय यूरेशियाई (योरुप एशिया) चक्र के अतगत आती हैं। हमारे देश मे बोली जाने वाली सभी भाषाये आय द्रविड मुडा (आस्ट्री) तथा तिब्बती चीनी परिवारो की भाषायें हैं। आय परिवार अथवा भारत यूरोपीय (Indo European) भाषा परिवार के अत गत उत्तरी भारत एव दक्षिण की हिन्दी बगला पजाबी गुजराती मराठी तथा उडिया भाषाये आती है। इसी प्रकार द्रविड भाषा परिवार के अन्तर्गत मध्य एव दक्षिण भारत मे बोली जाने वाली भाषाय आती है। दक्षिण भारत मे बोली जाने वाली चार समृद्ध भाषाय तमिल तेलगू मलयालम तथा कन्नड भाषायें इसी भाषा परिवार का अग हैं। इन चारो भाषाओ का साहित्य अत्यन्त विकसित है। विशष रूप से तमिल साहित्य की गणना अत्यन्त प्राचीन साहित्य म की जाती है।

दक्षिण मध्य तथा पूर्वी भारत के आदिवासियो मे बोली जाने वाली भाषाय भी द्रविड भाषा परिवार मे ही सम्मिलित की गई हैं। विशेषरूप से दक्षिण भारत के आदिवासियो की भाषाये अधिकाशत उसी क्षेत्र की चार समृद्ध भाषाओ के मिश्रित रूप मे ही है परन्तु उनके समान विकसित नही हैं।

अन्य दो वर्गों की भाषाय केवल कुछ गिने चने अपवादो को छोडकर लगभग सभी भाषायें ततीय भाषा परिवार अर्थात आस्ट्रिक भाषा परिवार मे ही मानी गई हैं। आस्ट्रिक भाषा परिवार मे आस्ट्रेलियाई बोलियां जैसे असम की खासी निकोबार द्वीप समूह की निकोबारी तथा बर्मा स्याम, इडोचीन मे प्रचलित बहुत सी भाषायें सम्मिलित की गई हैं।

चीनी तिब्बती भाषा परिवार के अतर्गत मगोल प्रजाति समूह की विभिन्न आदिमजातीय भाषायें आती हैं। भारतवर्ष मे इन चार प्रमुख भाषा परिवारो का उल्लेख सन् 1931 की जनगणना मे किया गया है।

उपर्युक्त विवरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश के आदिवासियो द्वारा बोली जाने वाली भाषायें मुख्य रूप से तीन भाषा परिवारों मे ही वर्गीकृत हैं अर्थात द्रविड, आस्ट्रिक तथा चीनी-तिब्बती ।

द्रविड आदिवासी भाषायें

इस भाषा परिवार के अतर्गत आने वाली भाषाओ को बोलने वाले आदिवासी लोग मध्य तथा दक्षिणी भारत के निवासी हैं । द्रविड परिवार की अत्यत विकसित भाषाओ अर्थात तामिल तेलगू कन्नड एव मलयालम के अतिरिक्त ऐसी भी दो अन्य भाषायें हैं जो इतनी विकसित नही है परन्तु काफी सख्या मे सभ्य लोगो मे बोली जाती हैं । ये दो भाषायें तुलू तथा कोडगू हैं जो कुर्गवासियो की भाषायें है जिन्हे आदिवासी भाषाओ मे नही माना जाता ।

आदिवासियो द्वारा बोली जाने वाली द्रविड भाषाओ मे प्रमुख स्थान गोंडी भाषा का है जिसे गोड आदिवासी बोलते हैं । गोड आदिमजातियो के लोग मध्य प्रदेश तथा आध्र प्रदेश मे फैले हुये हैं । गोडी भाषा का कोई साहित्य नही है । बोलने वालो की सख्या की दृष्टि से आदिवासी भाषाओं मे इसका महत्वपूर्ण स्थान है । परन्तु सभ्यता के सपक मे आने के कारण भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे गोड लोग धीरे धीरे अपने पडोसियो की भाषायें जैसे हिन्दी, मराठी तेलगू तथा कही कही उडिया भाषा अपनाते जा रहे हैं । विशेषकर मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्रो मे रहने वाले गोड जहाँ सभ्य समाजो के सांस्कृतिक सपर्कों का प्रभाव अधिक हुआ है अपनी भाषा को लगभग भुला चुके हैं और अधिकाश क्षेत्रो मे वे द्विभाषी हैं अर्थात एक तो अपनी मातभाषा गोडी बोलते है तथा दूसरी अपने पडोसियो की भाषा बोलते हैं । गोड लोगो की कुल जनसख्या 1951 की जनगणना के आधार पर लगभग 1865000 थी ।

इस भाषा परिवार की एक अन्य आदिवासी भाषा कुई भी है । इस भाषा को बोलने वाले आदिवासियो मे उडीसा के कन्ध बिहार के ओराव और बिहार के ही राजमहल पहाडियो के निवासी माल्टो लोग हैं । ये सभी आदिवासी धीरे धीरे अपने सभ्य पडोसियो की भाषायें अपनाते जा रहे हैं । इसके अतिरिक्त इस समय पाकिस्तान मे स्थित बलोचिस्तान के बीच चारो ओर ईरानी भाषाओ तथा एक ओर से सिंधी भाषा से घिरी हुई द्रविड परिवार की एक अन्य भाषा ब्राहुई है । इसी प्रकार दक्षिण भारत के आदिवासियों में टोडा, पानियन, चेंचू, इरुल एव कादर इत्यादि की भाषायें भी द्रविड़ भाषा परिवार मे ही सम्मिलित की जाती हैं ।

द्रविड परिवार की भाषाओ के उच्चारण मे अन्य भाषाओ की अपेक्षा कुछ विशिष्टतायें पाई जाती हैं। यह सयुक्त शब्द प्रधान है तथा यें उराल-अल्ताई से मिलती जुलती है। इस भाषा परिवार की भाषाओ को बोलने वाले आदिवासी अन्य भाषाओ के बोलने वालो की अपेक्षा बहुत कम उन्नत है।

आस्ट्रिक भाषा परिवार

इस भाषा परिवार को मडा भाषा परिवार भी कहा गया है। वैसे इस भाषा परिवार की एक बोली मुडारी का ही एक शब्द मुडा है। मैक्स मुलर ने सबसे पहले इन भाषाओ को द्रविड भाषा परिवार से भिन्न माना है। उन्होंने ही इसे मुडा भाषा परिवार कहना उपयुक्त समझा। इस परिवार की भाषायें विशेष रूप से छोटा नागपुर क्षेत्र के आदिवासियो द्वारा बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त मध्य प्रदश उडीसा पश्चिमी बगाल एव मद्रास के कुछ भागो तथा हिमालय की तराई म बिहार से लेकर शिमला पहाडी तक बराबर इसका प्रयोग पाया जाता है। बंगाल बिहार उडीसा की सथाली मुण्डारी हो खरिया भूमिज तथा बिहार की कुछ अन्य भाषायें इसमे आती है। मध्य प्रदेश एव बरार मे कोरकू तथा सावरा एव गडबा उडीसा मे बोली जाती हैं। ये सभी भाषायें इस भाषा परिवार की कोल एव मुडा वग की भाषायें कही जाती हैं। परन्तु इस परिवार मे दो अन्य वर्ग भी आते है। एक तो असम के खासी लोगो की भाषा और दूसरी निकोबार निवासियो की भाषायें।

उपयुक्त आस्ट्रिक परिवार की भाषाओ मे सथाली एव मुडारी भाषाओ का थोडा बहुत अध्ययन किया जा चुका है। समस्त आस्ट्रिक परिवार की इस देश मे लगभग उन्नीस भाषाये एव बोलियाँ बोली जाती हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने खासी और सथाली को छोटी देशी भाषाओ के रूप मे स्वीकार कर लिया है। यद्यपि इन भाषाओ के प्रति सरकार का दष्टिकोण उदार है तथा कही कही पर विश्वविद्यालय स्तर पर भी इन भाषाओ को प्रोत्साहन दिया जा रहा है परन्तु इन पर आर्य भाषाओ के निरन्तर बढते हुए प्रभावो से ऐसा प्रतीत होता है कि ये भाषाये धीरे धीरे लुप्त होती जा रही हैं। भाषाशास्त्रियो का ऐसा अनुमान है कि आदि मुडा भाषा भाषी भारत में सवत्र फैले थे परन्तु कालांतर मे आय और द्रविड भाषा वाले समुदायों के दबाव मे इनका अस्तित्व सीमित क्षेत्रो म ही रह गया।

चीनी तिब्बती भाषा परिवार की आदिवासी भाषायें

भारतवर्ष में चीनी तिब्बती भाषाओं को बोलने वालो की संख्या लगभग डेढ़ करोड है। भारत में इस शाखा की भाषायें यदा कदा असम के उत्तरी और पूर्वी भाग मे बोली जाती हैं। अधिकाशत आदिवासी ही इन भाषाओ के बोलने वाला मे है। मगोल प्रजातीय वग के आदिवासियो मे ही अधिकतर यह भाषायें बोली जाती हैं। इस परिवार की सभी भाषायें दो प्रमुख शाखाओ मे विभाजित की गई है तिब्बती–बर्मी तथा स्यामी चीनी। हिमालय के प्रदेशो जैसे नेपाल तथा दार्जिलिग मे केवल तिब्बती–बर्मी शाखा की बोलियाँ ही पाई जाती हैं। असम की भी अधिकाश बोलियाँ इसी शाखा के अन्तगत आती है। परन्तु असम के सुदूर पूर्व मे खामटी बोली स्यामी चीनी शाखा की है। उत्तरी असम के सीमांत प्रदेश मे अबोर मिरी तथा डाफला आदि कुछ अ य ि ब्बती बर्मी शाखा की आदिमजातियाँ है। असम राज्य मे ब्रह्म-पुत्र नदी के दक्षिण मे मिकिर तथा नागा लोगो की भाषायें भी तिब्बती बर्मी भाषायें हैं। इनमे मणिपुरी भाषा विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योकि इस भाषा मे बडे ही सुन्दर साहित्य का सजन हुआ है जिसे बगला एव असमिया लिपि के माध्यम से प्रकाशित भी किया गया है। इसके अतिरिक्त इस वर्ग की आदिमजातियो मे तथा चीनी तिब्बती भाषा परिवार से सबद्ध लुशाई लोग भी प्रगतिशील है।

उत्तर तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्र के आदिवासियो द्वारा बोली जाने वाली ये भाषायें उसी बृहद भाषा परिवार का ही एक अग हैं जिसके अतगत चीनी, स्यामी बर्मी तथा तिब्बती ये चार सभ्य भाषायें प्रमुख हैं।

प्रशा त महासागर क्षेत्र की भाषाओ मे मलाया तथा पालीनेशिया की भाषाओ का अत्यत महत्वपूर्ण स्थान है। इन भाषाओं का हिन्द चीन की मोन खमेर तथा भारत की खासी मुंडा भाषाओं से सम्बन्ध है। मौन-खमेर भाषा के बोलने वाले लोग इस समय थाईलैन्ड, बर्मा और भारत के कुछ जंगली भागों में ही आदिवासियो के रूप में रहते हैं। भारतवर्ष मे यह लोग केवल असम के पूर्वी प्रदेश में ही पाये जाते हैं। खासी भाषा इस भाषा से अत्यंत प्रभावित है तथा चारो ओर से तिब्बती बर्मी भाषाओ के बोलने वालों से घिरी हुई है। मूल रूप से मोन-खमेर भाषा से इसका संपर्क सदियों पहले से ही विच्छिन्न हो चुका है।

उपसंहार

भाषा एवं प्रजाति मे किसी प्रकार का अनिवार्य सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। विभिन्न भाषाओ के बोलने वाले एक ही प्रजातीय वर्ग के हो सकते हैं तथा एक ही भाषा के बोलने वालो मे कई प्रजातीय तत्व पाये जा सकते है। इसी प्रकार से प्रजातीय एवं भाषायी सीमायें जन समुदायो के क्षेत्रो के चयन मे बाधायें नही उत्पन्न करती। प्रागैतिहासिक युग से ही मनुष्य अपनी आवश्यकताओ क्षमताओ तथा वातावरण के प्रभावो के वशीभूत होकर विस्तृत क्षेत्रो मे भ्रमण करता रहा है। नदियो सागरो एवं पर्वतो जैसे भौगोलिक अवरोधो ने सदव उसकी गतिशीलता को सीमित किया है। सभ्यता एवं तकनीकी प्रगति ने इन अवरोधो को भी अर्थहीन बना दिया। विभिन्न संस्कृतियो एवं भाषाओ वाले समूहों के लिए विश्वव्यापी विस्तार का मार्ग प्रशस्त हुआ है। परन्तु सभ्यता से दूर अविकसित तकनीकी सीमाओ से घिरे हुये तथा परम्पराओ से जकडे हुये आदिवासियो के लिए अपने सीमित क्षेत्रो एवं अपने सीमित संसार को लाघना सभव नही हो सका। भारत वर्ष के सीमित क्षेत्रो मे बसे हुये आदिवासी समुदाय इसी विवशता का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

आदिवासियो के भौगोलिक प्रजातीय एवं भाषागत आधारों पर वर्गीकरण के अध्ययन से इन तीनो आधारो मे सामजस्य प्रतीत होना एक सयोग मात्र ही कहा जा सकता है। कुछ अपवादो को छोडकर भौगोलिक वर्गीकरण मे उल्लिखित भारतीय उपमहाद्वीप के तीनो आदिवासी क्षेत्रो के आदिवासियो मे प्रजातीय एवं भाषागत एकरूपता भी दिखाई पडती है। इन तीन आधारो के अतिरिक्त आर्थिक एवं सास्कृतिक आधारो पर भी आदिवासियो के वर्गीकरण किये गये हैं। अन्य अध्यायो मे इनका अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक वर्गीकरण वास्तव मे तथ्यो को समझने की दिशा मे एक व्यवस्थित साधन मात्र ही होता है। एक ही प्रकार के तथ्यो के भिन्न भिन्न आधारो पर वर्गीकरण उन तथ्यो के विभिन्न दृष्टिकोण ही होते हैं अत वे कभी भी अध्ययन का उद्देश्य अथवा साध्य नही माने जा सकते। भौगोलिक क्षेत्र भाषा तथा प्रजाति के आधारो पर किये गये वर्गीकरणो की विवेचना से भारत के आदिवासी समुदायो की पृष्ठभूमि का मूल्यांकन हो सका है। इसी पृष्ठभूमि मे उनकी विशिष्ट संस्कृति पनपती रही है और उनके धार्मिक विश्वासो एवं मान्यताओ ने उनके जीवन की गतिविधियो को नियंत्रित किया है।

3

आदिवासी-अर्थव्यवस्था

मुद्रा एव धन के अभाव में किसी प्रकार की अर्थव्यवस्था का होना—आधुनिक अर्थशास्त्रियो के लिए भले ही एक विचित्र स्थिति क्यो न हो—किंतु मानव वैज्ञानिको ने ऐसी व्यवस्थाओ से परिचय प्राप्त कर उनके विवरण प्रस्तुत किए हैं। अत्यन्त सरल तकनीकी साधनो का प्रयोग करते हुए जीवनयापन करना आदिवासियों ने अपनी परम्पराओ से सीखा है। किंतु आज जब हम उन्हें आर्थिक रूप से पिछडे मानते हुए हीनता की दृष्टि से देखते हैं तो वास्तव मे हम उनके अदम्य साहस एव उनकी अपार क्षमताओ का परिहास ही करते हैं। इन मुद्राविहीन अर्थव्यवस्थाओं की विशिष्टताओं ने ही उन्हें दरिद्रता एव अभाव की स्थिति मे भी गर्व से जीवित रहना सिखाया है।

मानव अपनी विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए जो प्रयत्न करता है उसे हम विभिन्न समूहो मे बाँट कर अलग-अलग प्रकार के संगठनो के नाम से सम्बोधित करते हैं। उदाहरण के लिए हम सामाजिक राजनैतिक, धार्मिक व्यवस्थाओ की बात करते हैं। इसी प्रकार आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए जो व्यवस्था की जाती है उसे हम अथव्यवस्था के नाम से जानते हैं। जब से मनुष्य इस पृथ्वी पर आया है वह निरतर अपने रहन-सहन की व्यवस्था को उपलब्ध साधनो के अनरूप उन्नत करने के लिए प्रयत्नशील रहा है। इन प्रयत्नो को सम्मिलित रूप से जब एक निर्धारित क्रम में व्यवस्थित किया जाता है तो विभिन्न अथ-व्यवस्थाक्रमो का रूप हमारे सामने आता है। विभिन्न मानव समाजो म उनके भौगोलिक वातावरण के सदभ मे हम भिन्न भिन्न प्रकार की अथ व्यवस्था पाते है जसे—कही कषि के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ है तो कही उद्योग ध धो के लिए इसी आधार पर हम कृषि अथव्यवस्था अथवा औद्योगिक अर्थव्यवस्था की बात करते है।

अथव्यवस्था के अ तगत विभिन्न समाजो द्वारा अपनी सस्कृति के माध्यम से अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए किये गये प्रयत्नो के अध्ययन के आधार पर अलग अलग विद्वानो ने विभि न प्रकार की अथव्य वस्थाओ का विवरण दिया है। इस क्षे त्र मे पहला प्रामाणिक विवरण ब्रिटेन के अठारहवी सदी के प्रसिद्ध अथशास्त्री एडम स्मिथ द्वारा प्रस्तुत किया गया था। उन्होने आखेट पशुपालन और कृषि के अ तगत मानव की आर्थिक क्रियाओ को वर्गीकत किया। इसे थोडा और विस्तृत करते हुए जाज फ्रेडरिक लिस्ट ने हस्तशिल्प तथा औद्योगिकी वाली आर्थिक क्रियाओ को भी इसमें सम्मिलित किया। उन्नीसवी सदी मे जमनी के विद्वान अर्थशास्त्री ब्रूनो हिल्डे ब्रा ड ने एक नये सदभ मे आर्थिक क्रियाओ का वर्गीकरण करते हुए इ हे वस्तु विनिमय मुद्रा प्रयाग तथा उधार या साख के अन्तगत विभाजित किया। अर्नेस्ट ग्रास ने मानव के रहन-सहन अर्थात सस्कृति पर आधारित आर्थिक सगठनो को एक उद्विकासीय क्रम मे निम्नलिखित पाँच रूपो मे बताया है—

1—सग्रहण की अथव्यवस्था

2—स्थाई सास्कतिक घुमक्कडी जीवन की अर्थव्यवस्था

3—ग्रामीण अर्थव्यवस्था

4—नगरीय अर्थव्यवस्था

5—महानगरीय अर्थव्यवस्था

प्रसिद्ध विकासवादी अमेरिकन मानवशास्त्री मार्गन ने भी आर्थिक

क्रियाओं को एक क्रमिक विकास की रेखा में निहित किया है। कार्ल मार्क्स ने भी इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है परन्तु नई खोजों तथा अध्ययनों के आधार पर अब अधिकाधिक विद्वान इस मत के समर्थक होते जा रहे हैं कि मानव ने अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के आर्थिक प्रयत्नो का सहारा लिया है और आज भी लेता है। परन्तु वह इस क्षेत्र में किसी एक निश्चित क्रमिक विकास से होकर गुजरा है, ऐसा नही कहा जा सकता। आर्थिक क्रियाओ के आधार पर कुछ प्रमुख विद्वानो द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण निम्नलिखित है —

डा० यू० आर० एह्रेनफेल्स ने जिन्होंने दक्षिण भारत की कादार आदिमजाति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है, दक्षिण पर्वी एशिया के निवासियो का अध्ययन करके आर्थिक क्रियाओ पर आधारित चार श्रेणियाँ बताई हैं —

1—खाद्य सामग्री सग्रहक

2—उच्च श्रेणी के शिकारी

3—घुमक्कड पशुपालक

4—कृषक

कुछ ऐसे विद्वान हुए हैं जिन्होने प्रारम्भिक समाजो के अध्ययन मे आर्थिक प्रयासो को ही मान्यता देना उचित माना है। उनके मतानुसार प्रारम्भ मे भोजन करना ही प्रत्येक मानव समाज का प्रमुख उद्देश्य था अत सभी कार्य और नियम इसी आर्थिक क्रिया से सम्बन्धित पाये जाते थे। सरल समाजो मे यह स्थिति विशेष रूप से स्पष्ट एव प्रभावकारी है। उनमे भोजन प्राप्त करने के तरीके उनके सामाजिक व्यवहारो से निकट सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार का एक विभाजन नीबोर द्वारा दिया गया है जिसमे आर्थिक प्रयत्नो के आधार पर जीवन के निम्नलिखित रूप बताए गए हैं—

1—कद मूल सग्रहक

2—शिकारी

3—मछली पकडने वाले

4—कृषक घुमक्कड अथवा शिकारी कृषक

5—निम्न श्रेणी के स्थायी कृषक जो शिकार एव पशुपालन भी करते हैं।

6—उच्च श्रेणी के कृषक जो सरल उपकरणो का उपयोग करते हैं।

7—घुमक्कड़ चरवाहे

उपरोक्त वर्गीकरण किसी निश्चित आर्थिक विकासक्रम के परिचायक नहीं हैं वरन ये केवल उन विभिन्न आर्थिक स्तरो को बताते हैं जो कि अलग-अलग समाजो मे तत्कालीन भौगोलिक एव सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल उत्पन्न हुए थे। अन्य विद्वानो द्वारा भी इस मत का समर्थन किया गया है और डरिल फोड तथा एम० जे० हर्सकोविट्स द्वारा दिया गया निम्न लिखित पचसूत्री विभाजन विशेष रूप से उल्लेखनीय है —

1—सग्रहण

2—शिकार

3—मछली पकडना

4—कृषि

5—पशुपालन

इसी परम्परा मे फ्रेडरिक रैटजल एडवर्ड हान तथा अलेक्जेन्डर वान हम्बोल्ड आदि विद्वानो ने भी अपने अपने अध्ययनो के आधार पर यह निष्कष निकाला कि ऐसे अनेक जनसमूह हैं जिन्होने सग्रहण एव शिकार की स्थिति से निकल कर सीध कृषक अथव्यवस्था को अपना लिया। कई क्षेत्रो मे हमको यह विभिन्न अथव्यवस्थायें एक दूसरे से मिली हुई भी मिलती हैं।' इन सम्मिलित अर्थव्यवस्थाओ के समथन मे हम ब्रिटिश समाजशास्त्री मारिस जिन्सबग के मत को भी पाते हैं जिन्होने एक समाज म पशुपालन कृषि शिकार आदि विभिन्न आर्थिक क्रियाओ को साथ साथ अपनाये जाने के उदाहरण देते हुए इसकी पुष्टि की है। इस दिशा मे जिन्सबग के अतिरिक्त ह्वीलर तथा हाबहाउस ने भी सम्मिलित अथव्यवस्थाओ के अध्ययन को अन्य सामाजिक तथा सास्कृतिक सस्थाओ के साथ-साथ देखने की आवश्यकता पर बल दिया है। परन्तु अथव्यवस्था के दृष्टिकोण से सम्मिलित आर्थिक प्रयत्नो का अध्ययन अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। इसी परम्परा मे थनवाल्ड द्वारा विभिन्न सम्मिलित आर्थिक प्रयत्नो पर आधारित समाजो का सात वर्गों मे किया गया वर्गीकरण अत्यन्त स्वाभाविक एव प्रामाणिक प्रतीत होता है। उनका वर्गीकरण निम्नलिखित रूप मे है —

1—ऐसे समरूपी समुदाय जिनमे पुरुष शिकार तथा पशु पक्षी फसाने का एव स्त्रियां खाद्य सामग्री सग्रहण का काय करती हैं।

2—ऐसे समरूपी समुदाय जो शिकार, पशु पक्षी फसाने एव कृषि का काय करते हैं।

3—ऐसे श्रेणीबद्ध समाज जिनके सदस्य शिकार, पशु-पक्षी फंसाने,

कृषि तथा शिल्प कार्य करते हैं ।

4—पशुपालक

5—समरूप शिकारी एवं पशुपालक

6—प्रजातीय श्रेणीबद्ध पशुपालक एवं व्यापारी

7—सामाजिक श्रेणीबद्ध पशुपालक जिनमें शिकारी, कृषक तथा शिल्पी जनसंख्या भी सम्मिलित हैं ।

इस प्रकार के अनेक वर्गीकरणों मे से किसी एक को ही आधार मान कर अध्ययन सम्भव नही है। भारतीय आदिमजातियो का अध्ययन करते हुए हम देखते हैं कि उनकी कुल जनसख्या का लगभग 80% कृषि तथा अन्य सहायक आर्थिक क्रियाओ पर अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए निर्भर करता है । प्रत्येक आदिमजाति मे भी कई प्रकार की आर्थिक क्रियाओ के प्रमाण मिलते हैं । इतना अवश्य है कि किसी एक आदिमजाति मे कोई एक प्रकार की आर्थिक क्रिया प्रमुख तथा अन्य क्रियाये गौण रूप में मिलती हैं । भारतवर्ष के आदिमजातीय समाज जिन विभिन्न आर्थिक क्रियाओ के द्वारा अपना जीवनयापन करते हैं उन्हे मोटे तौर पर निम्नलिखित समूहो मे बाँट सकते हैं —

1—खाद्य सग्रहक एव शिकारी

2—पशुपालक

3—अस्थाई कृषक

4—कृषक

5—शिल्पी

6—औद्योगिक मजदूर

खाद्य सग्रहक एव शिकारी

इस श्रेणी के अन्तर्गत वे आदिमजातीय समाज सम्मिलित किये जा सकते हैं जो अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए जगल या आस पास के क्षेत्रो से खाने योग्य फल, फूल कंदमूल शहद, तरकारियाँ आदि सामग्री तथा विनिमय योग्य मोम गोंद सींग, दाँत आदि सामग्री एकत्र करते हैं तथा साथ-साथ छोटे-छोटे जानवरों को पकड़ कर या मार कर उन पर भी आश्रित होते हैं । वे मछलियाँ पकड़ने का काम भी समयानुसार कर लेते हैं और इस प्रकार उनकी भोजन एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति होती है । मनुष्य का प्रारम्भिक जीवन प्रकृति के अत्यन्त सन्निकट रहा है और संग्रहण ही एक

ऐसा तरीका था जिससे वे अपना जीवनयापन सुविधानुसार कर पाने मे समर्थ हो सकते थे।

भूख एक ऐसी आवश्यकता है जिसकी पूर्ति यथाशीघ्र और तुरन्त करने की आवश्यकता होती है। इसके लिए आदिकालीन मानव के सामने कोई विशेष साधन नही थे। प्रकृति मे उपलब्ध सामग्रियो को अपनाने के अतिरिक्त उसके सामने कोई दूसरा मार्ग न था। धीरे धीरे कुछ विशेष वस्तुए उसे स्वाद देने लगी और उनकी खोज मे उसने आस पास के क्षेत्रो मे घूमना शुरू किया होगा। यही से खाद्य-सग्रह वाली स्थिति के आरम्भ का अनुमान लगाया जा सकता है। मनुष्य ने अपनी खाद्य सामग्री मे जहाँ एक ओर वनस्पति पदार्थों को खोजना जारी रक्खा वही पर साथ साथ मास को भी एक पूरक खाद्य पदार्थ के रूप मे स्वीकार करते हुए उसने पशुओ एव पक्षियो को पकडने तथा मारने के साथ-साथ मछलियो केकडो सीप घोघो तथा अन्य जलचरो को भी पकडना तथा भोजन के रूप मे प्रयोग करना सीखा। इस प्रकार मानव ने अपनी बुद्धि और क्षमता का प्रयोग करते हुए अपनी आर्थिक क्रियाओ को निरंतर विकसित करने का प्रयत्न किया।

आज भी हम इस प्रकार की अनेक भारतीय आदिमजातियाँ पाते है जो विशुद्ध रूप से अपने आस पास के प्राकृतिक साधनो पर ही निर्भर करती हुई अपना जीवन यापन कर रही है। भारत के दक्षिणी भाग मे पाई जाने वाली अनेक आदिमजातियाँ काफी हद तक खाद्य-सग्रह एव शिकार व्यवस्था को मुख्य आर्थिक आधार के रूप मे अपनाये हुए है। इनमे कोचीन के जगलो मे निवास करने वाले कादार तमिलनाड के मालापतरम पलियान पनियान, इरूला तथा कुरुम्बा आध्र प्रदेश की अ नामलाई पर्वत श्रेणियो मे निवास करने वाले चेचू प्रमुख रूप से देखे जा सकते है। साथ ही साथ बिहार के बिरहोर तथा खडिया मध्य प्रदेश के कमार बैगा तथा अबूझमाडिया आंध्र प्रदेश के येनादी तमिलनाडु के कोया तथा कोण्टारेड्डी और महाराष्ट्र के कत करी भी रखे जा सकते हैं। अण्डमान द्वीप समूह की ओंज जरवा आदि आदिमजातियाँ भी इसी श्रेणी मे आती है। इन सभी आदिमजातियो को हम विशुद्ध रूप से इस श्रेणी म ही मानते हो ऐसा नहीं है परन्तु मुख्य रूप से वे सभी खाद्य सग्रहक एव शिकारी की श्रेणी मे ही आती हैं। इनमे अन्य आर्थिक क्रियायें भी सहायक और पूरक रूप मे पाई जाती हैं।

खाद्य सग्रह एवं शिकार पर निर्भर आदिमजातियो के सर्वोत्तम उदाहरण के लिए हम अण्डमान द्वीप समूह के ओंज, जरवा तथा सेंटीनिलस

को देख सकते हैं । वे एक दूसरे के काफी निकट रहते हुए भी एक दूसरे की भाषा तथा संस्कृति से अनभिज्ञ हैं। इन्हें हम विशुद्ध रूप से स्थानीय सामग्रियों पर आधारित पाते है। जीवन निर्वाह के सीमित साधनों के अन्तर्गत हमे इनमें खाद्यसंग्रह, शिकार तथा मछली मारने पर आधारित अर्थव्यवस्था पाते हैं । जो लोग समुद्री किनारों पर रहते हैं उनका मुख्य आधार मछलियाँ और अन्दर के घने जगल वाले क्षेत्र मे रहने वालों का मुख्य आधार वहाँ के पशु-मुख्यतया सुअर—हैं। यद्यपि इन जगलो मे और अनेकों प्रकार के पशु मिलते हैं परन्तु सुअर का मास और चरबी इनका सबसे अधिक प्रिय खाद्य पदार्थ है ।

समुद्र तटो के निवासी मछली पकड़ने का काय जालो की सहायता से बहुत कम करते है । वे मछलियों तथा कछुओ के शिकार के लिए धनुष-बाण तथा भालो का प्रयोग बड़ी कुशलता से करते है । मछली का शिकार छोटी छोटी डोंगियो मे बैठकर करते हैं । कछुओ के अण्डे समुद्र के किनारो से सरलतापूवक प्राप्त कर लिये जाते हैं जब कि छिछले किनारो से सीप घोंघें तथा केकड़े भी काफी मात्रा मे इकट्ठे किये जाते है । यद्यपि इस क्षत्र मे पक्षी भी काफी मात्रा मे उपलब्ध हैं परन्तु ओज लोग इनका शिकार नहीं करते हैं । उनका कहना है कि घने पेडो और झाडियो मे तीर खो जाने पर उनको ढूढ़ना बड़ा कठिन है और तीर सरलता से उपलब्ध नही है । इनके तीरो की नोक कठोर लकडी अथवा लोहे की होती है ।

वे शहद खाने के बडे शौकीन होते हैं और जनवरी से माच तक शहद एकत्रित करते हैं । वहा पर उपलब्ध टोमी नामक पत्ती के रस को लार मे मिलाकर शरीर पर चुपड लेते हैं इससे शहद की मक्खियाँ दूर रहती है और काट नही पाती है। फिर छत्तो को छेद कर या उतार कर शहद निकाल लिया जाता है । इसके अतिरिक्त वे फलो पौधा की जडो तथा शाक भाजी का प्रयोग भी करते हैं । इनके भोजन मे एक विशेषता यह है कि वे नमक का प्रयोग भोजन पकाते समय बिल्कुल नही करते हैं । एक व्यक्ति औसतन एक दिन मे 2 से 7 पौण्ड तक सामग्री भोजन के रूप मे ग्रहण करता है । जब भोजन अधिक कर लिया जाता है तब वे दो-तीन दिन तक बिना खाये भी बने रहते हैं । इनका भोजन पर्याप्त पौष्टिक एव शक्तिदायक होता है । खाद्य सामग्री पर पूरे समूह का स्वामित्व होता है ।

खाद्य-संग्रहक एवं शिकारी समूहो मे कोचीन की कादार आदिमजाति का विवरण भी इस वर्ग के उपयुक्त उदाहरण के रूप में किया जा सकता है।

कोचीन की दुर्गम पर्वतमालाओं एवं घने जंगलो मे रहने वाली इस आदिम जाति को हम भारत की एक ऐसी आदिमजाति के रूप में पाते हैं जिनमे किसी भी प्रकार की खेती प्रचलित नही है। इस आदिमजाति के नाम कादार का अर्थ ही 'जंगल के निवासी हैं। सामान्यतया ये जंगलो के आंतरिक क्षेत्रो मे 15-20 टट्टर प्रकार की झोपड़ियो का एक समूह बनाकर रहते हैं। एक समूह की सदस्य संख्या 30-40 के लगभग होती है। वे कुछ समय पूर्व तक केवल जंगल से प्राप्त विभिन्न सामग्रियो को एकत्र करने पर ही निर्भर करते थे। इनमे मुख्य रूप से शहद कालीमिर्च मोम कन्दमूल, केले आदि सामग्रियाँ सामान्यतया महिलाओ द्वारा ही एकत्रित की जाती हैं। दूसरी ओर छोटे छोटे पशुओ के शिकार और मछली पकडने का कार्य केवल पुरुषो द्वारा ही किया जाता है। वे लंगूर बंदर का शिकार विशेष पसंद करते हैं। परन्तु जंगली भैसे अथवा रीछ का न तो शिकार ही करते है और न उसका मांस खाते हैं। बकरियाँ मुर्गियाँ तथा अन्य पशुओ को पालने की प्रथा भी इनमे पाई जाती है।

खाद्य संग्रह क लिए वे खोदने वाली लकडी को प्रमुख उपकरण के रूप म प्रयोग में लाते हैं। इस लकडी का एक सिरा नोकीला होता है जिससे विभिन्न सामग्रिया खोदने का काम लिया जाता है। इस खोदने वाली लकडी को स्थानीय भाषा मे कूरम कोल कहते हैं। आजकल एक पहले से अधिक विकसित छडी का प्रयोग होने लगा है जिसका नोकीला हिस्सा एक फल (ब्लेड) के रूप मे मुख्य लकडी से जुडा होता है और इसे स्थानीय भाषा में पाराकोल कहते हैं। इसके अतिरिक्त बाँस का धनुष और चाकू इनके शिकार के काय के उपयोगी हथियार है। शिकार मे सहायता के लिए ये कुत्ते भी पालते हैं। बच्चे भी गुलेल वाले धनुष का प्रयोग करते हैं। शहद एकत्रित करने के लिए इन्हे बहुधा ऊँचे ऊचे पेडो या ढालू चट्टानो पर चढना पडता है और इस काय मे कादार लोग विशेषकर प्रवीण होते हैं। वे पहाडो की सीधी चट्टाना पर भी कुशलतापूवक चढने मे समथ होते हैं। शहद एकत्र करना इनका अत्यन्त रुचिकर काय है।

इनमे निवास के लिए बाँस व पत्तो की सहायता से टट्टर की झोपडियों का निर्माण किया जाता है जो कि स्त्रियाँ करती है। कभी कभी यह टट्टर पेडो पर भी बनाए जाते हैं जहाँ वे जंगली पशुओ एवं वर्षा के बहने वाले पानी तथा कीचड आदि से सुरक्षा प्रदान करते हैं। दस्तकारी के नाम पर हम इनमें कोई चीज नहीं पाते हैं परन्तु बास की कघी बनाने मे कादार

पुरुष वैसे ही निपुण हैं जैसे कि फिलीपीन्स के ऐटा एवं मलक्का के स्मांग तथा सिनोई लोग। वे बांस की चटाई भी बुन लेते हैं। साथ ही साथ हम उनमें बांस के बने प्यालो के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के बर्तनो का प्रयोग नही पाते हैं। वस्त्रों के नाम पर परम्परागत रूप से वे लम्बी घास तथा पत्तो के बने लहगें (स्कर्ट) स्त्रियो के लिए तथा घास की लंगोटी पुरुषों के लिए प्रयोग में लाते हैं। अग्नि का प्रयोग इनमे पाया जाता है जिसे सामान्यतया बार बार जलाने के बजाय एक बार जलाकर सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जाता है। इनमे किसी सामग्री के स्वामित्व की भावना का नितान्त अभाव पाया जाता है।

इधर पिछले दो दशको मे इनकी अर्थव्यवस्था मे काफी परिवर्तन आया है। जब से वे जगल मे ठकेदारो के सम्पर्क में आकर उनके लिए शहद, मोम काली मिर्च बेंत आदि एकत्रित करने लगे हैं वे अपने परम्परागत जीवन से विमुख होते जा रहे हैं। ठेकेदारो ने उन्हे अतिरिक्त सामग्रियाँ एकत्रित करने के लिए मुफ्त उपहार के रूप मे नशीली सामग्रियाँ देना शुरू किया जिसके लालच मे वे देर देर तक कार्य करने लगे और थकान मिटाने के लिए इन नशीले पदार्थों का सेवन करने लगे। इसके साथ ही अब उन्हे अपने भोजन के लिए भी प्राकृतिक सामग्रियो के स्थान पर चावल प्याज आदि का सहारा लेना पड़ा क्योंकि ठेकेदारो का काम करने के बाद अपने भोजन की सामग्री एकत्र करने का भी समय नही मिलने लगा। इनके सम्पर्क मे आकर वस्त्रो का प्रयोग भी शुरू हुआ परन्तु आर्थिक साधनो के अभाव मे केवल एक ही वस्त्र लगातार पहने रहने से त्वचा सम्बन्धी बीमारियाँ भी होने लगी। इस तरह कुल मिलाकर वे अतिरिक्त परिश्रम, नशीले पदार्थों के सेवन अपौष्टिक भोजन आदि के परिणामस्वरूप अपना स्वास्थ्य और शक्ति नष्ट करने की दिशा मे बढ रहे हैं। बाह्य सम्पर्क के परिणामस्वरूप अनैतिक आचरण का आरम्भ हुआ तथा उनमे मधुमेह और यौन व्याधियो का भी प्रवेश हो गया है।

इस श्रेणी की अन्य आदिमजातियो का आर्थिक जीवन भी कादार लोगो के समान ही पाया जाता है। यह अतर अवश्य होता है कि भिन्न भिन्न क्षेत्रो की भौगोलिक परिस्थितियो के अनुकूल वहाँ पर अलग अलग खाद्य सामग्री या शिकार के पशु पक्षी मिलते हैं। इनके शिकार या पकड़ने के लिए हम स्थानीय साधनो से बनाए हुए अलग अलग प्रकार के जाल पिंजड़े, फंदे आदि भी पाते हैं। इनमे भौतिक सस्कृति के दृष्टिकोण से भी

थोडा बहुत अतर पाया जाता है। भिन्न भिन्न क्षेत्रों मे मछली पकडने के लिए तीर, बर्छे, जाल पिंजडे या विषाक्त सामग्रियो का प्रयोग भी स्थानीय परम्पराओ के अनुकूल अलग अलग पाया जाता है।

मालापन्तम मध्य ट्रावनकोर पहाडियों मे निवास करने वाली एक आदिमजाति है जो कि सामान्यतया किसी नदी नाले के किनारे छोटी सी तिकोने आकार वाली पत्तो एव बांसो की झोपडियां बनाकर रहते हैं। वे न तो कृषि के साधनो से परिचित है और न इसमे उनकी कोई रुचि है। वे अपने भोजन एव अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए मुख्यतया जगल से प्राप्त फल फूल एव कदमूल पर निभर रहा करते हैं। वे बहुधा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को जाते रहते हैं क्योंकि एक स्थान पर अधिक दिनो तक खाद्य सामग्रियां सरलता से नही मिलती हैं। शिकार का भी इनमे विशेष प्रचलन नही है क्योकि इनके पास शिकार का कोई हथियार नही है। कभी कभी वे लगूर खरगोश गिलहरी आदि जीवो को अपने पालतू कुत्तो की सहायता से पकडने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने घरो के सामने ही खुले मे अपने चूल्हे बनाते हैं और इनमे रात को जगली पशुओ से सुरक्षा के लिए निरतर आग जलाई रखी जाती है।

पानियान मालाबार के वन्य क्षत्रो मे निवास करने वाली आदिम जाति है। पानियान तीर कमान की सहायता से कुशलता पूर्वक शिकार करने मे समथ होते हैं। वे मछली का भी शिकार करते हैं। कभी कभी जहरीली जडी बूटियो को पीस कर पानी मे मिलाकर मछलियो को बेहोश करके पकड़ा जाता है। इसके साथ साथ वे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए खेतो मे भी काम करते हैं। इनके निवास क्षत्र में अफीम काफी चाय, काली मिर्च आदि की पदावार की जाने लगी है।

कुरुम्बा मालाबार के जगलो मे रहते हैं और इनकी तीन प्रमुख शाखाएं है। एक जेन कुरुम्बा जो मुख्यतया शहद एकत्र करने पर निभर रहते हैं। दूसरे बेट कुरुम्बा जो कृषि को मुख्य आधार मानते हैं और तीसरे मुलू कुरुम्बा जो तीर कमान से शिकार करने का कार्य मुख्य रूप से करते हैं।

आन्ध्र प्रदेश के चेंचू भी कृषि से अनभिज्ञ हैं। वे मुख्यतया जगल से शहद फल फूल और जडें इत्यादि एकत्रित करते हैं और यही उनका मुख्य भोजन है। वे तीर कमान की सहायता से शिकार भी करते हैं और मांस का प्रयोग भोजन में करते हैं। कुत्ता उनका पालतू जानवर है। इसके अतिरिक्त बकरी तथा मुर्गी पालने की प्रथा भी इनमे पाई जाती है जो कि इनके भोजन

का भी एक अंग है । महुआ का फूल खाने के काम मे लाते हैं तथा इसकी शराब भी पीते हैं ।

छोटा नागपुर बिहार के बिरहोर भी घुमक्कड़ हैं । यह लोग रस्सियो के बनाये हुए जालो तथा फंदो की सहायता से बन्दर पकड़ने मे विशेष प्रवीण होते हैं । बंदर पकड़ना इनका मुख्य कार्य है । यह लोग जंगल से घास इकट्ठी करके उसकी रस्सी डलियाँ आदि बना कर बेचते हैं और इसी से अपनी जीविका चलाते हैं । इनमे मुर्गी, कबूतर बकरी आदि की बलि देने तथा मांस खाने का विशेष प्रचलन पाया जाता है ।

इस प्रकार इन तमाम आदिमजातियो के अध्ययन से खाद्य संग्रहक तथा शिकारी श्रेणी की आदिमजातियो की मुख्य विशेषताओ मे हम सबसे पहले उपकरणो एवं साधनो का नितांत अभाव पाते हैं । अधिकांश मे यह लोग अपनी शारीरिक क्षमता तथा कुशलता के सहारे ही अपना जीवन यापन करते है । इनकी अर्थ व्यवस्था मे तकनीकी ज्ञान का नितांत अभाव होता है जो कि औद्योगिक विकास के प्रारम्भिक स्तर पर अत्यंत स्वाभाविक सा है । वे किसी सामग्री को आवश्यकता से अधिक प्राप्त करने का भी प्रयत्न नहीं करते क्योंकि अतिरिक्त वस्तुओ को सुरक्षित रखने का ज्ञान एवं साधनो का अभाव और घुमक्कड तथा अस्थाई निवास की परिस्थितियों मे इसकी उपयोगिता भी नही है । साथ ही साथ अतिरिक्त सामग्री एकत्र करने या प्राप्त करने के लिए विकसित तथा जटिल साधनो की आवश्यकता होती है जिसका इनमे प्रश्न ही नही उठता है । इनका घुमक्कड होना भी इसी मजबूरी का परिणाम है क्योकि एक स्थान पर रहते हुए जीवन यापन की प्राकृतिक सामग्रियाँ अधिक समय तक साथ नही दे पाती हैं । वे घने एवं निर्जन जंगलो तक ही सीमित रहना पसन्द करते हैं क्योंकि वहाँ अन्य लोगो द्वारा उनके प्राकृतिक साधनो के उपभोग का भय नही रहता है । इनमे निवास स्थलो का भी अस्थाई प्रबन्ध मिलता है क्योकि एक स्थान पर थोडे दिनो ही रहना होता है तथा तकनीकी ज्ञान की कमी भी इसका एक कारण है । निरंतर भ्रमण शीलता के परिणामस्वरूप इनमे भौतिक संस्कृति का भी विकास नहीं हो पाता है और इसी कारण आर्थिक क्षेत्र मे भी प्रगति के अवसर नहीं मिलते हैं । वे निरंतर खाद्य सामग्री जुटाने में ही लगे रहते हैं और जीवन का अधिकांश समय इसी में लगे रहने के कारण अन्य किसी क्षेत्र में विकास का अवसर ही नहीं आ पाता है ।

पशुपालक

इस श्रेणी के अंतर्गत उन आदिमजातियो को रखा जाता है जो पशुपालन का कार्य करते हुए अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करती हैं। मनुष्य ने प्रकृति पर निर्भर रहने की दशा मे यह अनुभव किया कि कुछ पशु ऐसे भी हैं जो निरतर जीवन के भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे सहायक होते हैं। शिकार करने वाली आदिमजातियो मे कुत्ते को बहुधा साथी और सहायक के रूप मे पाला जाता है। इसके अतिरिक्त मुर्गी बत्तख बकरी सुअर भेड, गाय भैंस आदि अन्य ऐसे जीव हैं जो घर मे पाले जाने पर यदा कदा भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओ तथा अन्य कामो की पूर्ति के लिए भी उपयोगी सिद्ध होते हैं। इन्ही जीवो को जब अधिक संख्या मे पालकर उनसे आर्थिक लाभ व्यापारिक स्तर पर प्राप्त किया जाता है अथवा उनको जीवन यापन का साधन बना लिया जाता है तब इसे हम पशुपालन की अर्थव्यवस्था कहते हैं। इस अवस्था को अपनाने के पीछे जीवन को घुमक्कडी के साथ साथ थोडा स्थायित्व प्रदान करने की भी भावना मिलती है क्योकि इस अवस्था के अतगत आने वाले लोग केवल मौसमो के परिवतन पर ही निश्चित स्थानो को आते जाते हैं और इनका काय क्षेत्र इस प्रकार लगभग स्थायी सा रहता है।

भारतीय आदिमजातियो मे दक्षिण भारत मे नीलगिरी पहाडी के टोडा तथा उत्तर भारत मे हिमाचल प्रदेश के चम्बा क्षेत्र की पहाडियो के गुज्जर प्रमुख पशुपालक है। यो उत्तर प्रदेश के भोटिया भी आशिक रूप से पशुपालको की श्रणी मे रखे जा सकते हैं। वैसे हम तमाम अय समूहो मे भी अलग अलग पालतू पशु पाते हैं परन्तु वे उन आदिमजातियो के मुख्य आर्थिक आधार का निर्माण नही करते हैं।

टोडा भारत के ही नही वरन विश्व के प्रमुख पशु पालको मे अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। दक्षिण भारत को नीलगिरि पहाडियो मे लगभग 6000 से 7000 फुट की ऊचाई पर फैले हुए 500 वगमील के पहाडी क्षेत्र मे इन लोगो का मुख्य निवास है। यहाँ की जलवायु इनके पशुओ के लिए उपयोगी घास और चरागाहो के लिए बहुत उपयुक्त है अत प्राकृतिक रूप से भी इनके व्यवसाय को फलने फूलने की पूरी सुविधा यहा मिलती है। इस पठारी क्षेत्र के चारो ओर ढलवा घने जगली क्षेत्र हैं जहाँ रहने वाली बडागा तथा कोटा आदिमजातियाँ इनको अन्न वस्त्र, उपकरण आदि प्रदान कर बदले मे इनका घी, दूध ले लेती हैं।

टोडा विशुद्ध रूप से पशुपालक हैं तथा इनमें सहायक अर्थव्यवस्था के रूप से कभी कोई अन्य दस्तकारी या कृषि आदि का आधार नहीं मिलता है। वे भैंस पालते हैं जो साधारणतया अच्छी नस्ल वाली और खूब दूध देने वाली होती हैं। इनकी सेवा भी वे विशेष रूप से करते हैं, क्योंकि सारे समय उनका यही एक कार्य होता है। भैंसों को पालने और उनकी देखभाल तथा दूध घी निकालने और बनाने की सभी क्रियाओ मे केवल पुरुष वर्ग के सदस्य ही हिस्सा लेते हैं। स्त्रियो को धार्मिक एव पारम्परिक मान्यताओ के अन्तर्गत अशुद्ध मानकर इस सारे आर्थिक कार्यक्रम से अलग रखा जाता है। पशुओ को चराने का काम बच्चे करते हैं जो दिन भर इनको अपने निश्चित चरागाहो मे चराते हैं तथा रात को निश्चित स्थान में बन्द कर देते हैं। इन स्थानो को अलग अलग मौसम और चराई की सुविधा के दृष्टिकोण से तथा कभी-कभी धार्मिक प्रभाव के कारण भी बदल लेते हैं। इन भैंसो को दो समूहो मे बाँटा जाता है एक तो साधारण एव सामान्य पवित्र भस जो कि विभिन्न परिवारो की सम्पत्ति होती हैं तथा जिनकी देखभाल का काम उस परिवार के सदस्यो तक ही सीमित होता है और दूसरी सर्वाधिक पवित्र भैंसे जो स्थानीय भाषा मे टाई समूह' के नाम से जानी जाती हैं और यह पूरे गाँव की सम्पत्ति होती हैं। सामान्य पवित्र भैंसें जो परिवार की सम्पत्ति मे आती है शेष साधारण भैंसो से अलग रखी जाती हैं। सभी प्रकार की भैंसो के रहने का प्रबन्ध एक निश्चित अलग घर मे होता है और उसी के पास मालिक का मकान या पवित्र डेरी का भवन होता है। साधारण भसो और सामान्य पवित्र भैंसों के अलग अलग समूहो की देखभाल अनेक विधिविधानो के अन्तगत की जाती है। सर्वाधिक पवित्र भैंसो के लिए गाँव से थोड़ा हटकर पवित्र डरी भवन का निर्माण होता है। इन पवित्र डेरियो का कार्य सचालन करने वाला व्यक्ति विशेष सस्कारो का पालन करने पर चुना जाता है और उसे स्थानीय भाषा मे पलोल' के नाम से सम्बोधित करते हैं। इन डेरियो को मदिर की भाँति और पलोल को पुजारी की भाँति पवित्र माना जाता है। इन पवित्र डेरियों से दूध निकालने जमाने मथने, घी निकालने गरम करने आदि के तमाम काम निश्चित तरीको से किए जाते हैं। इनके प्रत्येक कार्य का अलग विधि-विधान होता है तथा मन्त्रोच्चारण के साथ प्रत्येक काय किया जाता है। निश्चित बर्तनो मे दूध दुहने व जमाने का काम होता है। उन बर्तनो आदि को रखने का स्थान, दिशा, संख्या सभी निर्धारित रहती है। इसी प्रकार की धर्मान्धता के परिणामस्वरूप रिवर्स महोदय के विचार से

टोडा आदिमजाति का वास्तविक रूप समाप्त होता जा रहा है।

सामान्य डेरियों में भी दूध निकालनें जमाने आदि का कार्य पुरुषों द्वारा ही किया जाता है जो दिन में दो बार प्रात सूर्योदय के साथ तथा सायं चौथे पहर के समय होता है। इस दूध को दही, घी मक्खन आदि रूपों में बेचा जाता है और सारा व्यापार विनिमय बडागा तथा कोटा आदिमजातियों के माध्यम से ही होता है। ये गायें भी पालते हैं जिनके अच्छे बछडों को नस्ल बढाने के लिए रख लेते हैं तथा शेष को बलि देकर या ऐसें ही कोटा लोगो को दे दिया जाता है जो बदले मे टोडा लोगो को मिटटी तथा धातु के बर्तन वाद्य यंत्र तथा अन्य सामग्रिया देते हैं। बडागा कृषक है जो टोडा लोगों को कुछ अनाज तो कर रूप मे और कुछ विनिमय मे प्रदान करते हैं।

भौतिक सस्कृति के नाम पर इनमे अधिकांशतया डेरियों से सम्बन्धित सामग्री ही होती है। दूध दही रखने के बाँस मिटटी धातु आदि के बर्तन तथा घटियां दीपक चाकू आदि ही इनमे मुख्य हैं। यो झाडू चलनी कुल्हाडी आदि भी घरों मे मिलती है। काटो से सुई का काम लेते ह तथा पत्तो के गिलास कटोरें आदि बनाकर अपना काम चला लेते हैं। युद्ध या शिकार के लिए कोई हथियार नही है क्योकि इनकी कभी आवश्यकता नही पडती है। गायन वादन के रूप मे बासुरी का कभी कभी प्रयोग होता है। नाच केवल शवयात्रा के समय और अत्यत प्रारम्भिक कोटि का होता है। स्त्रियो और पुरुषों दोनो मे गहनो का प्रयोग अवश्य पाया जाता है। इनके मकान छोटे और अच्छे प्रकार के होते हैं जो लम्बाई मे बीच से कटे हुए ड्रम के आकार के होते ह जिन्हे स्थानीय भाषा मे आरस के नाम से जानते हैं।

भोजन मे दूध व दुग्ध सामग्रियों का बाहुल्य होता हैं। साथ ही साथ शाक भाजी जगली बेर फल तथा बास की कोपलों का पर्याप्त प्रयोग मिलता हैं। इनमें अनाज के नाम पर चावल तथा जुनरी का प्रयोग होता है। मटठा पर्याप्त मात्रा में पेय पदार्थ के रूप मे प्रयोग किया जाता है। वर्ष मे एक बार उत्सव के अवसर पर बलिदान की हुई भैंस का मास और यों कभी कभी केवल साभर हिरन का मास खाया जाता है। पुरुष ही भोजन पकाते हैं और स्त्रियो से पहले खा लेते है।

सम्पत्ति व्यक्तिगत पारिवारिक तथा गोत्र की होती है। वस्त्र, गहनें एवं व्यक्तिगत उपयोग की वस्तुए व्यक्तिगत सम्पत्ति में आती हैं। साधारण एव सामान्य पवित्र भैसें, मकान आदि परिवार की सम्पत्ति है। सर्वाधिक पवित्र भैसें, पवित्र डेरी चरागाह बडे बडे गाव आदि पूरे गोत्र की सम्पत्ति

है। सम्पत्ति का हस्तांतरण पिता से पुत्र को होता है। यह केवल सामाजिक मान्यता प्राप्त पुत्रों में बराबर बाँटी जाती है। परन्तु सबसे छोटे तथा सबसे बड़े लड़के को भैंसों का बंटवारा करते समय एक एक अतिरिक्त पशु मिलता है। इस प्रकार बांटने के बाद बचे हुए पशुओं को बेचकर प्राप्त धन या सामग्री बराबर बाँट ली जाती है अथवा कोई एक भाई अन्य भाईयो को उनके हिस्से का धन या सामग्री देकर पशुओं को स्वयं रख लेता है। लड़कियों को दहेज के अतिरिक्त सम्पत्ति मे कोई हिस्सा नही मिलता है। मृत पुत्र की सतानो को उसका हिस्सा बाँट दिया जाता है। पिता का कर्ज भी पुत्र निबटाते हैं और पुत्र न होने पर भाई निबटाते हैं।

प्रत्येक परिवार तथा गोत्र का एक मुखिया होता है। परिवार का मुखिया गोत्र के लिए धन प्रदान करने के लिए उत्तरदायी होता है। टोडा समूह के मुखिया का काय 'नईम नामक एक परिषद करती है जिसमे पाच सदस्य होते हैं, जिनमे आदिमजाति के बडे अर्धांश टारथर से तीन तथा छोटे अर्धांश तेवाली से एक और एक बडागा आदिमजाति का सदस्य होता है। इसकी सदस्यता कुछ गोत्रो के विशिष्ट परिवारो को प्राप्त होती है। यह परिषद दीवानी मामलो के लिए न्यायालय का काम करती है। फौजदारी के मामले होते ही नही हैं।

हिमाचल प्रदेश के चम्बा क्षेत्र के गुज्जर भी केवल पशुपालन पर ही आधारित हैं। इनका मुख्य व्यवसाय गाय भैंस पालना तथा इनका दूध घी बेचकर जीवन निर्वाह करना है। यह अधिकाशतया खानाबदोशी का जीवन व्यतीत करते हैं, यद्यपि यह एक सीमित क्षेत्र मे ही है। गर्मिया शुरू होने पर यह अपने पशुओ, परिवार तथा घर का सामान साथ लेकर ऊचे पहाडी क्षेत्रो तथा जगलो मे चले जाते हैं जहाँ जानवरों को चराने के लिए घास अच्छी और प्रचुर मात्रा मे मिलती है। इस दौरान यह लम्बी दूरी तक और कभी कभी 10 000 फुट की ऊँचाई वाले क्षेत्रो तक चले जाते हैं। पुन सर्दियाँ शुरु होने पर नीचे के मैदानी इलाको मे वापस आ जाते हैं। इन्हें पशुओ को जगल मे चराने के लिए वनविभाग से निश्चित कर देकर भूमि का परमिट लेना पडता है। समय के साथ साथ इनके पशुओ मे वृद्धि और जंगलो की कमी का प्रभाव इन पर भी पड रहा है। इनको अपनी परम्परागत चरागाहें ही सुविधाजनक रहती हैं क्योंकि वहाँ पर पुराने बने अस्थाई मकान रहने के लिए होते हैं तथा क्षेत्रीय भूमि का भी ज्ञान रहता है। अब ऐसी चरागाहें मिलने में भी असुविधा होने लगी है क्योंकि आवश्यकता से

चरागाहों की सख्या कम पड रही है। तमाम प्राकतिक विपदाओ के रहते हुए यह जो कुछ दूध और अन्य सामग्री तैयार करते हैं उसका अधिकांश महाजनो एव ऋणदाताओ के पास पहु च जाता है। अनपढ़ और सरल स्वभाव के कारण इनका आर्थिक शोषण हर ओर से होता है।

उत्तर प्रदेश के उत्तराखड डिवीजन के चमोली जिले की पहाडियो में भोटिया आदिमजाति पाई जाती है। इनके गाँव समुद्रतल से 9000 से 12000 फुट की ऊँचाई पर स्थित हैं और वहा ये पशुपालन को भी एक आर्थिक आधार के रूप मे स्वीकार करते है। यो यह खेती और व्यापार का काय करते है। इनका मुख्य काय पिछले दशक तक तिब्बत से व्यापार करना था जो कि 1962 के चीन से हुए युद्ध के बाद बद हो गया है। इनके पशुओ मे भेड और बकरियाँ प्रमुख है जिनको ये ऊन प्राप्त करने दूध और मास प्राप्त करने तथा बोझा ढोने के काम मे लाते है। यह पशु छोटे आकार के होते हैं। पशुपालन एव खेती के अतिरिक्त यह शहद भी इकटठा करते हैं। शहद के छत्तो से प्राप्त माम भी इनका आर्थिक दष्टि से लाभ देता है।

अस्थायी कृषक

भारतवष की लगभग तीन करोड आदिमजातीय जनसख्या का नब्बे प्रतिशत कृषि पर निभर करता है। कृषि के तरीके भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे अलग अलग मिलते है। भारतीय आदिमजातियो म कृषि के दो रूप अलग किये जा सकते है। एक तो पुरातन परम्परागत तरीका जिसम जगलो झाडियो को काट कर जलाकर बिना कृषि उपकरणो की सहायता से खेती की जाती है और दूसरा कृषि उपकरणों की सहायता से स्थायी तौर पर की जाने वाली खेती।

इस अस्थायी या पुरातन परम्परागत खेती का प्रचार हम लगभग सारे भारतवष मे पाते हैं। जब मनुष्य ने घुमक्कडी शिकार खाद्य-सग्रह आदि का जीवन व्यतीत करने के बाद घर के पास थोड बहुत पौधे शाक सब्जी, फल आदि उगाना सीखा तो धीरे धीरे उसका ध्यान अ न उत्पादन और स्थायी निवास की ओर भी आया होगा। इसी परम्परा में उसने अन्न उपजाने के लिए अपने आस पास के वातावरण को बदलने का प्रयत्न किया और यही से जगलो को काटकर खेती के लायक साफ मैदान बनाने की प्रथा शुरू हुई होगी। चूकि पहले मानव अधिकाशत जगल से प्राप्त फल सब्जी, शिकार आदि पर निभर करता था अत जगलो मे ही उसका निवास था। इन

जगलों को बिना काटे खेती करना सम्भव नहीं था अत जंगल काटे गए। पुन उसको अब तक खेती के कोई तरीके तो आते नही थे केवल घर के आस पास खाए गए फलो आदि के बीजो से उगते हुए पेड और तरकारियो की बेलें आदि देखीं थीं अत उसने इन काटे गए पेड़ो को जलाकर पथरीली भूमि को राख वाली मिट्टी की सतह से ढक कर उसमे बीज बिखेर कर खेती शुरू की और धीरे-धीरे यही उसका मुख्य आर्थिक आधार बन गया।

अस्थायी खेती को भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे अलग-अलग नामों से जाना जाता है। असम मे इसे झूम या जूम के नाम से उडीसा मे रामा दाह या दाही पोडु कामाना या कोमन गुडिया या डोंगरचस नामो से मध्यप्रदेश मे बेवुर पेंडा आदि नामो से जाना जाता है। इस प्रकार की खेती असम नेफा त्रिपुरा मनीपुर क्षेत्र की लोहटा एव अगामी नागाओ खासी और कुकी मे बगाल के मलपहाडिया मे बिहार के असुर मे उडीसा के साओरा व जुआग मे उत्तर प्रदेश के कोरवा मे, मध्यप्रदेश के बैगा व गोड मे विशेष रूप से प्रचलित है।

अस्थायी कृषि के अन्तर्गत खेत तो एक स्थान से दूसरे स्थान को बदलते रहते हैं परन्तु खेती करने वाले एक ही स्थान पर गाँव बसा कर स्थायी रूप से रहते हैं और इस प्रकार स्थायी निवास की परम्परा यहाँ से पुष्ट होना शुरू होती है। इस तरीके के अन्तर्गत आने वाली आदिमजातियो के सदस्य अपने गाँव के जगल वाले क्षेत्र मे एक टुकडा खेती के लिए चुनते हैं। अपने धम के पुरोहित या ज्योतिषी से पूछकर धार्मिक विधि विधान के साथ उस टुकडे के सभी पेड काट लिए जाते हैं। यह काय वर्षा से काफी पहले कर लेते है ताकि पेड सूख सकें और वर्षा के पहले ही उनको जलाकर राख की सतह तैयार की जा सके। पेडो को कभी तो जड से काट देते हैं और कभी शाखाओ को काट कर पेड के तने के चारो ओर ढेर कर देते हैं। सूख जाने पर इसको आग लगा कर जला दिया जाता है और ठडे होने पर राख को सारे खेत मे छितरा देते है। कहीं-कहीं किसी खोदने वाली लकडी या कुदाल से भूमि खोदकर या यो ही छितरा कर बीज बो दिये जाते है जो वर्षा के साथ साथ उगते और बडे होते हैं। जब इस प्रकार फसल तैयार हो जाती है तो काट ली जाती है। इस बीच मे पक्षियो और जगली पशुओ से इसकी सुरक्षा का प्रबन्ध रखा जाता है। इस प्रकार के खेत मे उत्तर तथा उत्तर पूर्वी सीमात क्षेत्रो में एक या दो फसलें तथा उडीसा व मध्य प्रदेश के क्षेत्रो में तीन फसलें तक उगाई जाती हैं। फिर उस खेत को कई वर्षों के लिए

छोड़ दिया जाता है ताकि वहां फिर पेड़ उग सकें और तब उन्हें काट कर दुबारा खेती की जा सके।

इस पद्धति को अपनाना यद्यपि प्राकृतिक रूप से सम्भव हुआ वहीं पर इसके अपनाए जाने के लिए कुछ धार्मिक स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत किये जाते हैं। जहां एक ओर मनु ने ब्राह्मणो के लिए हल चलाना वर्जित किया है वहीं पर आदिमजातियो मे मध्यप्रदेश के बैगा मे भी ऐसा ही निषेध पाया जाता है। उनमे प्रचलित विश्वास के अन्तर्गत उनके पूर्वज 'नंगा बैगा' को भगवान ने हल चलाने से मना कर दिया था क्योंकि इससे धरती माता का हृदय विदीर्ण होता है। दूसरी ओर आदिमजातियो मे कृषि के ज्ञान एवं साधनों की भी नितांत कमी है। साथ ही साथ उनके पास ऐसी जमीने भी बहुत कम हैं जिन पर स्थायी रूप से खेती की जा सके। इसके अतिरिक्त उनके परम्परागत जीवन मे स्थायी खेती के लिए आवश्यक पुरुषार्थ एवं समय की भी कमी है। उनकी सांस्कृतिक गतिविधियाँ ही पर्याप्त समय ले लेती है। कहीं-कहीं पहाड़ी ढालो को समतल या सीढीदार खेतो मे बदलना उनके लिए सम्भव नही है और मजबूरी मे यही पद्धति अपनानी पडती है।

इस पद्धति के अन्तगत जो उपज प्राप्त होती है वह भी सब जगहो मे अलग-अलग है। साथ ही साथ कुछ उपजें केवल व्यापार के लिए उगाई जाती हैं जबकि कुछ केवल अपने उपयोग के लिए। हम नागालैंड तथा असम मे उत्पन्न रुई को बेचने वाली फसल तथा वही पर उत्पन्न ज्वार तरकारियो आदि को अपने उपयोग मे लाने वाली फसल के रूप मे पाते हैं। यो हम तरकारियाँ भी स्थानीय बाजार मे बिकते हुए पाते हैं जो कि उनकी स्थानीय उपज है। उडीसा के जुआँग लोग बेचने के लिए पहली बार तिल की फसल उगाते हैं। दूसरे और तीसरे बार म धान तथा मोटे अनाज की फसल ली जाती है जो स्वयं उनके उपयोग मे आती है। बिहार के पालामऊ जिल के पश्चिमी भाग की पहाडियो और पठार मे 'राम अरहर' नामक दाल उगाई जाती है जो कि तुरत आस पास के निवासियो द्वारा खरीद ली जाती है। इस प्रकार बेची हुई रुई तरकारी दाल तिलहन आदि के बदले मे प्राप्त धन से यह लोग कपडा लोहा तम्बाकू नमक चाय शकर आदि दैनिक उपयोग की वस्तुएं खरीदते हैं।

इस पद्धति की खेती से जो आय होती है वह बहुधा अपर्याप्त ही रहती है और इसीलिए हम इन आदिमजातियों मे सहायक आर्थिक आधारो यथा नौकरी, मजदूरी, दस्तकारी आदि की उपस्थिति भी पाते हैं। उडीसा के

अथवा पहाड़ी ढालों पर पेड़ काट और जला कर एक फसल ले लेने के बाद इसमें ऊपर की ओर मेड़ बाँध कर पूरे ढाल को यदि वह बहुत ढालू न हुआ सीढ़ीदार खेतो मे बदलकर आस पास के नालो या झरनो के पानी को यहाँ तक लाकर धान की फसल लेने के योग्य बना लेते हैं। मिजो लोगो ने ईसाई मिशनरियो के सम्पर्क मे आकर जहाँ अपनी शिक्षा और ज्ञान में वृद्धि की है वही पर साथ-साथ इन पहाड़ी ढालों पर सतरे के बगीचे लगाना सीखकर लाभ उठाना भी शुरू कर दिया है। इस प्रकार अतिरिक्त साधन जुटाने के उदाहरण हमे अनेक क्षेत्रो मे मिलते हैं। भारतीय मानव वैज्ञानिक सर्वेक्षण द्वारा पिछले दशक के आरम्भ में (1961 63) किए गए एक अध्ययन के अन्तर्गत मिजो पहाडियो मे सैरेप नामक स्थान के निवासी सड़क बनाने वाले मजदूर का कार्य करके अपना काम चलाते थे। बस्तर के गोंड लोग आस पास के बाजारो और बडे शहरो से इतने दूर और सम्पर्कविहीन हैं कि वे स्वय अपने प्रयत्नो से जगल से प्राप्त सामग्री पर ही निर्भर करते हैं। उडीसा के केउनझार जिले के जुआंग जगली आम और जामुन खाने के साथ-साथ इनकी गुठली के गूदे को भी सुखाकर कूट पीस कर खाने के काम मे लाते हैं। कभी-कभी जगल मे प्राप्त शहद लकडी फल आदि को बाजारो मे बेच कर अपनी आय वद्धि करते हैं। तेन्दु पत्ती बीडी के व्यापारियो द्वारा अच्छे मूल्य मे खरीद ली जाती है। कभी-कभी वे स्थायी खेती करने वाले दूसरी जाति के पडोसियो के खेतो मे मजदूरी का काम करने लगते हैं। कभी कुछ और ऊचाई पर स्थित ढालो तथा ज ग लो मे जाकर नए गाँव व खेत बसा लेते हैं। कुछ लोग स्थायी खेती करने को भी तैयार होते हैं परन्तु उसके लिए प्रारम्भिक साधन जुटाना भी उनके लिए एक समस्या बन जाती है।

अस्थाई कृषि से अनेको हानिया भी हैं। इसमे तमाम कीमती लकड़ी जलकर बर्बाद हो जाती है। वर्षा होने पर ऊपर की मिट्टी कट कर नीचे आने लगती है तथा नदियो मे बाढ़ का प्रकोप शुरू हो जाता है। जगलो के कम होने से वर्षा पर विपरीत प्रभाव पडता है। सारे परिश्रम और समय को खपाने के बाद भी इससे प्राप्त फसल बहुत कम रहती है। इन्ही सब हानियो को देखते हुए जहाँ कई स्थानों पर सरकारी नियत्रण द्वारा इसको रोका गया है वहीं पर अनेक आदिमजातियाँ अब इस पद्धति को केवल परम्परागत होने के कारण सहायक आर्थिक व्यवस्था के रूप मे स्वीकार करते हुए नए आर्थिक साधनो से इसको बदलने का प्रयत्न कर रही हैं। दूसरी ओर वैरियर एल्विन जैसे विद्वानों का मत है कि अस्थाई खेती आदिमजातीय जीवन एवं सस्कृति

का एक अभिन्न अंग है और इसको एकाएक समाप्त कर देना न तो सम्भव ही है और न उचित ही है।

कृषक

इस अर्थव्यवस्था के अतर्गत वे आदिमजातीय सदस्य आते हैं जिनके पास अपनी जमीन है और जिन्होंने उपकरणो एवं पशुओ की सहायता से एक ही खेत को स्थायी रूप से जोतना बोना सीख लिया है। यह व्यवस्था अस्थायी खेती के साथ-साथ उत्पन्न समस्याओ के निदान रूप मे भी अपनायी गयी तथा दूसरी ओर पडोसी कृषको की काय प्रणाली ने भी इस व्यवस्था को अपनाने की प्रेरणा दी होगी। जब आरम्भ मे आदिमजातिया अस्थायी कृषि के स्तर को अपनाने लगी तब मनुष्यो की जनसख्या के अनुपात मे उनके पास उपलब्ध जगलो का क्षेत्र बहुत विस्तृत था और जो भी थोडा बहुत अनाज पदा होता था तत्कालीन जनसख्या के लिए पर्याप्त था। परन्तु जसे-जैसे आबादी बढती गई जगल का क्षेत्र कम होने लगा और स्थायी रूप मे खेती करने की आवश्यकता महसूस होने लगी। इन लोगो ने अन्य अस्थायी साधनो के साथ-साथ बड कृषको के यहा खेतिहर मजदूर का काय करना शुरू किया और जब इनको यह पद्धति उपयोगी प्रतीत हुई यह स्वय भी उसे अपनाने के लिए प्ररित हुए। अनेको ऐसी आदिमजातिया जो मैदानी इलाको मे या उनके पास थी इस व्यवस्था को सरलता से स्वीकार कर सकी और आज यही उनकी सबसे विस्तृत अथव्यवस्था है।

मिजो असम की बर्मा मे सम्बद्ध सीमा की पहाडियो मे निवास करते है। इनमे स्त्रिया और पुरुष दोनो ही कृषि के काय मे समान उत्साह एव लगन स काम करते हैं। चावल इनका मुख्य खाद्य पदाथ है जिसे ये निचले मैदानो तथा दलदल व कीचड वाली भूमि मे उगाते है। इसके साथ-साथ पहाडी ऊचाईयो पर स्थित मैदानो मे भी खेती करते है। सिचाई के लिए वे स्वय बडी युक्ति एव परिश्रम से पहाडी झरनो एव जलाशयो से नहरें काट कर निकालते हैं। इनको खाद के प्रयोग का भी अच्छा ज्ञान है और गाय के गोबर की खाद सामान्य रूप से प्रयोग मे लाई जाती है। चावल के साथ-साथ ये आलू अदरक, रूई गन्ना अनन्नास आदि भी उगाते हैं। अदरक काफी मात्रा मे उगाई जाती है और स्थानीय बाजारो में इसकी अच्छी बिक्री भी होती है। इस प्रकार यह उनके लिए नकद उपज का काम करती है।

अरुणाचल प्रदेश की आपातानी घाटी के निवासी जो स्वय इसी नाम से

सम्बोधित किये जाते हैं, स्थायी कृषि अर्थव्यवस्था के आदर्श उदाहरण हैं।[4] यहां कृषि इनकी मुख्य अर्थव्यवस्था है। यद्यपि वे कृषि के आधुनिक उपकरणों या साधनों से अपरिचित हैं फिर भी वे कम से कम भूमि से अधिक से अधिक उपज प्राप्त करते हैं। इस घाटी के प्रत्येक हिस्से को यहां के निवासियों ने सीढ़ीदार खेतों के रूप में विकसित कर रखा है। इन खेतों की सिंचाई के लिए ऊपर के जंगल से आने वाले प्रत्येक झरने, नाले आदि को इस प्रकार बांध बना कर या रोक लगा कर नियंत्रित किया जाता है कि प्रत्येक खेत को आवश्यकतानुसार बराबर पानी मिल सके और यदि पानी अधिक हो तो उसे निकाला जा सके। पुन उन्होंने यह सारा काय केवल शारीरिक श्रम के आधार पर कर रखा है और प्रतिवष फसल काटने के बाद वे पुन सभी खेतो बाधों नालों आदि की मरम्मत करते रहते हैं ताकि खेती के काम मे कोई रुकावट न पडने पाये। यदि कही पानी आदि की समस्या होती है तो एक बडे खेत को नई सीढ़ी बनाकर दो मे या दो सीढियो को बराबर करके एक मे भी बदल देते हैं। इनकी मुख्य फसल चावल की होती है। चावल के पौधे पहले छोटे छोटे नर्सरी प्रकार के खेतो मे उगाए जाते हैं पुन तैयार किये गये बड-बडे खेतो मे इनको नए सिरे स रोपा जाता है। यह दो प्रकार के चावल—एक जल्दी पकने वाले प्लेट प्लेट तथा प्लेपिंग नामक जाति के और दूसरे देर मे पकने वाले इमो जाति के उगाते हैं। जिन खेतो मे पानी बराबर भरा रहता है वहा पौध रोपने से पकने तक दो या तीन बार और कम सिंचाई वाले खेतो मे पाच बार तक निराई का काम किया जाता है। यह बडे परिश्रम से सारा काय करते हुए फसल को अधिक से अधिक अच्छी परिस्थितियां प्रदान करते हैं। जगल के किनारे के खेतो को लकडी के ऊँचे डडो की बाड स सुरक्षित सीमा प्रदान की जाती है ताकि आस पास चरते हुए पशु भी खेतो का नुकसान न कर। फसल पक जाने पर काट ली जाती है और जहा अच्छी उपज होती है वहा का चावल बीज के लिए सुरक्षित रखा जाता है। वे हर वष अच्छे मे अच्छे बीज तैयार करने का प्रयत्न करते हैं। फसल काटने के बाद खेत की उवरा शक्ति को बनाए रखने के लिए वे घर का कूडा, गोबर, सुअर एव मुर्गियो का मल खेत के बीच में एकत्रित करते रहते हैं और अगली बार बुआई करने के पहले उसको जला कर सारे खेत मे छितरा देते हैं और तब खेत की जुताई करते हैं। खेत लोहे के फल वाले फावडे या हल आदि से खोदा जाता है और लकड़ी के टुकडों से मिट्टी को बराबर किया जाता है। वे चावल के अतिरिक्त मक्का और जुनरी भी उगाते हैं। घर के

ग्राम की जमीनो में तम्बाकू, आलू, टमाटर, मिर्च, सेम, कद्दू, तरोई, लौकी, अदरक आदि भी उगाते हैं।

स्थायी रूप से एक ही जगह खेती करने वाली आदिमजातियाँ वर्तमान काल मे भारतीय आदिमजातीय सख्या का सबसे बडा भाग है। इस व्यवस्था को अपनाने वालो मे असम की अधिकाश आदिमजातियाँ बिहार-बगाल के सथाल, ओरांव तथा हो उत्तर प्रदेश के थारू तथा कोरवा मध्य प्रदेश के गोंड भील व भिलाला राजस्थान के भील, उडीसा तथा तमिलनाडु के सउरोरा, नीलगिरि (तमिलनाडु) के बडागा आदि प्रमुख हैं। इनमें से अनेक में हम पहले अस्थायी खेती को प्रमुख रूप से पाते थे परन्तु अब वे स्थायी खेती को काफी हद तक अपना चुके हैं। इस प्रकार सारे भारतवर्ष की आदिम जातियां इस व्यवस्था को अपना रही हैं।

इस व्यवस्था के अतगत प्रत्येक परिवार के पास अपनी अलग जमीन होती है। इस जमीन को वर्षा के पहले पशुओ की सहायता से हल द्वारा जोत कर मिटटी को मुलायम बनाया जाता है फिर वर्षा के साथ-साथ बुआई की जाती है, पौध उगने के साथ-साथ निराई तथा पशु पक्षियो से सुरक्षा का प्रबध किया जाता है। आवश्यकता पडने पर सिंचाई भी की जाती है। पक कर तैयार हो जाने पर फसल काट ली जाती है। चूंकि आज भी इन लोगो के पास खेती के तरीको के आधुनिक ज्ञान की नितात कमी है अत अभी भी इसमे पर्याप्त सुधार तथा उन्नति की अपेक्षा है।

बगाल बिहार की हो ओराव मुडा सथाल आदि आदिमजातियां कृषि के काम मे काफी निपुण और विकसित हैं। सथालो मे जमीन दो प्रकार की होती है। एक तो अधिक उपजाऊ जमीन जो अपेक्षाकृत ऊँची भी है और दूसरी ऊसर या कम उपजाऊ जमीनें। पहली को स्थानीय भाषा मे 'बाडी तथा दूसरी को हाँड के नाम से सम्बोधित करते है। अच्छी जमीन मे मकई बाजरा, सरसो तथा अरहर आदि मुख्य फसलें हैं जबकि ऊसर जमीन मे कोदो, महुआ आदि मोटे अनाज होते हैं। चूँकि यहा जमीन को बेचने पर पर्याप्त कानूनी प्रतिबंध है अत प्रत्येक परिवार के पास खेती की जमीन पायी जाती है। ओराव भी खेती के क्षेत्र मे उन्नतिशील हैं। कुछ तो निरतर परिश्रम एव अनुभव तथा शेष बाहरी सम्पर्क एव अनुसरण से वे खेती में बहुत सफल हैं। इनके यहां भी जमीने दो प्रकार की होती हैं। एक तो अपेक्षाकृत निचली और अधिक उपजाऊ और दूसरी ऊँची तथा कम उपजाऊ। इनको क्रमश 'दोन' तथा 'टांड' के नामो से स्थानीय भाषा में जानते हैं। यह लोग

खेती में खाद के प्रयोग से भी भली-भांति परिचित हैं। यहां मिशनरियों द्वारा खोले गए स्कूलों से शिक्षा प्राप्त होने के कारण इन लोगो ने विकास के साधनों को अपेक्षाकृत जल्दी और लाभपूर्ण ढंग से अपनाया है। इनकी मुख्य उपज धान, बाजरा, कुरथी सुरगुजा आदि है। यह लोग अपने खेतो मे सिंचाई का भी उचित प्रबन्ध रखते हैं। ढालू जमीनो में बड़ी-बड़ी सीढ़ी के आकार के खेत बना कर सामने मेड़ लगा कर ऊपर से नीचे की ओर धीरे-धीरे पानी बहने देते हैं। इस प्रकार सभी सतहो मे सिंचाई भी हो जाती है तथा ऊपर की मिटटी भी बहकर नीचे नहीं आने पाती है। इन लोगो के कृषि उपकरणो मे लोहे के फल वाले हल फावड़ा खुरपी, पटेला हसिया प्रमुख हैं। यह अपनी उपज स्थानीय बाजारो मे बेचते हैं और बदले मे अन्य आवश्यक वस्तुए—कपडा, नमक शकर चाय, मिट्टी का तेल खेती के उपकरणों, आभूषण आदि खरीदते हैं। स्थायी रूप से उन्नत खेती करने के कारण इनका सामान्य जीवन-स्तर भी अपेक्षाकृत उन्नतिशील पाया जाता है। इसमे इनकी शिक्षा का भी पर्याप्त योगदान है। चावल की बनी शराब जो हंडिया के नाम से जानी जाती है इनका अत्यन्त प्रिय पेय पदार्थ है।

उड़ीसा की जुआंग तथा साओरा आदिमजातियां अस्थायी खेती से स्थायी खेती पर आयी हैं। इन्होने काफी संघर्षपूर्ण जीवन बिता कर इस नई पद्धति को स्वीकार किया है। साओरा समूह के सदस्य पहाड़ी और जगली ढालो पर स्थायी खेती के लिए जो सीढ़ीदार खेत बनाते है उसमें पर्याप्त कुशलता तथा परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है। इन सीढ़ियो को इस प्रकार काटा जाता है कि इनका सामने का हिस्सा थोडा ऊँचा और पीछे का अपेक्षाकृत नीचा रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि ऊपर से बहकर आने वाला पानी मिट टी को बहाता हुआ नीचे नही आ पाता है और थोडा पानी बराबर सीढ़ियो पर रुका रहता है जो कि यहां की मुख्य उपज धान के लिए नितांत आवश्यक भी है। यह वर्ष से दो फसलें लेते हैं। जून तथा जनवरी मे बुवाई का काम होता है। इसके लिए पहले हल की सहायता से खेत जोतकर तैयार किये जाते हैं। जुताई का काम स्त्री-पुरुष दोनो ही कर लेते हैं। पहले छोटे छोटे भूमि के टुकडो या सीढ़ियो पर पौधे उगाए जाते हैं जब वे थोडे बढ़ जाते हैं तब उनको उखाड कर क्रमबद्ध ढंग से 5-6 इंच की दूरी पर रोपा जाता है ताकि पौधो की वृद्धि ढंग से हो सके। फिर सिंचाई की व्यवस्था की जाती है। इसके लिए पहले से ही ऊँचाई पर पानी इकट्ठा करके या नालो के साथ काटकर नहरें बना लेते हैं। इनसे आवश्यकतानुसार सिंचाई होती

रहती है। दोनो फसलो में से जून में बोई और नवम्बर में काटी जाने वाली फसल मुख्य है।

उत्तर प्रदेश मे थारू तथा कोरवा प्रमुख कृषक आदिमजातियां हैं। यह लोग खेती के सभी साधनों से परिचित हैं। गोबर की खाद का प्रयोग सामान्य रूप से होता है। सिचाई के लिए दुद्धी मिर्जापुर म बाधो एव कुओ का प्रयोग किया जाता है। वे रबी और खरीफ अर्थात गेहू तथा तिलहन दोनो प्रकार की फसलें उगाते हैं। इनके कृषि उपकरणो में हल, फावडे हंसिया टेंगा आदि आते हैं।

मध्य प्रदेश मे भी गोड, भील के अतिरिक्त बैगा भी स्थायी खेती को अपना रहे हैं। यद्यपि इस क्षेत्र मे कृषि के साधन अत्यन्त सीमित तथा अविकसित हैं जिसके कारण बहुधा फसलें खराब हो जाती हैं। इस क्षेत्र मे गेहू और चावल के अतिरिक्त कोदो कुटकी तथा अन्य मोटे अनाज खूब होते हैं।

कुल मिला कर यह अर्थव्यवस्था आदिमजातियो द्वारा काफी बडे पैमाने पर स्वीकार कर ली गई है। परन्तु इसके साथ साथ यह भी स्पष्ट है कि इसका विशेष लाभ वे स्वय उठा नही पाते हैं। एक तो वे इसके योग्य पर्याप्त ज्ञान नहीं रखते हैं और जो थोडे बहुत लोग नई चीजे सीखते भी हैं वे पर्याप्त साधन जुटाने मे असमथ रहते हैं। यदि कहो से कर्ज लेकर कुछ साधन—उपकरण, बैल खाद आदि जुटाये भी जाते है तो अधिकाशत लाभ ऋणदानाओ के हिस्से मे आ जाता है। इनके रहने के क्षेत्र अधिकाशतया पथरीले जगली इलाके हैं। यहा की जमीनें भी अपेक्षाकृत कम उपजाऊ हैं। यहा पर सिचाई आदि के साधन न तो सरलता से उपलब्ध हैं और न सरलता से उपलब्ध कराये जा सकते हैं। इन क्षेत्रो तक आवागमन के साधन भी बहुत अविकसित हैं। आज भी कई क्षत्रो तक पहुचने के लिए मीलों पदल या घोडे आदि पर चढ कर जाना पडता है। उदाहरण के लिए मध्य प्रदेश का बस्तर जिला लिया जा सकता है जिसमे तहसील के मुख्यालय भी सडको से सम्बद्ध नहीं हैं तथा वहा तक पहुचने के लिए भी कई दिनो तक टट्टू या बल्गाडी का सहारा लेना पडता है जो कि जगल की पगडडियो पर चलते हैं। इस प्रकार अनेक कमियो के होते हुए भी भारतीय आदिमजातियो के लिए इस अर्थ व्यवस्था को स्वीकार करना आवश्यक सा हो रहा है क्योकि अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा यह अधिक उपयोगी है।

वैसे अब भिन्न भिन्न राज्य सरकारो द्वारा इस दिशा में उन्नति और

विकास के लिए निरन्तर अतिरिक्त प्रयत्न किये जा रहे हैं। आदिमजातीय सदस्यो की भूमि या पशु महाजनों द्वारा कर्ज के बदले नहीं लिए जा सकते हैं। महाजनो को प्रत्येक कर्ज का हिसाब दिखाना पड़ता है और शासकीय कर्मचारियो द्वारा कर्जों के हिसाब किताब की पूरी देखभाल की जाती है। साथ-साथ राज्य सरकारो की ओर से भूमिहीन आदिमजातीय सदस्यो को खेती की जमीनें दी जा रही हैं। जमीनो को विकसित करने एव खेती के लिए उपकरण बीज पशु आदि खरीदने के साधन जुटाये जा रहे हैं। उनको सभी आवश्यक चीजें सरकार द्वारा अनुदान रूप में दी जा रही हैं। उनके रहने के लिए मकानो का निर्माण भी किया जाता है ताकि घुमक्कडी का जीवन समाप्त कर स्थायी रूप से रहकर खेती कर सकें।

शिल्पी

इस व्यवस्था के अन्तगत हम उन तमाम लोगो को रखते हैं जो किसी न किसी प्रकार के हस्तशिल्प द्वारा अपनी जीविका को चलाने का प्रयत्न करते हैं। भारतीय आदिमजातियो मे ऐसी बहुत कम हैं जो शुद्ध रूप से अपने हस्तशिल्प से प्राप्त आय द्वारा जीवन यापन करने में समथ हो। इनमे ऐसी तमाम आदिमजातिया है जो अपने खाली समय में किसी न किसी प्रकार के काय द्वारा स्वयं अपने उपयोग के लिए अथवा बेचने के लिए अलग-अलग प्रकार की सामग्रिया तैयार करती हैं और इस प्रकार दस्तकारी द्वारा अपने आर्थिक साधनो की पूर्ति करती हैं। इनमे रस्सी बटना टोकरी बनाना चटाई बनाना, कपडे बुनना मिटटी एव लकडी के खिलौने तथा बर्तन बनाना, पत्थर की मूर्तियां बनाना, जाल एव पिजडे बनाना बेंत का काम, वाद्य यन्त्रो का निर्माण, लोहे के औजार तथा बतन बनाना कासे तथा पीतल आदि की सामग्रियो का निर्माण, बास की विभिन्न वस्तुए बनाना आदि काफी प्रचलित शिल्प हैं। अब तो विभिन्न क्षेत्रो मे राज्य सरकारो के प्रोत्साहन पर अनेक सरकारी सस्थाओ एव प्रशिक्षण केन्द्रो की स्थापना की गई है जहा उनको अपने हस्तशिल्प को विकसित एव उन्नत करने के अवसर प्राप्त होते हैं। इन चीजो की विविधता एव बहुलता का एक कारण यह भी है कि इन आदिम जातियो को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थानीय रूप से उपलब्ध वस्तुओ को ही प्रयोग मे लाना होता है। वे अपने क्षेत्र मे उपलब्ध सामग्रियों से अनेकों प्रकार की वस्तुएँ बनाकर अपनी तमाम आवश्यकताओं की पूर्ति करते है। खाली समय मे वे इन वस्तुओ को आवश्यकतानुसार

अधिक से अधिक संख्या मे बनाकर स्थानीय बाजारो में बेच कर अपने आर्थिक साधनों की वृद्धि करते हैं।

असम के आपातानी चाकू एवं तलवार बनाने में कुशल हैं। यह व्यापारिक स्तर पर बनाए जाते हैं। आन्ध्र की पडावा आदिमजाति की लड़कियां पेड की डाल के रेशों से बहुत सुन्दर वस्त्र बनाती हैं। इन्हे प्राकृतिक बूटियों से रगा भी जाता है। नीलगिरि (तमिलनाडु) के कोटा अत्यन्त कुशल लोहार, बढ़ई तथा कुम्हार हैं। वे अपने पडोसी टोडा तथा बडागा की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। वाईनाद तालुक के उराली कुरुम्बार अत्यन्त कुशल लोहार, बढई, कुम्हार तथा डलिया बनाने वाले हैं। वे मिटटी के लौंदे को भीतर से छाट छाट कर बतन बनाते हैं और चक्के से अनभिज्ञ हैं। यह बतन पकाए भी जाते हैं। इस क्षेत्र मे इनके मिटटी के बतन विशेष प्रसिद्ध हैं। यद्यपि ये मोटे और भारी होते हैं परन्तु इनमे पका खाना अधिक स्वादिष्ट होता है। मध्य प्रदेश के कोया मे हम काम के आधार पर अलग अलग उपसमूह पाते हैं। कोई कुशल लोहार है तो कोई बढई है। एक समूह पीतल के सामान बनाता है तो दूसरा डलिया आदि बनाने मे कुशल है।

भारतीय आदिमजातियो मे अधिकाश किसी न किसी प्रकार के शिल्प से सम्बद्ध हैं परन्तु उनमे से कुछ को शेष से अलग स्पष्ट रूप से विकसित हस्तशिल्पियो के रूप मे देखा जा सकता है। मणीपुर, त्रिपुरा असम के रियांग मिजो नागा आपातानी आदि तथा उडीसा के साओरा कपडे की बुनाई मे विशेष कुशल हैं। इसी प्रकार बिहार के बिरहोर व उत्तर प्रदेश के बसिया रस्सी व रस्सी से बनी सामग्रिया बनाने मे निपुण हैं। बिहार के असुर उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश के कोरवा तथा मध्य प्रदेश के अगारिया लोहे की विभिन्न सामग्रियां बनाते हैं। मध्य प्रदेश के गोंड तथा बैगा टोकरियां तथा चटाइयां बनाने मे पर्याप्त दक्ष हैं। उत्तर प्रदेश के ही थारू बढईगीरी टोकरी बुनने तथा मछली पकडने के पिंजडे बनाने मे कुशल हैं। बगाल, बिहार, उडीसा के सथाल ओराव आदि मछली पकडने के पिंजडे स्वय बनाकर प्रयोग में लाते हैं। मद्रास की इरुला आदिमजाति बांस की चटाई और टोकरियां, हलों के फल तथा बैलगाड़ियो के पहिये आदि बना लेती हैं। यो सामान्य रूप से सभी आदिमजातियां स्थानीय रूप से उपलब्ध सामग्रियो के आधार पर अपने दिन प्रतिदिन के प्रयोग के लिए झाडू बांस व लकडी के बर्तन, तीर कमान, गुलेल, पिंजडे तथा जाल, कथिया पत्तो एवं बांस की छतरिया आदि वस्तुएँ बनाते और प्रयोग मे लाते हैं। मध्य प्रदेश के बस्तर जिले में रहने वाले

गाड़िया तथा बुढ़िया बीड़ तम्बाकू रखने के लिए सुन्दर लकड़ी की छोटी और खोखली डिबिया सी बनाते हैं जिसे स्थानीय भाषा में 'मोटा' कहते हैं। वे अपने यहां मिट्टी व धातु के खिलौने तथा मूर्तियां भी बड़ी कुशलता से बनाते हैं। यहां पत्थर को तराश कर बनाई गई छोटी-छोटी मूर्तियां भी मिलती हैं। मध्य प्रदेश के राजस्थान व महाराष्ट्र सीमा से लगे हुए झाबुआ जिले के भील व भिलाला पुराने कपड़ो व सूत से बहुत सुन्दर दरियां व आसन बनाते है। यह कार्य राज्य सरकार द्वारा संचालित प्रशिक्षण तथा उत्पादन केन्द्रों में होता है परन्तु काफी उन्नत रूप से होता है। यहां विशिष्ट मृतको की कब्र पर पत्थर की बडी चटटान पर किसी योद्धा की मूर्ति खोद कर लगायी जाती है यह पत्थर की खुदाई इनकी एक विशिष्टता है।

इस प्रकार भारत के विभिन्न क्षेत्रों की आदिमजातियां किसी न किसी प्रकार की दस्तकारी से पर्याप्त सम्बन्धित हैं, भले ही वह उनकी मुख्य अर्थ-व्यवस्था न होकर सहायक अर्थव्यवस्था के ही रूप में हो। असम के आपातानी यों तो मुख्य रूप से कृषक अर्थव्यवस्था पर निर्भर करते हैं परन्तु वस्त्र निर्माण भी उनकी आय का एक प्रमुख साधन है। वस्त्र निर्माण का कार्य केवल महिलाओ द्वारा ही किया जाता है। वे स्वयं रूई नही उगाते हैं बरन् अपने पडोसी दफला आदिमजाति के सदस्यो से रूई खरीदते ह और इसको साफ कर धुन कर व कात कर सूत का निर्माण करते हैं। इस सूत को भिन्न-भिन्न रगो मे रग कर सुन्दर वस्त्र बुने जाते हैं। यह वस्त्र जहा स्वय आपातानी लोगों के प्रयोग मे आते हैं वहीं पर पडोसियों द्वारा भी इनकी बहुत मांग रहती है। कभी-कभी गरीब आपातानी महिलाएँ पडोस के दफला गावो में जाकर उनके लिए वस्त्रों का निर्माण करती हैं और बदले मे रूई ले आती हैं। इस काम के अलावा निचले क्षेत्र से खरीदे गए लोहे के खुरपों तथा फावडों को खराब हो जाने पर लोहे को गरम कर चाकू तथा दावो नामक अस्त्र भी आपातानी बनाते हैं। इन दोनों चीजों को भी व्यापारिक स्तर पर अधिक मात्रा मे बनाकर अपने आस-पास के बाजारों में बेच कर अपनी अर्थव्यवस्था को और उन्नत बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार इस आदिमजाति के सदस्य कृषि के ऊपर निर्भर करते हुए भी वस्त्रनिर्माण और लोहे के अस्त्रों के निर्माण द्वारा पर्याप्त अतिरिक्त आय करने में सफल होते हैं।

औद्योगिक मजदूर

भारतीय आदिमजातियों के कुछ समूह औद्योगिक क्षेत्रो के आस पास

रहते हुए उन उद्योगो मे मजदूरी का काय करके जहाँ अपने आर्थिक साधनों का विकास करते हैं वही पर साथ-साथ इन उद्योग धन्धो के सहज सचालन मे बडी सहायता पहुचाते हैं। इस अथव्यवस्था के हम दो कारण देखते हैं। एक तो आदिमजातीय सदस्य अर्थाभाव एव जीवनयापन के साधनो मे कमी के कारण अपने परम्परागत क्षेत्रो को छोड कर ऐसे क्षेत्रो मे जाकर काम करने लगे हैं जहाँ पर मजदूरो की निरतर आवश्यकता रहती है, दूसरे जिन क्षेत्रो मे आदिमजातीय आबादी है वही प्राकृतिक साधनो की प्रचुरता से ऐसे उद्योग धधे स्थापित हो गए जिनमे काम करते हुए वे अधिक अच्छा जीवन व्यतीत करने की ओर प्ररित हुए।

पहले वग मे हम असम के चाय बागानों मे पाये जाने वाले उन मजदूरो को रख सकते हैं जो बगाल बिहार मध्य प्रदेश उडीसा आदि की सथाल ओरांव मंडा खडिया या गोड आदिमजातियो के है। यह लोग जब अपने पुरातन निवास स्थानो मे जीवन यापन करने मे असफल रहने लगे तब असम के चाय बागाना मे जा पहुचे। बिहार के ओरांव मे ऐसे तमाम उदाहरण मिलते हैं जहा परिवार के कुछ सदस्य बडे-बडे नगरो मे जाकर मजदूरी कर के अतिरिक्त आर्थिक साधन जुटा कर परिवार की आय मे वद्धि करते हैं।

दूसरा वग उन आदिमजातीय औद्योगिक मजदूरो का है जो अपने क्षेत्रो मे स्थित लोहे कोयले, मगनीज अभ्रक आदि की खानो मे काम कर रहे है। बगाल बिहार मध्य प्रदेश उडीसा, आँध्र प्रदेश आदि की तमाम खानो मे आदिमजातीय मजदूर काय करते है। बगाल व बिहार के सथाल खान खोदने तथा कोयले की कटाई करने मे विशेष दक्ष हैं। जमशेदपुर मे टाटा क लाहे के कारखाने मे शत प्रतिशत सामान्य मजदूर सथाल हो आदि आदिमजातियो के है। बिहार के अभ्रक उद्योग मे भी लाखो मजदूर आदिम जातीय समाजो से आए हैं। मध्य प्रदेश का मगनीज़ उद्योग भी अपने मजदूरो के लिए अधिकाशतया आदिमजातीय क्षेत्रो पर निभर करता है। सिंहभूम बिहार की ताँबे की खानो मे भी यही लोग मिलते हैं।

आजादी के बाद पिछले दो दशको मे इन क्षेत्रा मे बिजली परियोजनाओ एव उद्योगो की एक नई परम्परा का पर्याप्त विस्तार हुआ है। परिणाम स्वरूप यहा के आदिमजातीय सदस्यो को इनमे काय करने और अतिरिक्त आय प्राप्त करने के साधन मिले हैं। राची राउरकेला भिलाई व बैलाडीला आदि मे स्थापित नए विशालकाय उद्योगो से इन लोगा को आय के नए स्रोत

मिले तथा औद्योगिक मजदूरी एक नियमित अर्थव्यवस्था बन गई। केरल तथा मध्य प्रदेश के जंगलों में लकड़ी काटने, शहद, गोंद, मोम, काली मिर्च, बाँस आदि इकट्ठा करने के लिए नियुक्त बड़े-बड़े ठेकेदारों को भी स्थानीय आदिम-जातियों से ही मजदूर मिलते हैं।

इस प्रकार तमाम भारत में स्थित विभिन्न पहाडी तथा जगली क्षेत्रों के उद्योग-धधो मे आदिमजातीय वर्ग से आए मजदूरो की बहुत बडी सख्या मिलती है। परतु इस प्रकार जो आदिमजातीय समाज अपने परम्परागत कामो को छोडकर इस नयी व्यवस्था से सम्बद्ध हुए उनको सम्पर्क सम्बन्धी अनेक समस्याओ का सामना करना पडा। इन उद्योगो के सस्थापक एव सचालक वर्ग के सदस्यो का रहन-सहन जहाँ अत्यन्त अविकसित था वही पर आदिमजातीय सदस्यों का समाज भौतिक दृष्टि से अत्यन्त अविकसित था। इन दोनों वर्गों के बीच जो विस्तृत अन्तर था उसने आदिमजातीय वर्ग को एकदम चकाचौंध कर दिया। बडी बडी मशीनें बिजली की रोशनी बडे बडे भवन पक्की चौडी सडके यातायात के सवसुलभ साधन सिनेमा आदि ने इस पिछडे वर्ग के सदस्यो मे आत्महीनता की भावना को जन्म दिया। वे अपनी आदिम जातीय सभ्यता एव सस्कृति को हीन समझकर उससे परे हटने लगे तथा इस नए वातावरण के अनुकूल अपने को बदलने लगे। इस परिवर्तनशीलता की प्रक्रिया ने उनको वे सभी सामान्य बुराईयां प्रदान की जो कि किसी भी आधुनिक कहे जाने वाले समाज के निचले आर्थिक स्तर के सदस्यो मे पाई जाती हैं। वे अधिक कमाई करते हुए भी शराब जुआ, वेश्यावृत्ति आदि मे पड कर अपना पैसा और स्वास्थ्य दोनो नष्ट करने लगे। महाजनो और साहूकारो को इनकी गाढ़ी कमाई का पसा लूटने का नया अवसर मिला। यहीं पर इनमे दूसरी ओर अपने सामाजिक और राजनैतिक अधिकारो के प्रति चेतना भी जागृत हुई परन्तु उसका लाभ भी कुछ राजनतिक पार्टियो और व्यक्तियो ने ही उठाया जनसाधारण तो मूक दर्शक ही रहा।

आदिवासी अर्थव्यवस्था के मूल तत्व

हमने अब तक जो आदिवासी अर्थव्यवस्था के अनेक रूपो का अध्ययन किया है उनमे सार्वभौमिक स्तर पर एक तथ्य सामने आता है कि प्रत्येक व्यवस्था आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए की जाती है। परन्तु इन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्नो में हम जो विभिन्नता पाते हैं और इन प्रयत्नो को किस प्रकार सम्पादित किया जाता है तथा इनसे आवश्यकताओ की

कितनी पूर्ति होती है इन आधारो पर हम आदिवासी अर्थव्यवस्था की अपनी अलग विशिष्टताए पाते हैं। आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए मनुष्य को सदैव अपने वातावरण तथा परिस्थितियो से एक समझौता करना पड़ता है और आदिवासी समाज ने इस विषय मे निम्नलिखित सीमाओ के अन्दर समझौता किया। सबसे पहले तो उसने अपने समाज की समग्र सदस्य संख्या के आधार पर प्रयत्न करने की बात की। दूसरे उसने अपने समूह की भौतिक आवश्यकताओ के अनुकूल प्रयत्न किये। तीसरे उसने जो भी साधन उपलब्ध थे उन्ही के अन्तगत अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति का विचार किया और चौथे उसने इन साधनो से अपनी बुद्धि के अनुकूल लाभ उठाया। बहुधा विभिन्न समाजो मे एक सी परिस्थितियाँ और साधन उपलब्ध होने पर भी प्रयत्न और बुद्धि के अन्तगत भिन्न भिन्न परिणाम मिलते हैं। मनुष्य सदव यह प्रयत्न करता है कि अपने पास उपलब्ध साधनो से ही अधिक से अधिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके और ऐसी स्थिति मे बुद्धि के आधार पर प्रयत्न और परिणाम बदलते रहते है। किसी समाज के सदस्यो मे उत्पादन उपभोग विनिमय और वितरण की कितनी क्षमता है इस पर उसका आर्थिक स्तर निर्धारित होता है।

मनुष्य को अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति सबसे पहले करनी पडती है और आदिवासी समाजो मे आस पास के जगलो से एकत्रित करके या थोडा बहुत स्वय पदा करके या शिकार करके भोजन सामग्री जुटाई जाती है। उ होने न तो आवश्यकता से अधिक जुटाने का प्रयत्न किया और न ही प्राप्त सामग्री को भविष्य के लिए बचाकर रखने का प्रयत्न किया और न दूसरो की उपेक्षा करके केवल व्यक्तिगत आवश्यकता की पूर्ति की। उन्होने सदव प्रकृति के साधनो को पूरे समाज के हित मे प्रयोग किया और इस प्रयाग के दौरान जो व्यवस्था हमारे सामने आती है वह उत्पादन उपभोग की व्यवस्था है जबकि आज के आधुनिक कहे जाने वाले समाज की अर्थव्यवस्था उत्पादन उपभोग वितरण की व्यवस्था है जिसमे प्राथमिक आवश्यकताओ के अतिरिक्त तमाम अ य नई-नई आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए साधन उत्पन्न किए जाते है।

आदिवासी अथव्यवस्था का सवप्रथम लक्षण इसकी सहजता एव सरलता है। इसके अ तगत प्रत्येक सामग्री सहज और सीधे तरीके से प्राप्त की जाती है। इन सामग्रियो का उपयोग भी प्राकृतिक रूप मे ही कर लिया जाता है। जहाँ जो चीज उपलब्ध है उसी से सीधे-सीधे काम चला लिया जाता है।

उदाहरण के लिए भोजन के लिए जंगल के फल फूल, छोटा मोटा पशु या पक्षी को भी बिना श्रम पर्याप्त मात्रा जाता है । इसे प्राप्त करने में भी व्यक्ति अपने हाथ पैरों पर ही निर्भर करता है । इसके विपरीत हम थोड़ा सा विकसित होने पर, कृषक अर्थव्यवस्था में इन सामग्रियों को प्राप्त करने के लिए तकनीकी साधनों एवं उपकरणों का प्रयोग पाते हैं जबकि एकदम आधुनिक व्यवस्था में औद्योगिक साधनों के साथ-साथ वस्तुओं के अतिरिक्त संग्रहण संरक्षण एव आवागमन का भी पूरा प्रबंध करते हुए अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा किया जाता है ।

चूंकि इस व्यवस्था मे आवश्यकता से अधिक संग्रहण किया ही नहीं जाता है अत वस्तुओ को खरीदने बेचने की कोई व्यवस्था नहीं मिलती है । यह अवश्य होता है कि यदि किसी के पास कोई अतिरिक्त सामग्री आ जाती है तो वह उसे समाज के सभी सदस्यो मे बांट देता है । दूसरी और कृषक समाज में इन अतिरिक्त वस्तुओ को दूसरी वस्तुओ से बदलने या विनिमय करने की व्यवस्था है तथा आधुनिक अथव्यवस्था मे तो अतिरिक्त सग्रहण और अधिकतम मुनाफाखोरी एक आवश्यक अग है ।

आदिवासी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत अतिरिक्त वस्तुओ को बांटने के पीछे जो परस्पर सौहार्द तथा सामुदायिक कल्याण की भावना मिलती है उसका कृषक समाज मे तो थोडा बहुत स्थान है परन्तु आधुनिक समाज मे यह बिलकुल नही है । परस्पर सहयोग तथा सामुदायिक कल्याण के स्थान पर हम व्यक्तिगत कल्याण की भावना आधुनिक व्यवस्था मे पाते हैं ।

आदिवासी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत कोई नियमित बाजार नहीं मिलता है कारण सीधे-सीधे यही है कि हर व्यक्ति अपने समूह के एक उत्तरदायी अग के रूप मे कार्य करता हुआ सभी के साथ रहता है और परस्पर एक दूसरे की आवश्यकता की पूर्ति करता रहता है । कृषक व्यवस्था के साथ पाक्षिक या साप्ताहिक क्षेत्रीय हाटो की व्यवस्था मिलती है । जबकि आधुनिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक निवास स्तर पर नियमित बाजार अत्यन्त आवश्यक होते हैं ।

इन बाजारों की अनुपस्थिति के कारण आदिवासी व्यवस्था में कोई व्यक्तिगत आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता नहीं मिलती है । प्रत्येक सदस्य की गति-विधियाँ चूंकि पूरे समूह के हित में होती हैं अत व्यक्तिगत स्तर पर प्रति-द्वन्द्विता का प्रश्न ही नहीं उठता है । कृषक समाज मे चूंकि हर व्यक्ति स्वयं उत्पादन करता है और परिवार का भरण पोषण करता है अत; यहां पर

व्यक्तिगत हितो के टकराव न होने से आर्थिक प्रतिद्वन्दिता कम मिलती है जबकि आधुनिक अर्थव्यवस्था मे हर व्यक्ति अपने आर्थिक स्तर को बढ़ाने की ताक मे रहता है। अत यहां दूसरे को गिरा कर स्वयं उन्नति करने तथा एकाधिकार की भावना प्रबल रहती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत आर्थिक प्रतिद्वन्दिता का बोलबाला रहता है।

आदिवासी अथव्यवस्था के अ तगत पसे का कोई स्थान नही होता है। चूंकि वहां पर कोई चीज खरीदने बचने के बजाय एक दूसरे से यो ही परस्पर सहयोग के आधार पर प्राप्त हो जाती है अत पसे की जरूरत ही नही पड़ती है। जबकि कृषक समाज मे आरम्भ होकर आधुनिक समाज मे सारा काय पैसे के ही माध्यम से होता है। कृषक समाज मे वस्तु के बदले वस्तु मिल जाती है पर तु आधुनिक समाज मे तो हर वस्तु पसो के माध्यम से ही कीमत के आधार पर ही खरीदी या बची जाती है।

आदिवासी अथव्यवस्था मे उधार या बैक जैसी सस्थाओ का कोई उपयोग या स्थान नही है जबकि आधुनिक अथव्यवस्था के यह महत्वपूर्ण अग हैं।

आदिवासी अथव्यवस्था मे यक्तिगत सम्पत्ति के नाम पर कोई विशेष चीज नही होती है। वहाँ पहले तो कुछ सग्रहण होता ही नही है और यदि कुछ हो भी जाता है तो वह पूरे समूह की सम्पत्ति मानी जाती है। कोई व्यक्तिगत बचत नाम की चीज यहाँ एकदम अनुपस्थित है। कृषक समाजो मे कुछ अश तक व्यक्तिगत सम्पत्ति मिलती है जबकि आधुनिक समाज मे एक व्यक्ति का सारा उत्पादन अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति है। वह आवश्यकता से अधिक जो कुछ बचा लेता है उसकी अपनी बचत होती है।

आदिवासी व्यवस्था मे श्रम विभाजन का आधार व्यक्तिगत कुशलता या विशिष्ट ज्ञान नही होता है। यहाँ हर सदस्य लगभग सभी कार्यों में अपनी शारीरिक एव सामाजिक क्षमता के अनुकूल प्रयत्न करता है परन्तु कृषक समाजो में व्यक्ति कुछेक प्रकार के कार्यों में निपुणता प्राप्त करने लगता है और आधुनिक समाज में तो किसी न किसी क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त करना एक अत्य त आवश्यक लक्षण है। आदिवासी समाज मे आयु तथा लिंग के आधार पर श्रम विभाजन अवश्य मिलता है पर तु वह विशिष्टीकरण के बजाय शारीरिक क्षमता पर आधारित है।

आदिवासी अथव्यवस्था में जो वस्तुओ को उपहारस्वरूप देने की प्रथा मिलती है वह भी इनकी एक विशिष्टता है। प्रत्येक विशेष

अवसर पर उपहार देने की प्रथा इनमें व्याप्त रूप से प्रचलित है। बच्चे के जन्म पर, कन्या के रजस्वला होने पर, विवाह होने पर, मुखिया पद प्राप्त होने पर आदि अनेकों ऐसे अवसर हैं जब इनमें अपने वंश या समूह के सभी सदस्यों को उपहार देने की प्रथा पाई जाती है। इसके साथ-साथ अतिरिक्त सामग्री भी अन्य सदस्यों को आवश्यकता पड़ने पर उपहारस्वरूप ही दी जाती है। इस उपहार व्यवस्था को हम उनमें परस्पर आदान प्रदान के साधन रूप में पाते हैं। प्रत्येक वह व्यक्ति जो किसी अवसर पर अन्य सदस्यों को उपहार देता है वैसे ही अवसर पर दूसरों से उपहार पाने की अपेक्षा करता है। इस प्रकार यह व्यवस्था आदान प्रदान का नियमन करती है और आधुनिक अर्थव्यवस्था की औपचारिकता से दूर व्यक्तिगत सामाजिक सम्बन्धो को दृढ़ करती है।

सम्पत्ति, स्वामित्व एव उत्तराधिकार

प्रत्येक समाज में अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत सम्पत्ति उसके स्वामित्व एवं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को उसके हस्तातरण के विषय में निश्चित मान्यताएँ एवं नियम होते हैं। सम्पत्ति मानव सस्कृति का एक सार्वभौमिक अग है। वह भूमि जहा हम सदैव रहते हैं जिस भूमि पर फसल उगा कर या पशुओ को चराकर जीवन निर्वाह किया जाता है जगलो में चरने वाले एव शिकार किए जाने वाले पशु पेड पौधे एव वन्य उपज रहने के मकान पहनने के वस्त्र भृगार साधन शिकार एव कृषि के उपकरण आदि सब मिलाकर सम्पत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। सम्पत्ति की भावना मनुष्य के आविर्भाव काल से उसके साथ सम्बद्ध है और आगे भी सदा सम्बद्ध रहेगी। सम्पत्ति को केवल एक वस्तु के रूप में ही नहीं आंका जा सकता है इसके साथ सामाजिक सम्बन्धो एव मान्यताओ का भी पर्याप्त महत्व है। वास्तव में सम्पत्ति में सामाजिक मान्यताओ की उपस्थिति ज्यादा आवश्यक है। उदाहरण के लिए जगल में एक लकडी किसी खाद्य संग्रहक आदिमजाति के ऐसे सदस्य को मिल जाती है जो इसे खोदने वाली लकडी के रूप में प्रयोग करता है। अब यह लकडी यदि केवल उसी एक व्यक्ति के अधिकार में रहती है और शेष सदस्य इसका प्रयोग करने में सकोच करते हैं तो यह उसकी सम्पत्ति बन जाती है। यहाँ पर वही एक लकडी शुरू में बेकार की वस्तु, पुन मात्र एक उपलब्धि तथा अंततोगत्वा सम्पत्ति बन जाती है। इस प्रकार वस्तु का सम्पत्ति के रूप में परिवर्तन सामाजिक सम्बन्धो व मान्यताओं पर

आधारित रहा। कानूनी या अर्थशास्त्रीय भाषा में इसे हम "उपयोग का एकाधिकार' के रूप में जानते हैं। परन्तु इस एकाधिकार पर भी सामाजिक सीमाओ एव मान्यताओ का सदैव नियत्रण रहता है। इस प्रकार सम्पत्ति सदैव सामाजिक मान्यताओ से निर्धारित एव नियन्त्रित वह वस्तु है जो जीवन यापन के लिए उपयोगी है। सामाजिक मान्यताओं में परिवर्तन के साथ सम्पत्ति के साथ सम्पत्ति के रूप में भी परिवतन होता रहता है।

भारतीय आदिमजातियो म हम सामाजिक मान्यताओ मे सपमित तथा नियत्रित तमाम सामग्रियो को सम्पत्ति के रूप म पाते हैं। खाद्य संग्रहक एवं शिकारी आदिमजातियो में बनो का क्षत्र उनमें प्राप्त सामग्री, शिकार तथा खाद्य सग्रह के साधन या उपकरण आदि सम्पत्ति के रूप हैं। यह सारी वस्तुए विभिन्न सदस्यो द्वारा स्वत त्र रूप से प्रयोग किये जाने के बावजूद इनके प्रयोग की स्थिति सामाजिक नियमो मे नियत्रित है। पशुपालक आदिम जातियो में चरागाह पशु पशु शालायें मकान वस्त्र पशुओ से प्राप्त वस्तुए आदि सम्पत्ति का रूप हैं। कृषक आदिमजातियो में भूमि कृषि उपकरण मकान वस्त्र उपज आदि सम्पत्ति के रूप है। शिल्पी आदिम-जातियो की सम्पत्ति कच्चा माल प्राप्त करने के स्रोत उपकरण तैयार माल, वस्त्र मकान आदि हैं जबकि औद्योगिक मजदूरो की सम्पत्ति उनका परिश्रम और उसका परिणाम है। एक निश्चित प्रकार का काय जब किसी वग को दे दिया जाता है तो उस काय को करने का अधिकार भी उस वग की सम्पत्ति का रूप होता है। इन आदिमजातियो का नृत्य एव गीत, उनमें जादू टोने का प्रयोग तत्र मत्र शक्ति आदि भी सम्पत्ति के रूप हैं।

जब सम्पत्ति होती है तो उसका स्वामित्व भी होता है। जहाँ तक आदिवासी समाजो का प्रश्न है उनम स्वामित्व सामान्यतया पूरे समूह का होता है। उनम सम्पत्ति का जो भी रूप मुख्य स्थान रखता है यथा भूमि पशु, जगल उपज, शिकार आदि वह सब सामूहिक सम्पत्ति के रूप म माना जाता है। इस प्रकार की वस्तुओ पर स्वामित्व पूरी आदिमजाति का होता है यद्यपि इसके प्रयोग तथा उपभोग का सयमित अधिकार प्रत्येक सदस्य को रहता है। इन वस्तुओ को उपभोग के लिए आदिमजाति के विभिन्न परिवारो में मुखिया के द्वारा बाटा जाता है। उसे पूरा अधिकार होता है कि समाज के हित में किस परिवार को कब और कितनी सम्पत्ति दी जाय। पुन कुछ वस्तुए परिवार की सम्पत्ति होती हैं। गाँव या आदिमजाति के मुखिया से जो सम्पत्ति परिवार के लिए मिलती है उसके प्रयोग पर पूरे

परिवार का स्वामित्व होता है। साथ ही इस सम्पत्ति से लाभ उठाने के लिए जिन उपकरणों का प्रयोग किया जाता है वे भी परिवार की सम्पत्ति होते हैं। उदाहरण के लिए कृषि उपकरण परिवार की सम्पत्ति हैं। पुन जो वस्तुएं केवल व्यक्ति विशेष के उपयोग में आती हैं, जैसे आभूषण, वस्त्र आदि उन्हें व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। आदिमजातीय समाजो में व्यक्तिगत सम्पत्ति अत्यन्त सीमित और कभी-कभी नही ही होती है।

भारतीय आदिमजातियो में अर्थव्यवस्था के आधार पर शिकार एवं खाद्य-संग्रह वाले जगल के क्षेत्र आदिमजातीय स्वामित्व में आते हैं। इसी प्रकार पशुपालकों के पशु एवं चरागाह कृषकों के जंगल या जमीनें शिल्पियों के कच्चे मालो के स्रोत और कार्य विशेष का अधिकार सब आदिमजातीय स्वामित्व की वस्तुए हैं। इन व्यवस्थाओ से प्राप्त वस्तुए भी आदिमजातीय स्वामित्व के अन्तर्गत आती हैं। परन्तु जो वस्तुए परिवार के उपभोग के लिए प्राप्त हो जाती हैं जैसे शिकार का क्षेत्र, खेती की जमीन पशु आदि वे परिवार के स्वामित्व में आती हैं। व्यक्तिगत स्वामित्व अब बाहरी सम्पर्क के परिणामस्वरूप धीरे-धीरे बढ़ रहा है जिसमें वस्त्र, आभूषण श्रृंगार सामग्री आदि आते हैं।

सम्पत्ति का स्वामित्व निर्धारित होने पर उसके उत्तराधिकार की भी व्यवस्था की जाती है। किसी व्यक्ति की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति किसको और कैसे प्राप्त हो यही उत्तराधिकार की व्यवस्था है। आदिवासी समाजो में व्यक्तिगत सम्पत्ति काफी सीमित होने के कारण उत्तराधिकार की व्यवस्था भी सरल होती है। सामान्यतया मृतक के नियमित प्रयोग की वस्तुए उसके साथ दफना कर दी जाती हैं या नष्ट कर दी जाती हैं। पुरुष की सम्पत्ति पुरुषो को और स्त्री की सम्पत्ति स्त्रियो को मिलने की व्यवस्था पाई जाती हैं। मातृवंशात्मक और पितृवंशात्मक समाजो मे उनके नियमानुसार सब लड़कियों या लडको को सम्पत्ति मिलती है। कभी-कभी सबसे बड़ी या सबसे छोटी लडकी या लड़के को ही सारी सम्पत्ति मिलती है।

भारतीय आदिमजातियों मे भी उत्तराधिकार के सभी सामान्य नियम और व्यवस्थायें पाई जाती हैं। सामान्यतया मृतक की सम्पत्ति सभी पुत्रो मे बराबर-बराबर बांटी जाती है। परन्तु कुछ आदिमजातियो में स्थिति भिन्न भी है। टोडा मे सबसे बडे लडके तथा सबसे छोटे लड़के को एक अतिरिक्त पशु उत्तराधिकार मे प्राप्त होता है। मेघालय की खासी आदिमजाति मे जो मातृवंशात्मक है सम्पत्ति माता से सबसे बड़ी लडकी को मिलती है, उसकी

मृत्यु पर यदि छोटी बहनें हैं तो एक-एक कर उन बहनो को तथा सबसे छोटी बहन की मत्यु पर धुन सबसे बडी बहन की सबसे बडी पुत्री को मिलती है। तमिलनाडु की नीलगिरि पहाडियो के बडागा मे जैसे ही किसी लडके का विवाह होता है वह अपने पिता का घर छोड देता है। केवल सबसे छोटा लडका माता पिता के साथ अत तक रहता है और केवल वही पिता की सारी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है।

बाजार एव व्यापार

भारतीय आदिमजातियो मे लगभग सभी क्षेत्रो मे बाजार नामक सस्था की उपस्थिति पाई जाती है। बहुधा कई गावो के लिए एक स्थान पर निर्धारित दिन आस पास के लोग आकर अपनी-अपनी अतिरिक्त सामग्रियो के बदले मे आवश्यकता की वस्तुए ले जाते है। यह बाजार पाक्षिक या साप्ताहिक होते है। आदिमजातीय क्षेत्र के बाजारो मे हमे स्थानीय आवश्यकताओ क अनुकूल सामग्रियाँ मिलती हैं। तरकारी अनाज मुर्गा मांस, मसाला बनन श्रृगार सामग्री कपड उपकरण औजार आदि सामग्रियाँ विभिन्न लोगो द्वारा खरीदी बेची जाती है। बाहर से बडे-बडे कस्बो के व्यापारी इन बाजागे से स्थानीय उपज का सामान खरीद ले जाते हैं और वहाँ के लोगा की आश्यकता की वस्तुए बेच जाते हैं। इन बाजारो मे थोडा बहुत आदान प्रदान ही हा पाता है। यह सामान्यतया दिन को 11 12 बजे से शुरू होता है और सायकाल 4 ५ बजे तक समाप्त हो जाता है। कुछ बाजार ऐसे होते हैं जो वष म एक बार लगते है और कई दिनो तक लगातार चलते रहते है। मध्य प्रदेश के बस्तर जिले मे ऐसे बाजारो को मडई के नाम से जाना जाता है। इन बजारो मे लोग दूर दूर से परिवार सहित आते है। बहुधा यह बाजार मुख्य फसल कट जाने पर लगता है और यहाँ से लोग साल भर की मोटी-मोटी आवश्यकता की वस्तुए खरीदते हैं। इन बाजारो के आस पास आने वाले लोगो के ठहरने से उतने दिनो तक एक छोटी मोटी आबादी सी बस जाती है। यह लोग इन बाजारो में जहाँ सामग्रियो का आदान प्रदान कर इसके आर्थिक पक्ष को सार्थक करते हैं वही पर इन बाजारो मे विवाह शादियाँ भी तय होती हैं। दूर-दूर के सम्बन्धियो से मिलना भी होता है। रात रात भर नाच गाने के भी आयोजन होते हैं। इस प्रकार यह वार्षिक बाजार सामाजिक एव सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी पर्याप्त महत्व रखते है।

4

सामाजिक सगठन

मानवमात्र मे प्राप्त सामाजिकता के विभिन्न स्वरूपो मे व्याप्त अतर ही मानवीय सामाजिकता को एक उच्च स्तर प्रदान करते हैं। देश, काल एवं परिस्थितियो की विषमताए इन अतरो को पोषित एव स्पष्ट करती हैं। लघु समाजो एव अत्यन्त अल्पविस्तृत क्षेत्रो में अपने सामाजिक सम्बन्धो को सीमित रखने वाले आदिवासियो की सामाजिक सगठनात्मक प्रवृत्तियां बृहत क्षेत्रो में विस्तृत एव अधिक सख्या वाले समुदायो से भिन्न प्रतीत होती हैं। मानव वैज्ञानिको ने अपने गहन अध्ययनो एव विशिष्ट प्रणालियो के द्वारा इन अतरो की विवेचना की है। आज भारतीय आदिवासी समुदायों के सामाजिक सम्बन्धो के दायरे अपनी परम्परागत सीमाओं को तोड चुके हैं—किंतु बृहत् सभ्य समाजों की व्यवस्थाओं से उनका समायोजन हो पाना कठिन हो रहा है।

मनुष्य आदिकाल से समूह में रहता आया है। यह समूह आकार, कार्य, उपयोगिता के आधार पर अलग अलग स्थानो पर भिन्न भिन्न रूपो में आरम्भ हुए और विकसित हुए। अकेले रहते हुए मनुष्य के लिए अपनी तमाम दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना सामान्य रूप से सभव नहीं था और यही कारण था कि उसने समूहो मे रहना आरम्भ किया। शिकार करने के लिए मछली मारने के लिए खाद्य सग्रह के लिए अपनी रक्षा के लिए, मनोरजन के लिए मकान बनाने के लिए सम्बन्ध स्थापित करने के लिए हर क्षेत्र मे उसे समूह बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई और अततो गत्वा हम विकसित तथा नियोजित रूप म अनेक समूह पाने लगे। कही यह समूह लिंग स्थान आदि के आधार पर बने तो कही परिवार वश जाति के रूप में और इन सबको मिलाकर जो रूप सामने आया उसे हम मानव समाज के नाम से सम्बोधित करते है। प्रत्येक समाज मे हम इस प्रकार के अनेक समूह पाते हैं। उनकी काय पद्धति एव परस्पर सम्बन्धो की भिन्नता के आधार पर हम जहाँ उनमे असमानताये पाते है वही पर अनेक समाजो के संगठनो म परस्पर समानता के भी उदाहरण मिलत हैं। कुल मिला कर इतना तो अवश्य है कि प्रत्येक समाज में हम अनेक समूह पाते हैं और उनके पारस्परिक सम्बन्धो को मिला कर समाज का जो सगठनात्मक रूप हमारे सामने आता है उसे हम सामाजिक सगठन के नाम से जानते है। यह अवश्य है कि आजकल के आधुनिक मानव समाजो म इस सगठन को विस्तृत एव अतसमाजीय सम्बन्धो के रूप मे पाया जाता है जबकि आदिमजातीय समाजो में इसका रूप सीमित एव आदिमजातियो के अतर्सामूहिक सम्बन्धो के रूप मे ही मिल पाता है। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारत के आदिमजातीय समाज में ऐसे कौन से समूह हैं जिनका अतसम्बन्ध मिल कर आदिमजातीय सामाजिक सगठन का निर्माण करना है।

जैसा कि हमने ऊपर देखा है प्रत्यक समाज में विभिन्न कार्यों के लिए अलग अलग समूह होते हैं। भारत के आदिमजातीय समाज में भी हम ऐसे जो तमाम सामाजिक समूह पाते है उनको मोटे तौर पर दो भागो मे बांटा जा सकता है। एक तो वे समूह जिन्हे सामाजिक इकाईयो के नाम से जाना जाता है और जिनके अन्तगत सामाजिक सगठन का मूल आधारभूत ढांचा तय्यार होता है। इनमे रक्त सम्बन्ध स्थान लिंग आयु आदि पर आधारित समूह होते है। यह इकाई वाले समूह तत्सम्बन्धी मानव समाज के आधार रूप का निर्माण करते हैं। यह इकाईयां छोटी और बडी दोनो प्रकार की

होती हैं। उदाहरण के लिए एक ओर परिवार नामक इकाई में चार पांच सदस्य पाये जाते हैं और दूसरी ओर आदिमजाति नामक इकाई में कई हजार या कहीं-कहीं लाखों सदस्य पाये जाते हैं। यही पर परिवार, वंश (Lineage), गण, (Clan), आदिमजाति अर्द्धांश (Moiety), आदिमजाति आदि के बीच जो परस्पर अंतर्संबन्ध होता है वह सामाजिक ढांचे का आकार बनाता हुआ संगठन को एक सहज सुव्यवस्थात्मक रूप प्रदान करता है। दूसरे वे समूह होते हैं जो सामाजिक संस्थाओ के नाम से जाने जाते हैं और जो सामाजिक संगठन के ढांचे को पूर्णता प्रदान करते हैं। इन संस्थाओं के विवाह, नातेदारी, सम्पत्ति, टोटम, टैबू आदि आते हैं। इन संस्थाओं द्वारा सामूहिक कार्यों को व्यवस्थित तथा नियमित रूप से सम्पादित किया जाता है। यह संस्थाए अपनी गतिविधियो के द्वारा जहाँ सामाजिक संगठन के सहज संचालन में सहायक होती हैं वही पर इनके माध्यम से तत्सम्बन्धित समाज की सस्कृति का निर्माण भी होता है।

इस प्रकार भारतीय आदिमजातीय समाजों मे पाई जाने वाली उपलिखित विभिन्न इकाईयो एव सस्थाओ के विधिवत अध्ययन द्वारा आदिमजातीय सामाजिक सगठन के रूप को सरलतापूर्वक तथा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

सामाजिक इकाईयों मे तथाकथित रक्त सम्बन्ध पर आधारित इकाईया विशेष महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार की इकाईयो मे परिवार वंश, गण, अर्द्ध आदिमजाति और आदिमजाति आती हैं। इस प्रकार की इकाईयो के सदस्य एक दूसरे से पर्याप्त निकटता एव भावनात्मक सम्बन्धो द्वारा सम्बद्ध होते हैं। वे यह भी जानते हैं कि बडी से बडी इकाई का भी कोई एक पूर्वज या प्रवतक होता है और उसके वशज होने के नाते सभी सदस्य एक दूसरे के रक्त सम्बन्धी होते हैं। इन सभी सदस्यो मे एक ही रक्त प्रवाहित होने की भावना इनको एक दूसरे के साथ भावनात्मक रूप से सम्बद्ध करती है जो कि इनको एकता की ओर ले जाती है। सबसे छोटी इकाई के अन्तर्गत हम परिवार को पाते हैं जिसमे पति पत्नी और उनकी सामाजिक मान्यता प्राप्त सन्तान आती है। दूसरी ओर सबसे बड़ी इकाई आदिमजाति के रूप में पाई जाती है जिसके सभी सदस्य एक निर्धारित भूभाग मे निवास करते हुए, समान बोली बोलते हुए, सम्पत्ति पर समान एवं सम्मिलित अधिकार रखते हुए, सौहार्दतापूर्वक रहते हुए, एकसे राजनीतिक संगठन के अन्तर्गत कार्य करते हुए एक दूसरे से सम्बन्धित बने रहते हैं। इन इकाईयों की सामान्य

सख्या और निवास स्थान का आकार जैसे-जैसे बढता जाता है इनके सदस्यों के बीच सम्बन्ध औपचारिक होते जाते हैं परन्तु दूसरी ओर निचले स्तर पर इनके बीच सम्ब ध अत्यन्त निकटता के एव अत्यन्त अनौपचारिक होते जाते हैं। विभिन्न आदिमजातियो की इन इकाईयो के सदस्यो के बीच पारस्परिक सम्बन्ध और व्यवहार परम्पराआ द्वारा भी निर्धारित होते हैं। किस इकाई के पूवजो द्वारा कैसा व्यवहार किया जाता रहा है वैसा ही व्यवहार वर्तमान सदस्यो से भी अपेक्षित है। इन व्यवहारो एवं सम्ब धो के आधार पर ही सदस्यो के कर्तव्यो एव उत्तरदायित्वो का निर्धारण होता है। मुख्य रूप से इन इकाईयो का निर्धारण सामाजिक सम्ब धो द्वारा प्रभावित होता है और यह सामाजिक सम्ब ध जीवन के साथ सभी क्षेत्रो यथा आर्थिक राजनैतिक धार्मिक आदि को प्रभावित करते हैं।

इस प्रकार के वर्गीकरण का अध्ययन यदि टोडा जनजाति में किया जाय तो हमे निम्न स्थिति मिलती है —
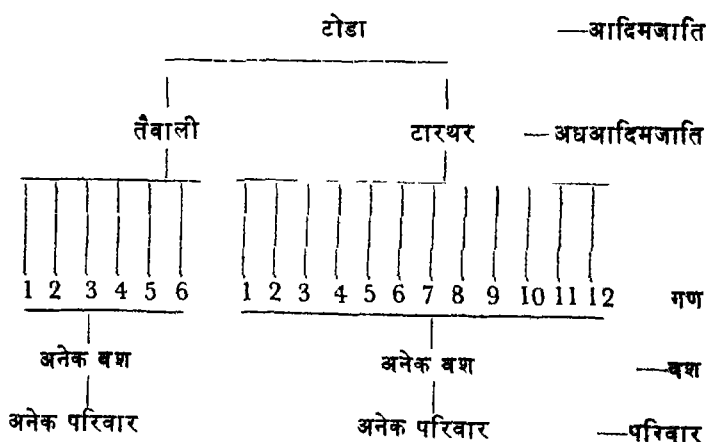
उपरोक्त वर्गीकरण के अ तगत हम जिन सामाजिक इकाईयो को पाते हैं उनमे आदिमजाति सबसे बडी है। यह पुन दो अर्धआदिमजाति इकाईयो में बटी हुई हैं जो आपस मे विवाह न करके केवल अपने-अपने वर्ग में ही विवाह करती है अर्थात अतर्विवाही हैं। यह दोनो अधआदिमजातियाँ क्रमश छ तथा बारह गण समूहो में बटी हुई हैं। यह समूह बहिर्विवाही हैं तथा पुन विस्तृत

वंश समूहों में बटे हैं जो बहिर्विवाही होते हुए छोटे-छोटे अनेकों परिवारों में बंटे हैं। इस प्रकार इस आदिमजाति का प्रत्येक सदस्य एक दूसरे का सम्बन्धी है और वे इस संबंध के आधार पर सौहार्द्र तथा सामाजिक निकटता की भावना से परिपूर्ण हैं।

यह अवश्य है कि किसी इकाई के आकार के आधार पर अथवा स्थानीय एवं गोत्रीय प्रथाओ के अन्तर्गत विभिन्न स्तर की इकाईयों के सदस्यो के बीच यह सौहार्द्रता की भावना कम या अधिक हो सकती है परन्तु यह होगी अवश्य। उदाहरण के लिए एक ही परिवार के सदस्य एक दूसरे के साथ अधिक निकटता का अनुभव करेंगे, जबकि टारथर तथा तैवाली समूह के सदस्य अपने-अपने सदस्यो के साथ जिस निकटता तथा सौहार्द्रता का अनुभव करेंगे वह एक दूसरे के सदस्यो के लिए नही करेंगे। वैसे सामान्यतया गण स्तर तक सम्बन्ध पर्याप्त निकटता के रहते हैं।

परिवार नामक इकाई रक्त सम्बन्धी सामाजिक इकाईयो मे सबसे निचली सीढी पर परन्तु सबसे अधिक निकट संबधो वाली होती है। टोडा परिवार प्रारम्भिक सम्मिलित तथा विस्तृत सभी प्रकार के होते हैं। निवास के दृष्टिकोण से टोडा पितृस्थानीय परिवार मे आते हैं और सम्पत्ति के हस्तातरण मे वे पितृपक्षीय हैं। इनका वश भी पिता की ओर से ही चलता है अर्थात् वे पितृवशीय है, परन्तु इनकी गण सदस्यता पितृवशीय तथा मातृवशीय दोनो ओर समान रूप से होती है। जब सम्पत्ति के हस्तांतरण की व्यवस्था आती है तब वे पितृवशीय हैं और जब मृत्यु सस्कारो का पालन करना होता है तब वे मातृवशीय होते हैं।

परिवार नामक सामाजिक इकाई लगभग सभी समाजो मे पायी जाती है। सदस्यता के आधार पर हम परिवार के अनेक रूप पाते हैं। इनमे सबसे प्रारम्भिक स्तर पर हम जिस पारिवारिक समूह को रखते हैं उसकी सदस्यता माता पिता तथा सामाजिक मान्यता प्राप्त सतानो तक सीमित होती है। इस परिवार को हम केन्द्रीय परिवार, प्रारम्भिक परिवार अथवा व्यष्टि परिवार के नाम से सम्बोधित करते हैं।

परिवार का दूसरा रूप हमे विस्तृत परिवार के नाम से मिलता है, जिसमे प्रारम्भिक परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त कुछ निकट सम्बन्धियों को भी सम्मिलित कर लिया जाता है। ऐसे परिवारों के उदाहरण हमे अधिकांश आदिमजातीय समाजो में मिलते हैं। जब इसी परिवार की सदस्यता सतेकारी के आधार पर और बढा दी जाती है तब हमे भारत का प्रसिद्ध हिन्दू संयुक्त

परिवार का उदाहरण मिलता है। इसमे जन्म तथा विवाह सम्बन्ध दोनों से परिवार की सदस्यता प्राप्त होती है।

पुन जब हम रक्त सम्बन्धियों के ऐसे अनेक परिवारों को मिला कर एक परिवार पाते हैं तब इसको रक्त सम्बन्धी परिवार के नाम से जाना जाता है। इस परिवार की सदस्यता जन्म द्वारा प्राप्त होती है और आयु की परिपक्वता अथवा विवाह सम्बन्धो की समाप्ति से इस परिवार की सदस्यता पर कोई प्रभाव नही पडता है। इसे हम एक छोटे वंश समूह के रूप मे भी देख सकते हैं। मालाबार के नायर लोगो मे ऐसे परिवार थारवाद की उपस्थिति मिलती है। उनके यहाँ मातृवंशीय समाज होने के कारण रक्त सम्बन्धी परिवार मे पिता या पति का कोई महत्व नही होता है।

नायर परिवार को थारवाद के नाम से जानते हैं तथा इसकी सदस्यता किसी महिला महिला की सतानो (स्त्री तथा पुरुष दोनो) तथा स्त्री संतानो की सतानों को प्राप्त होती है। पुरुष सतानो की सतानो को इसकी सदस्यता नही मिलती है परन्तु उनकी सतानो को अपनी माता के थारवाद की सदस्यता प्राप्त होती है। इस परिवार का सचालन ज्येष्ठ पुरुष सदस्य द्वारा किया जाता है तथा उसे 'कणवान' के नाम से जाना जाता है। इस परिवार की सम्पत्ति सामूहिक होती है और कणवान सब व्यवस्था देखता है। जब तक वह परिवार के सब सदस्यो के हितो की रक्षा करते हुए कार्य करता है वह अपने पद पर बना रहता है और एक प्रकार से निरकुश शासक की स्थिति में रहता है। परन्तु गडबड करने पर अन्य सदस्य आपत्ति उठाकर उसे पदच्युत कर सकते हैं। जब थारवाद का आकार बहुत बढ जाता है तब इसमे थवाझी के नाम मे एक छोटा पारिवारिक सगठन भी बना लिया जाता है और इसमें महिला उसकी सतानें तथा महिला वशज आते हैं।

इनके अतिरिक्त आदिमजातीय समाजो मे हमे ऐसे परिवार भी मिलते हैं जिनमे एक से अधिक पति पत्नी तथा उनके बच्चे और कुछ निकट सम्बन्धी आते हैं। इस परिवार को विवाह सम्बन्धी परिवार कहा जाता है क्योंकि इसमे विवाह सम्बन्ध पर अधिक बल रहता है और जहाँ विवाह सम्बन्धों में स्थायित्व नही है वहाँ ऐसे परिवार नही मिलते हैं। भारत जैसे परम्परागत एव सास्कारिक समाज मे ऐसे परिवारो के उदाहरण पर्याप्त मिलते हैं। इसमें विवाह के समय वश परम्परा के अनुसार पत्नी या पति को अपने जन्म द्वारा प्राप्त पारिवारिक सदस्यता को छोडना पडता है अर्थात् मातृवंशीय समाजों में पति तथा पितृवंशीय समाजो मे पत्नी क्रमश पत्नी तथा पति के वंश परिवार

की सदस्यता में सम्मिलित हो जाती है और उनके जन्म परिवार की सदस्यता समाप्त हो जाती है। जिस परिवार में किसी का जन्म होता है उसे हम जन्म परिवार तथा विवाह द्वारा स्थापित परिवार को जनन परिवार के नाम से जानते हैं।

परिवार को विवाह के आधार पर भी कुछ भागों में विभाजित किया जा सकता है। जिन समाजो मे परिवार स्थापना के लिए एक समय में एक ही पति या पत्नी प्राप्त करने और रखने का विधान होता है उनको हम एक विवाही परिवार के नाम से जानते हैं। पुन: जहां एक ही समय मे एक से अधिक पति या पत्नियां प्राप्त करने तथा रखने की व्यवस्था होती है उनको हम बहुविवाही परिवार कहते है। यदि एक स्त्री के अनेक पति होते हैं तब हम ऐसे परिवार को बहुपति परिवार के नाम से जानते हैं। इसमें भी यदि एक स्त्री के सभी पति भाई-भाई होते हैं तब हम इसको भ्रातृक बहुपति परिवार के नाम से अन्यथा अभ्रातृक बहुपति परिवार के नाम से जानते हैं। इसी प्रकार दूसरी ओर एक पुरुष जब एक समय मे एक से अधिक पत्नियाँ प्राप्त करता है तथा रखता है तब हम इस परिवार को बहुपत्नी परिवार के नाम से जानते हैं।

जहा विवाह के विभिन्न रूपों पर आधारित परिवारो के उदाहरण हमे सामान्य रूप से भारत की अधिकांश आदिमजातियों मे मिलते हैं वही पर बहुपति परिवार केवल सीमित क्षेत्रो मे ही मिलते है। उत्तर प्रदेश के खासा तथा मालाबार के नायर इस बहुपति परिवार के विशिष्ट उदाहरण देखे जा सकते हैं। खासा आदिमजाति मे सबसे बडा भाई जिस स्त्री से विवाह करता है वह स्त्री परिवार के सभी भाइयो की पत्नी मानी जाती है। जो भाई बाल्यावस्था मे होते है वे भी बड होकर पति के रूप मे व्यवहार करते हैं। अक्सर छोटे भाइयो की आयु से बड़े भाई की पत्नी की आयु में बहुत अन्तर होने पर उनके लिए दूसरी पत्नी भी लायी जाती है परन्तु वह भी सभी भाइयो की पत्नी होती है। इस प्रथा के पीछे एक विशेष भावना पारिवारिक सम्पत्ति को अविभक्त रखने की है। सबसे बड़ा भाई सारे परिवार का मुखिया होता है और परिवार की सारी सम्पत्ति पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है। पत्नी पर भी बडे भाई का ही सर्वाधिक एवं सम्पूर्ण अधिकार होता है। चूंकि खासा विकट परिस्थितियो एवं विपरीत प्राकृतिक वातावरण में जीवन-यापन करते हैं अत: उनमें यह प्रथा परिवार के संचालन में आर्थिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर सहायक होती है। वो इसके अन्य कारणो में स्त्रियों की कमी, वधू मूल्य की अधिकता, स्त्री की सुरक्षा का विश्वास, नियमपालन को

बन्धाना आदि भी बताए जाते हैं। मालाबार के नायर लोगो मे बहुपतित्व का उदाहरण यौन सम्बन्धो की स्वतन्त्रता के रूप मे पाया जाता है। यहां विवाह सम्बन्धम् के नाम से जाना जाता है और इसको किसी पक्ष द्वारा नया विवाह करके या वैसे भी समाप्त किया जा सकता है। इनमें परिवार पर विवाह सम्बन्ध का विशेष प्रभाव नहीं पडता है क्योंकि थारवाद मे प्रत्येक सदस्य को पूरी सुरक्षा प्राप्त है। ऐसी स्थिति मे प्रत्येक स्त्री एक से अधिक पुरुषों से विवाह करने को स्वतन्त्र थी यद्यपि नये सामाजिक वातावरण मे यह प्रथा समाप्तप्राय है। इनके अतिरिक्त मालाबार के इरवान तथा नीलगिरि के टोडा तथा कोटा एव कुर्ग लोगो मे भी बहुपति परिवार मिलते हैं। जब कई पुरुष मिलकर कई स्त्रियो से विवाह करते है तब ऐसे परिवार को समूह विवाही परिवार के नाम से जाना जाता है।

सदस्यता तथा विवाह के अतिरिक्त परिवार के विभाजन के कुछ अन्य आधार भी हैं। परिवार मे प्रमुख सदस्य पिता है या माता इस आधार पर हम पितृसत्तात्मक तथा मातृसत्तात्मक परिवार पाते हैं। विवाह के उपरांत पति-पत्नी के निवास स्थान की व्यवस्था के आधार पर पितृस्थानीय मातृस्थानीय, मातुलस्थानीय तथा नवस्थानीय परिवार पाये जाते हैं। सम्पत्ति एव वश नाम परम्परा के हस्तातरण के आधार पर हम मातृवशीय तथा पितृवशीय परिवार पाते हैं।

जहा अधिकाश भारतीय आदिमजातिया पितृसत्तात्मक पितृस्थानीय एव पितृवशीय हैं वही पर कुछ क्षेत्रो मे मातृपक्ष को आज भी प्रमुख स्थान मिलता है। इनमे मालाबार के नायर तथा मेघालय की खासी तथा गारो आदिम जातियो को प्रमुख रूप से देखा जा सकता है। नायर लोगो मे परिवार का सचालन एक ज्येष्ठ पुरुष सदस्य कणवान द्वारा होता है परन्तु वह मातृपक्ष का होता है तथा सम्पत्ति एव वश परम्परा का हस्तातरण सदैव मातृपक्ष के सदस्यो मे होता है। परिवार मे माता की सतानो और केवल स्त्री सतानो की सन्तानो को सदस्यता मिलती है जो विशुद्ध मातृवशिकता का प्रतीक है। खासी मे मातृस्थानीय निवास एव मातृवशीय वशानुक्रम मिलता है। स्त्री एवं उसकी सतान परिवार की सदस्यता प्राप्त करते हैं परन्तु परिवार का संचालन माता के हाथ मे होता है। सारी सम्पत्ति एव वशानुक्रम मातृपक्ष के सदस्यो को ही प्राप्त होता है। सामान्यतया सबसे छोटी लडकी—का खद्दु—परिवार की धार्मिक एव आर्थिक व्यवस्था का सचालन करती है। गारो मे भी वशानुक्रम मातृपक्ष की ओर से ही चलता है। यहा वशनाम तो सभी सदस्यों को

प्राप्त होता है परन्तु सम्पत्ति कन्याओं मे से किसी एक को ही मिलती है और उस कन्या को 'नोकना' के नाम से जाना जाता है। नोकना का चुनाव माता-पिता पर निर्भर करता है। यहां सम्पत्ति का हस्तांतरण तो मातृपक्ष से ही होता है परन्तु सम्पत्ति की व्यवस्था स्त्री के पति द्वारा की जाती है। नोकना की अविवाहित बहनो की देखभाल भी उसी की जिम्मेदारी होती है।

वंश रक्त-सम्बन्ध पर आधारित दूसरी सामाजिक इकाई है। कई परिवार मिलकर वश नामक समूह का निर्धारण करते है। जैसे परिवार बर्हिविवाही होता है वैसे ही वश भी बर्हिविवाही सामाजिक समूह है। इसमे सदस्य एक दूसरे से परिचित और सम्बन्धित होते हुए भी परिवार की अपेक्षा कम निकटता का अनुभव करते है। जहां परिवार मे माता या पिता किसी की भी प्रधानता होने पर दोनो को ही स्थान प्राप्त होता है वश मे किसी एक का ही स्थान होता है अर्थात् या तो कोई अपने पिता के वश से सम्बन्धित होता है या माता के। एक ही परिवार मे दो वंशो के व्यक्ति सदस्य हो सकते हैं। वश के सदस्य एक दूसरे की सहायता सामान्य एव सहज रूप से सामाजिक उत्तर दायित्व के निर्वाह हेतु करते है।

गण कई परिवारो या वशो से मिल कर बनी हुई एक अपेक्षाकृत विस्तृत इकाई है। इसके सभी सदस्य किसी एक पूर्वज से अपने को उत्पन्न मानते हैं और आदिमजातीय समाजो मे गण का पूर्वज कोई काल्पनिक व्यक्ति जीव पौधा या जड पदार्थ भी हो सकता है। गण सामान्यतया बर्हिविवाही इकाई है और टोटम के माध्यम से इसके सभी सदस्य एक दूसरे से सम्बन्धित होते है। एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र मे निवास करना भी इस इकाई के सदस्यो से अपेक्षित है। यद्यपि इस इकाई को अधिकाश आदिमजातियों मे पाया गया है परन्तु अण्डमान द्वीपवासियो तथा केरल के कादार मे यह इकाई नही पाई जाती है।

अनेक गोत्रो से मिल कर फ्रटरी (Phratary) नामक सामाजिक इकाई की स्थापना होती है जो कि एक आदिमजाति को कई भागो मे बांटती है। जब किसी आदिमजाति मे ऐसी केवल दो इकाईयां होती हैं तब इसको अर्धांश (Moiety) के नाम से जानते हैं। ऊपर टोडा से दिये गये उदाहरण के अतिरिक्त मेघालय के गारो मे भी मरक एव सगमा नामक दो अर्धांश समूह मिलते हैं। यह इकाईयां अर्धांश के स्तर पर अर्तविवाही तथा फ्रटरी के स्तर पर बर्हिविवाही पायी जाती हैं।

सबसे ऊपर हमें आदिमजाति नामक समूह मिलता है जो रक्त-सम्बन्ध

के साथ-साथ स्थान पर आधारित सामाजिक इकाई है। इसके सदस्य आपस मे एक दूसरे से अपने को सम्बन्धित मानते हैं परन्तु यह सम्बन्ध सामाजिक परम्परा से चला आ रहा है इसीलिए माना जाता है। केवल कुछ क्षेत्रों को छोड कर अधिकाश आदिमजातिया इस स्तर पर औपचारिक सामाजिक सम्बन्धो की ही व्यवस्था रखती हैं। यह इकाई सामान्यतया एक भाषा, एक क्षेत्र एक नाम एव अतर्विवाह के लक्षणो से युक्त है।

स्थान पर आधारित सामाजिक इकाइयों मे हम आदिमजातीय समाजो के निवास एव भ्रमण क्षत्र को आधार बना कर विभाजन करते हैं। प्रत्येक आदिमजाति के निवास का एक मा य परम्परागत भ्रमण क्षेत्र होता है जिसके अतगत्त वे खाद्य सग्रह या शिकार के लिए घमते फिरते हैं। पुन आदिमजातियो के जो उपसमूह होते ह उनकी भी निश्चित सीमाएँ निर्धारित रहती हैं। जो समाज कृषि या पशुपालन पर निभर करते हैं उनका भी कृषि क्षेत्र या पशु चरागाह के क्षेत्र निर्धारित होते हैं और विभिन्न समूह अपने क्षत्र के साथ ही अपने को सम्बद्ध करते है। इनमे से प्रत्येक की स्वतन्त्र एव परम्परागत सामाजिक आर्थिक एव राजनतिक जीवन पद्धति होती है। उनके यह समूह सामान्यतया गाव की इकाई पर आधारित होते हैं। कभी इनका आकार बडा होता है जसे हो मुण्डा ओराव गोण्ड आदि आदिमजातियो मे और कभी छोटा जैसे ठोडा अण्डमान द्वीपवासी कादार आदि आदिमजातियो मे पाया जाता है। गाव के बाद हम क्षेत्रीय तथा आदिमजातीय इकाइया पाते हैं। इनम मे प्रत्यक इकाई का सामाजिक जीवन एक नियन्त्रित व्यवस्था द्वारा सचालित होता है। प्रत्येक इकाई के सदस्य को इकाई के प्रति कुछ कर्तव्यो का निर्वाह करना होता है और बदल मे इकाई क माध्यम से उसको सामाजिक स्तर तथा आर्थिक स्थिरता प्राप्त होती है।

हमे लिग एव आयु पर आधारित सामाजिक इकाईया भी मिलती हैं। चूकि विभिन्न आयु वग के सदस्या की समस्याए और भावनाए अलग-अलग होती ह अत आदिमजातीय समाजो मे आयु वग पर आधारित अनेक इकाईया मिलती है। इसी प्रकार स्त्री एव पुरुष बालक एव बालिका किशोर एव किशारी वग के सदस्यो के लिए भी अलग अलग समूहो की व्यवस्था मिलती है। पूर्वी भारत मे नागाल्णड के कोन्याक नागाओ मे हमे किशोरों एव किशोरियो के लिए मोरुग तथा यो नामक अलग अलग इकाईयां मिलती ह। यद्यपि इन इकाईयो की सदस्यता के लिए अविवाहित होना भी आवश्यक है। यही आओ–नागा मे गांव के युवा वग के सदस्य जो अविवाहित होते ह

रात्रि को गांव की सीमा के पास मस्त्र धारण करके विश्राम करते हैं ताकि किसी भी आक्रमक का सामना तुरन्त कर सकें। वे गांव की सुरक्षा समिति के रूप में कार्य करते हैं। इसी प्रकार औराब में भी अविवाहित किशोरों एवं किशोरियों की अलग-अलग सामाजिक इकाइयां हैं। जो अपने गांव वालों की विभिन्न अवसरों पर यथा गृह निर्माण फसल काटने विवाह आदि में सामूहिक रूप से सहायता करती हैं।

आयु पर आधारित इकाइयो का सबसे अच्छा और व्यवस्थित उदाहरण हमें आओ नागा मे मिलता है। वहाँ बारह से चौदह वर्ष की आयु प्राप्त करने पर प्रत्येक बालक को मोरुग नामक कुमार गह की सदस्यता प्राप्त करनी पडती है। इस वर्ग के सदस्य 'नोजबरीहोरी' कहलाते हैं और इन्हें आयु तथा अनुभव की परिपक्वता के कारण अपरिपक्व दल के रूप मे माना जाता है। यह अपने से वरिष्ठ वर्ग के सदस्यो की सेवा करते हैं तथा उनसे आदिमजातीय परम्पराओ तथा मान्यताओ की शिक्षा ग्रहण करते हैं। तीन वर्ष तक इस प्रकार प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद इन सदस्यो को तुकपबहोरी वर्ग मे पहुचा दिया जाता है जिसकी ये अब तक सेवा करते रहे थे और अब यह स्वयं परिपक्व दल मे माने जाते हैं। यह नये सदस्यो को प्रशिक्षण देने लगते हैं। अब यह विवाह कर सकते हैं तथा इनके लिए मोरुग में सोना आवश्यक नहीं है। पुन तीन वर्षों तक परिपक्व दल मे रहने के बाद यह 'चूचेनबहोरी वर्ग के सदस्य बन जाते हैं जो कि मोरुग का नेता दल होता है। इसके तीन वर्ष बाद यह ओकचगशमी चरीबोरी' वग मे आ जाते हैं जिनको मोरुग की दावतो में सुअर की टाँग का माँस मिलता है। इस अवधि मे भी ये मोरुग का नेतत्व करते रहते हैं। इसके तीन वष बाद ये किदोगमबग वग मे आ जाते हैं जो गाँव के सम्मानित सदस्यो का वर्ग है। अब मोरुग का कोई काय इनके पास नही रह जाता है। तीन वर्ष बाद यह सोनरी वग मे प्रवेश पाते हैं जो बलि के लिए बोझा ढोने वाले मजदूरो का प्रबन्ध करता है। बलिमाँस का कुछ भाग इनको भी मिलता है। पुन तीन वर्षों बाद यह 'ततारी' वर्ग मे प्रवेश पाते हैं जो गाँव की प्रबन्ध समिति का काय करते हैं। गाँव के वृद्ध लोगों के परामर्श से गाँव का प्रशासन चलाना इनका काम है। इस प्रकार आओ—नागा में प्रत्येक पुरुष अपनी आयु के बढ़ने के साथ-साथ गांव के सर्वोच्च वग तक पहुचने मे समर्थ होता है। इस वर्ग के बाद वह 'बाओजम्बातेलकबा' 'बाओजम्बातेमम्बा' या 'पातिर' बनकर शेष जीवन बिता देते हैं।

आयु एवं लिंग दोनों पर समान रूप से आधारित हुमे विभिन्न आदिम-जातियो के युवागृह मिलते हैं । इन युवागह नामक इकाइयो में गाँव के सभी लडके लड़कियो को एक निश्चित आयु (चार पाँच वर्ष) के बाद सदस्य बनना और वहाँ की गतिविधियो मे प्रतिदिन सम्मिलित होना आवश्यक होता है । भारतीय आदिमजातियो मे युवागह की उपस्थिति अधिकांश स्थानो पर पायी जाती है । इनमे से मध्य प्रदेश के मुडिया गोड लोगो मे 'गोतुल' नामक युवागृह इस प्रदेश के वग का सर्वोत्तम उदाहरण समझा जा सकता है । प्रत्येक मुडिया बालक और बालिका के लिए गोतुल मे शाम को आना आवश्यक है । यहाँ वे आयु और अनुभव के आधार पर वरिष्ठ तथा कनिष्ठ सदस्य के रूप मे जाने जाते हैं । वरिष्ठ सदस्य जहाँ एक ओर कनिष्ठ सदस्यो को पारम्परिक लोक कथाओ पहेलियो सास्कृतिक कार्यक्रमा एव लोक गीतो द्वारा पारम्परिक सस्कृति की शिक्षा प्रदान करते है वही पर उनसे विभिन्न सेवाए भी प्राप्त करते हैं । वरिष्ठ सदस्यो मे से गोतुल के सचालन के लिए अधिकारियो का चुनाव किया जाता है । जहाँ सबसे प्रमुख अधिकारी एक किशोर ही होता है वही पर बाकी सभी पदो पर किशोर और किशोरियो की अलग-अलग नियुक्ति होती है । यहाँ किशोर सदस्यो को चेलिक तथा किशोरी सदस्यो को मोतियारी के नाम से जाना जाता है । मोतियारी का काय चेलिक वग के सदस्यो की मालिश करना बाल काढना तथा उनके साथ नृत्य आदि करना है । वरिष्ठ सदस्य कनिष्ठ सदस्यो को यौन सम्बधो की शिक्षा भी प्रदान करते हैं । यौन शिक्षा इस इकाई का एक महत्वपूण काय है । यद्यपि अब गोतुल समाप्ति की ओर है । पिछल दो दशको मे शिक्षा के विकास, मनोरजन के नये साधनो से सम्पक बाहरी लोगो द्वारा इस सस्था को यौन सम्पक के केन्द्र रूप मे समझना और इसकी गतिविधियो मे भाग लेकर यहाँ की भावना और पारम्परिक क्रियाओ को नष्ट करना इस इकाई के ह्रास के प्रमुख कारण समझ जा सकते हैं । विकास कार्यों के बहुमुखी क्रियान्वयन के दौरान बाहरी लोगो से जो सम्पक हुआ है उसने भी नये सामाजिक एव नतिक मानदण्डो का विकास किया है जिनके कारण इनको हीनता की दृष्टि से देखा जाने लगा है और नई पीढ़ी इससे विमुख हो रही है ।

उपर्लिखित इकाइयो के साथ-साथ हम और भी ऐसी सामाजिक इकाइयाँ पाते हैं जिनके माध्यम से मनुष्य अपने कर्तव्यो को पूरा करने तथा निबाहने का प्रयत्न करता है । उदाहरण के लिए मनोरजन, राजनीतिक गतिविधियाँ आर्थिक क्रियाओ से सम्बद्ध इकाइयाँ भी सामाजिक ढाँचे का बाहरी कलेवर

तैयार करने में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। आदिकालीन समय से चले आ रहे इस सामाजिक ढाँचे का रूप समय-समय पर स्थानीय रूप से उत्पन्न आवश्यकताओ एवं समस्याओं के साथ-साथ कुछ न कुछ बदलता रहता है। उदाहरण के लिए कहीं एक विवाही परिवार का प्रचलन हो सकता है तो कहीं बहुविवाही परिवार का, कहीं आर्थिक एवं सामाजिक स्तर माता की ओर से हस्तातरित होता है तो कहीं पिता की ओर से किसी क्रिया को एक जगह स्त्री द्वारा सम्पादित किया जाता है तो दूसरी जगह पुरुष द्वारा आदि-आदि। परन्तु कुल मिलाकर यह ढाँचा समाज के सहज संचालन के लिए आधारभूत पृष्ठभूमि तैयार करता है तथा इसके अन्तर्गत स्थानीय मान्यताओ एवं परम्पराओ को स्थापित एवं विकसित होने मे सहायता मिलती है।

कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ और समस्याएँ भी उठ खडी होती है कि किसी समाज के लिए अपनी पुरानी मान्यताओ एवं परम्पराओ मे आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता आ पडती है। बहुधा अधिकाश समाज इसे सहज रूप मे स्वीकार नही कर पाते है तथा उनका सामाजिक ढाँचा लडखडाने लगता है। भारतीय आदिमजातियो के सामने इस समय यही स्थिति आ खडी हुई है और स्वतत्रता के बाद की बदलती हुई परिस्थितियो मे शासन एवं सुधारक सस्थाओ द्वारा इनके जीवन को शेष राष्ट्र की विकास गति के साथ जोडने के प्रयत्नो ने इनके सामाजिक ढाँचे को झकझोर डाला है। इस समस्या पर हम अ यत्र विचार करेंगे।

सामाजिक इकाइयो के अतिरिक्त सामाजिक सगठन को पूर्णत्व प्रदान करने मे उन तमाम सस्थाओ का सहयोग होता है जो इस इकाइयो वाले ढाँचे को गति प्रदान करती है। हमने पहले देखा है कि इस प्रकार की सामाजिक संस्थाओ मे विवाह नाते रिश्तेदारी शिक्षा सम्पत्ति टोटम तथा टैबू आदि आते हैं।

विवाह इन सस्थाओ मे विशेष स्थान रखता है। विवाह भारतीय आदिमजातियो की एक ऐसी सस्था है जो उनके जीवन के अनेक पक्षो यथा सामाजिक आर्थिक मनोवैज्ञानिक, धार्मिक एवं सास्कृतिक आदि को प्रभावित करती है। यहाँ विवाह के पीछे आर्थिक एवं सामाजिक पक्षों की प्रमुखता होती है, क्योकि आदिमजातीय अर्थव्यवस्था में स्त्रियो का बहुत अधिक सहयोग होता है। वे खाद्य सग्रह व कृषि के अतिरिक्त दस्तकारी में भी कुशल होती है। दूसरी ओर, परिवार की स्थापना के लिए भी विवाह की आवश्यकता है। यो तो आदिमजातीय समाज में भी विवाह के साथ अनेक धार्मिक विधि

विधान एव क्रियाएँ सम्बद्ध रहती हैं परन्तु वे सामाजिक परम्पराओ से अधिक प्रभावित हैं और इस प्रकार धर्म का विवाह के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं मिलता है। जहाँ तक शारीरिक यौन आवश्यकताओ का प्रश्न है विवाह के बाद यौन सम्बन्धो की सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है परन्तु बिना विवाह किए भी और विवाह करने के बाद भी आदिमजातीय समाजो मे इस विषय मे काफी उदार परिस्थितियाँ विचार और व्यवहार मिलते हैं। ऊपर हम आदिमजातीय समाजो के युवा सगठनो मे यौनशिक्षा की व्यवस्था देख चुके हैं। चूकि इस शिक्षा से यौन सम्बन्धी शारीरिक आवश्यकताओ की भी पूर्ति होती रहती है अत विवाह के साथ इस भावना का प्रभाव या सम्बन्ध गौण ही रहता है। हम इन समाजो मे विवाह के बाद भी इस विषय मे पर्याप्त स्वतत्रता पाते ह। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले की खासा आदिमजाति मे विवाह के बाद पति के घर रहते हुए पत्नी को यौन सम्बन्धो मे कठोर नियमो का पालन करना पडता है और इस समय उसको रांती के नाम से जाना जाता है। परन्तु जब वह अपने पिता के घर वापस आती है और जहाँ उस ध्याती के नाम से जानते हैं वह यौन सम्बन्धो मे पूर्ण स्वतत्र होती है। उत्तर प्रदेश तराई की थारू स्त्रियाँ सुन्दरता के साथ-साथ विवाहेतर यौन सम्बन्धो की स्थापना की स्वतत्रता के लिए प्रसिद्ध हैं। कोन्याक नागा में भी लडकियाँ विवाह के बाद अपने प्रमियो से शारीरिक सम्बन्ध रखती हैं और यदि इस सम्बन्ध के द्वारा सन्तान भी प्राप्त होती है तो उसे सहजतापूर्वक स्वीकार किया जाता है। परन्तु इन स्वतत्रताओ के साथ-साथ कही हमे विशेष परिस्थितिया म अपराध वृत्ति की वृद्धि भी मिलती है। उदाहरण के लिए बस्तर के माडिया गोड मे हत्या एव आत्महत्या के अपराधो के पीछे अनपेक्षित यौन सम्बन्ध ही प्रमुख कारण है। अभी सन 1972 मे ही (वहा की गोड लडकियो के साथ) बलाडीला योजना मे काय कर रहे अन्य क्षेत्र के लोगो से काफी सख्या मे शारीरिक एव अर्द्ध वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण उत्पन्न असन्तोष को शान्त करने के लिए तत्कालीन जिलाधीश द्वारा उन लडकिया का सम्बन्धित व्यक्तियो से सामूहिक विवाह कराया गया था। यद्यपि स्थानीय आदिमजातीय महापचायत तथा नवयुवक इससे विशेष सन्तुष्ट नही हुए और फिर यह भी नियम बनाया गया कि यहाँ पर बाहर से आये हुए लोगो के घर स्थानीय गोड युवतियाँ घरेलू नौकरों के रूप म न रखी जाय ताकि इस प्रकार के सम्बन्धो की सम्भावना कम हो सके। गोड लोगो मे विवाह के बाद अन्य पुरुषो से शारीरिक सम्बन्धों को लेकर

बहुधा तलाक की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी आधार पर खासी तथा लुखाई नागा आदिमजातियों में भी तलाक दिया जाता है। यों विवाह के साथ सन्तान प्राप्ति की भावना विशेष रूप से सम्बद्ध है और इसको हम मनोवैज्ञानिक, धार्मिक एवं आर्थिक तीन पक्षों से देख सकते हैं। पति-पत्नी को विवाह सम्बन्धों से सन्तान प्राप्ति होने पर बहुत बड़ी आत्मतुष्टि एवं प्रसन्नता मिलती है जो कि मानव की सहज मनोवैज्ञानिक आकांक्षाओं की पूर्ति है। दूसरी ओर यह भी विश्वास हमें यदा-कदा मिलता है कि बच्चे प्राप्त होना ईश्वर की कृपा का प्रतीक है। यद्यपि सन्तान प्राप्ति के साथ मोक्षप्राप्ति की भावना आदिमजातीय समाज मे नहीं मिलती थी परन्तु पडोसी हिन्दुओं के सम्पर्क के साथ-साथ यह भी कहीं-कहीं मिलने लगी है। विवाह के बाद पत्नी यदि सन्तान न उत्पन्न कर सके तो उसे तलाक दिया जा सकता है और इसके पीछे मुख्य कारण बच्चो का आर्थिक दृष्टिकोण से उपयोगी होना है। आदिमजातीय समाजो मे जहाँ हर व्यक्ति कुछ न कुछ कार्य करते हुए अर्थोपार्जन का प्रतीक माना जाता है वहाँ सन्तान न होना आर्थिक दृष्टिकोण से हानिप्रद है।

अब हम भारतीय आदिमजातियो मे प्रचलित विभिन्न विवाह प्रथाओं अर्थात् पत्नी प्राप्त करने के तरीको का अवलोकन करेंगे। भारतीय आदिम जातीय समाज मे परम्परागत चली आ रही विवाह प्रथाओ को आठ भागो मे बाँटा गया है—

(1) परिवीक्षा विवाह (Probationary Marriage)
(2) हरण विवाह (Marriage by Capture)
(3) परीक्षा विवाह (,, Trial)
(4) क्रय विवाह (,, Purchase)
(5) सेवा विवाह (,, Service)
(6) विनिमय विवाह (,, Exchange)
(7) सह पलायन विवाह (,, Elopement)
(8) हठ विवाह (Intrusion marriage)

परिवीक्षा विवाह के अन्तर्गत भावी पति को कुछ समय तक भावी पत्नी के घर पर साथ-साथ रहकर एक दूसरे का स्वभाव समझने और समन्वय स्थापित करने का अवसर प्रदान किया जाता है। यदि इस बीच दोनों सन्तुष्ट रहते हैं तो विवाह कर दिया जाता है अन्यथा लडका अपने घर वापस चला जाता है। परन्तु विवाह न करने की स्थिति में लड़के को लडकी के अभि-

भावको को कुछ नकद धन देना पड़ता है। यह प्रथा असम की कुकी आदिम-जाति में पायी जाती है।

हरण विवाह के अन्तर्गत वर पक्ष के सदस्य भावी वधू को जबरदस्ती ले आते हैं। यद्यपि अब शिक्षा एव न्याय सम्बन्धी नियमो के प्रसार के साथ-साथ इस प्रथा मे कमी आ रही है। वैसे इस प्रथा का विकास आर्थिक कारणों से हुआ है। चूँकि अधिकाश आदिमजातियो मे शारीरिक श्रम ही आर्थिक उत्पादन का साधन है अत पत्नी प्राप्त करने के लिए 'कन्या मूल्य' देने की प्रथा पायी जाती है क्योकि एक सदस्य के बढने से घर की आय बढ़ेगी और जहाँ से सदस्य कम होगा वहाँ की आय घटेगी। जब धन की कमी और कन्या मूल्य की अधिकता के कारण लोग इसे अदा करने मे असमर्थ रहते हैं तब वे जबरदस्ती पत्नी प्राप्त करन का प्रयत्न करते हैं। नागा गोड हो भील आदि आदिमजातियो मे यह प्रथा पायी जाती है। कभी-कभी जैसे भूमिज आदिमजाति म यह हरण परस्पर दोनो पक्षो की स्वीकृति के साथ हाता है जिसमे कन्या पक्ष की ओर से केवल साकेतिक विरोध किया जाता है। खडिया सन्थाल मुण्डा तथा बिरहोर आदि आदिमजातियो मे लडका अपनी प्रमिका लडकी को जब ब्याहने मे असफल रहता है। तब किसी समय मेले आदि मे उसके माथे पर सिदूर लगाकर हरण का सकेत करता है इस प्रकार के प्रयत्नो द्वारा किये गये सम्बन्धो को बाद मे सामाजिक स्वीकृति दे दी जाती है।

परीक्षा विवाह म विवाह योग्य लडको को मेले आदि के अवसर पर शारीरिक क्षमता और शक्ति का प्रदशन करना पडता है। भील आदिमजाति मे इस प्रथा का बडा अच्छा और मनारजक उदाहरण मिलता है। यहाँ होली के अवसर पर होने वाले सावजनिक मेले मे एक स्थान पर लकडी का खम्बा पृथ्वी मे गाड दिया है और उसके ऊपरी सिरे पर गुड और नारियल बाँध देते ह। इस खम्बे के चारो ओर एक घेरे मे लडकिया और उनके बाद दूसरे व बाहरी घेरे मे लडके नाचते ह। इस नत्य के दौरान लडके एक एक करके लडकियो वाला भीतरी घेरा तोडकर खम्बे पर चढने, नारियल तोड़ने व गुड खाने का प्रयत्न करते ह। इस प्रयत्न के दौरान लडकियाँ उनको ऐसा करने से रोकती हैं और रुकावट के लिए शारीरिक शक्ति के अतिरिक्त लडकों के कपड फाडने बाल नोचने, काटने डण्ड या झाड़ू से मारने के सभी प्रयत्न करती हैं। यद्यपि कोई भी रुकावट द्वेषवश नही डाली जाती है न ही उनका इरादा कुछ विशेष हानि पहुचाने का होता है। इसके बाद भी जो नवयुवक

सफल हो जाता है उसे वहाँ घेरे में नाच रही किसी भी लड़की को 'अपनी' पत्नी के रूप में चुनने का अधिकार होता है और उस लड़की को वह तुरन्त अपने साथ ले जा सकता है। इस प्रथा को वहाँ स्थानीय रूप से 'गोल गधेधो' के नाम से जाना जाता है।

क्रय विवाह के अन्तर्गत विवाह के इच्छुक युवक को भावी पत्नी प्राप्त करने के लिए एक निश्चित मूल्य अदा करना पडता है और इस मूल्य को 'कन्या मूल्य' या 'सन्तान मूल्य' के रूप मे लिया जाता है। यह मूल्य नकद या सामग्री या दोनों रूपो मे हो सकता है। इस मूल्य का यह अर्थ कदापि नहीं है कि इस प्रकार वहाँ लडकियों को खरीदा या बेचा जा सकता है वरन इस मूल्य द्वारा यह सकेत दिया जाता है कि लड़कियों का समाज में समुचित स्थान है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि आदिमजातीय समाज में लडकियाँ भी उत्पादन के काय मे पुरुषो के समान ही पायी जाती हैं अत उनकी आर्थिक उपादेयता के प्रतीक रूप मे यह मूल्य देने की प्रथा निर्धारित की गयी है। यदि कोई स्त्री विवाह के बाद अपने पति को छोडती है तो पति को कन्या मूल्य वापस मिलता है। यदि किसी स्त्री के कोई सन्तान न हो और इस आधार पर उसको उसका पति तलाक देता है तब भी क यामूल्य वापस किया जाता है और यही कारण है कि कुछ विद्वान इसे स नान मूल्य के नाम से सम्बोधित करना पसन्द करते हैं। यह अवश्य है कि कुछ आदिमजातियो मे इसके आर्थिक पक्ष को अधिक प्रभावशाली न दिखाने के लिए साकेतिक मूल्य ही लिया जाता है अथवा रेंगमा नागाओ की भाँति निश्चित कन्या मूल्य से कुछ कम धन देते है। परन्तु दूसरी ओर हो जैसी आदिमजातिया भी हैं जहाँ कम कन्या मूल्य मांगना या स्वीकार करना हीनता का प्रतीक है। यह प्रथा हम सथाल ओरांव खडिया गोड कूकी भील आदि अनेक आदिमजातियो में पाते है।

सेवा विवाह भी क्रय विवाह के परिणाम स्वरूप ही विकसित हुई विवाह प्रथा है। जब कोई युवक अपने लिए पत्नी प्राप्त करने के लिए समुचित कन्या मूल्य जुटाने मे असफल रहता है तब एक स्थिति यह भी मान्य होती है कि विवाहेच्छुक युवक अपने भावी श्वसुर के घर एक निश्चित अवधि तक नौकरी करता है और इस प्रकार की नौकरी की अवधि में वह सभी काम करता है जो घर के लडके को करने होते है इस प्रकार जो पैसा मजदूरी का बनाता है उससे कन्या मूल्य चुका कर विवाह किया जाता है। मणिपुर

की पुरम आदिमजाति में तीन वर्ष की अवधि तक वह सेवा कार्य करना पड़ता है। जौनसार बावर के खासा लोगो में भी नेपाल के गोरखा लोगों को एक निश्चित अवधि तक मजदूर रखकर उनके साथ अपनी लड़की की शादी कर देने की प्रथा पायी जाती है। गोड बगा कूकी, अधमोल आदि आदिमजातियो में भी यह प्रथा पायी जाती है। बिरहोर में श्वसुर अपने भावी दामाद को कन्यामूल्य चुकाने के लिए कर्ज दे देता है जो कि बाद में धीरे-धीरे चुका दिया जाता है। जब तक कर्ज समाप्त नही होता है लडके को अपने श्वसुर के ही यहाँ रहकर काम करना पडता है।

विनिमय विवाह एक और ऐसी ही प्रथा है जिसमे कन्यामूल्य देना न देना बराबर होता है। इस प्रथा के अन्तगत दो परिवार परस्पर एक एक लडके लडकी की अदला बदली कर लेते हैं। अर्थात्—एक परिवार की लडकी दूसर परिवार मे बहू बन कर जाती है और दूसरे परिवार की लडकी पहले परिवार मे बहू बन कर आ जाती है। यह प्रथा खासी आदिमजाति म निषिद्ध है जबकि अधिकाश अन्य आदिमजातियो मे इसको स्वीकृति प्राप्त है।

सह पलायन विवाह के अन्तगत जब लडका लडकी आपस मे प्रेम करने लगते हैं और विवाह भी करना चाहते है परन्तु किसी कारण से जैसे कन्यामूल्य न दे पाने के कारण या माता पिता की स्वीकृति न मिलने के कारण विवाह नही कर पा रहे होते है तब वे मिल कर पूर्वनिर्धारित कार्य क्रम के अनुसार गाँव से दूर भाग जाते हैं। कुछ समय बाद वापस आने पर उनके विवाह को सामाजिक मान्यता प्रदान कर दी जाती है। हो, मुण्डा, सथाल आदि आदिमजातियो मे इस प्रथा का प्रचलन मिलता है।

हठ विवाह के अन्तगत जब किसी लडकी का विवाह नही हो रहा होता है या विवाह तय होने के बाद लडके के पक्ष की ओर से टाल मटोल होने लगती है तो लडकी एकाएक किसी दिन अपनी भावी ससुराल चली जाती है। उसके इस प्रकार घर मे घुस आने का कडा विरोध किया जाता है। उसे घर से बाहर निकालने के अनेक प्रयत्न किये जाते हैं। कभी-कभी कठोर व्यवहार और मारपीट भी की जाती है और इस पर भी जो लडकी टिकी रहती है उसको अन्ततोगत्वा स्वीकार कर लिया जाता है। यह प्रथा हो आदिमजाति मे अनादरविवाह के नाम से जानी जाती है। सथाल तथा बिरहोर आदिमजातियो मे भी इसका प्रचलन पाया जाता है।

भारतीय आदिमजातियो मे विवाह के सभी प्रकार पाये जाते हैं। विवाहित साथियो की सख्या के आधार पर हम यहाँ एकविवाह और बहु

विवाह दोनों प्रकार पाते हैं। बहुविवाह में बहुपतिविवाह तथा बहुपत्नी विवाह दोनों का प्रचलन है। इससे सम्बन्धित परिवारों में इसका विस्तृत विवरण हम पहले कर चुके हैं अतः यहाँ हम इन आदिमजातियों में विवाह सम्बन्धी कुछ प्राथमिकताओं तथा निषेधों का अवलोकन कर सकते हैं। आदिम-जातीय समाजों में स्थानीय मान्यताओं के अनुरूप कुछ विशिष्ट सम्बन्धियों के बीच विवाह सम्बन्ध करना अपेक्षित तथा कभी-कभी आवश्यक सा होता है। उदाहरण के लिए बस्तर के माड़िया गोंड में ममेरे तथा फुफेरे भाई बहनों के बीच विवाह होना आवश्यक है। यदि कोई पक्ष इस प्रकार के विवाह सम्बन्ध को स्वीकार करने से इन्कार करता है तो उसे दूसरे पक्ष को हर्जाना देना पड़ता है। ग्रिगसन महोदय ने बस्तर के माड़िया गोंड पर लिखी पुस्तक मे 54% विवाह इस श्रेणी के अन्तर्गत पाये हैं। इस प्रकार के विवाह सम्बन्ध खड़िया और ओरॉव मे भी पाये जाते हैं। मणिपुर की कूकी आदिमजाति मे केवल ममेरी बहन से विवाह किया जा सकता है। यहाँ इस प्रकार के विवाह 75% तक पाये गए हैं। खासी मे पिता की मृत्यु के बाद फुफेरी बहन से विवाह किया जा सकता है। कादार जनजाति मे भी फुफेरी बहन से विवाह को प्राथमिकता दी जाती है। इसी प्रकार पति या पत्नी की मृत्यु पर देवर अथवा साली से विवाह करने को भी अधिमान्यता दी जाती है। इस विवाह द्वारा दो व्यक्तियो के बजाय दो परिवारो के बीच घनिष्ठता एव सम्बन्धो की स्थापना को महत्व दिया जाता है। बहुविवाह मे भी कई भाई एक पत्नी या कई बहनें एक ही पति प्राप्त करके इस प्रकार का सम्बन्ध बनाती हैं।

दूसरी ओर कुछ विवाह सम्बन्ध ऐसे भी हैं जो निषिद्ध बताए गये हैं। उदाहरण के लिए एक ही गण के सदस्य आपस मे विवाह नही करते हैं। इस प्रकार के विवाह का निषेध हम गोंड बगा हो कोरवा ओरॉव नागा, खासी आदि तमाम आदिमजातियों मे पाते हैं।

कभी कभी आदिमजातीय समाजो मे कुछ बेमेल विवाह प्रथाएँ भी पायी जाती हैं। उदाहरण के लिए गारो आदिमजाति मे दामाद अपने ससुर की मृत्यु के बाद अपनी सास से विवाह कर लेता है। चूंकि माँ की मृत्यु के बाद सम्पत्ति पुत्री को हस्तान्तरित होती है अत उस सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए दामाद अपनी सास से विवाह कर लेता है। यदि सास किसी और व्यक्ति से विवाह कर ले तो वह व्यक्ति उसकी सम्पत्ति को व्यय कर सकता है।

नाते रिश्तेदार विवाह के साथ सम्बन्धित होते हैं। इनसे परिवार की स्थापना और विस्तार होता है। इस प्रकार नाते रिश्तेदार सामाजिक संगठन

के ढाँचे के प्रमुख अंग हैं। मनुष्य अपने समाज की विभिन्न इकाइयों के सदस्यों को जिस माध्यम से एक दूसरे से बाँधे रखता है उसे हम नातेदारी प्रथा के रूप मे पाते हैं। यह बंधन और सम्बन्ध हमें सभी समाजो में, आधुनिक एवं आदिमजातीय, समान रूप से उपस्थित मिलते हैं परन्तु आदिमजातीय समाजों मे इनका अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली और क्रियात्मक पक्ष मिलता है।

नातेदारी के सम्बन्ध दो प्रकार से स्थापित होते हैं एक तो विवाह द्वारा और दूसरे सतानोत्पत्ति द्वारा। विवाह द्वारा स्थापित सम्बन्ध सीधे-सीधे पति पत्नी और उनके माध्यम से उनके अनेक अन्य नातेदारो के बीच होते हैं। इन तमाम सम्बन्धो को विवाह जनित सम्बन्ध और ऐसे सम्बन्धियो को विवाहजनित सम्बन्धी कहते है। सतानोत्पत्ति द्वारा स्थापित सम्बन्ध माता पिता एव बच्चो तथा उनके माध्यम से अन्य सम्बन्धियो के बीच स्थापित होते हैं। यह सम्बन्ध मातवशीय एव पितवशीय समाजो मे क्रमश माता व बच्चो एव पिता व बच्चो के बीच स्थापित होते हैं और इनको रक्त सम्बन्धी कहते है। यहाँ भी यदि जविकीय दष्टिकोण से देखा जाय तो चूंकि भ्रूण माता के गभ मे विकसित होता है अत रक्त सम्बन्ध तो केवल माता के पक्ष से ही होना चाहिए परन्तु यहाँ पर सामाजिक मान्यता का महत्व कही अधिक है। उदाहरण के लिए पितवशीय समाजो मे बहुविवाही परिवारो मे कई पतियो मे मे कौन सा पति बालक के जन्म के लिए उत्तरदायी है अथवा गोद लिये पुत्र का कौन जविक पिता है इसका इस पर कोई प्रभाव नही है। यहाँ तो समाज द्वारा स्वीकृत पिता ही उस बालक का रक्त सम्बन्धी होगा और उसके माध्यम से अन्य अनेक और रक्त सम्बन्धी होगे।

नातेदारी के सम्बन्धा का सामाजिक जीवन और सगठन पर सबसे विस्तृत प्रभाव नातेदारी प्रथाओ के माध्यम से मिलता है। हमे समाज की विभिन्न इकाइयो के स्तरो पर विभिन्न सम्बन्धियो के बीच एक निर्धारित प्रकार के सम्बन्धो या व्यवहारो का प्रचलन मिलता है। इन व्यवहारो को हम नातेदारी प्रथाओ के नाम से जानते है। इनमे से कुछ नातेदारी प्रथाए विशेष रूप से प्रचलित हैं और सार्वभौमिक रूप से मिलती हैं। इन्हें हम निम्न लिखित भागो मे बाँट सकते हैं।

1 निषधात्मक सम्बन्ध प्रथा
2 परिहास सम्बन्ध प्रथा
3 सकेतात्मक सम्बन्ध प्रथा
4 मामा अधिकार सम्बन्ध प्रथा

5. मामा अधिकार सम्बन्ध प्रथा
6. संकेतात्मक व्यवहार सम्बन्ध प्रथा

निषेधात्मक सम्बन्धो के अन्तर्गत प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे सम्बन्धी होते हैं जिनके बीच सम्बन्ध काफी हद तक संयमित रखे जाते हैं। कभी-कभी तो उनको परस्पर बात करना भी मना होता है। ऐसे सम्बन्धों में मुख्य रूप से बहू व सास-ससुर के बीच, बहू व जेठ के बीच दामाद व सास के बीच के सम्बन्ध देखे जा सकते हैं। यो कभी-कभी भाई बहन जैसे निकट सम्बन्धियों के बीच भी कुछ निषेध मिलते है। अण्डमान द्वीपवासियो मे बडा भाई छोटे भाई की पत्नी से बात नही करता है।

इसके विपरीत कुछ ऐसे सम्बन्ध भी मिलते है जहाँ दो सम्बन्धी पर्याप्त निकटता तथा आत्मीयता से हँसी मजाक कर सकते हैं। इन सदस्यो के सम्बन्धो को परिहास सम्बन्धो के अन्तगत रखते हैं। ऐसे सम्बन्ध देवर-भाभी, जीजा-साली मामा मामी व भांजे के बीच पाये जाते हैं। इन सम्बन्धो मे हसी मजाक के लिए छेड छाड गाली देना शारीरिक सम्बन्धो के सकेत देना, धौलधप्पा करना आदि भी सम्मिलित है। कभी कभी इस प्रकार के सम्बन्धियो के बीच शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित हो जाते है और विवाह भी हो जाते हैं। ओरॉव हो बगा, आदि आदिमजातियो मे इसके उदाहरण मिलते हैं। शरत चन्द्र राय ने ओरॉव मे बाबा-पोती एव वैरियर एल्विन ने बैगा मे दादी-पोते मे विवाह के उदाहरण दिए हैं।

कुछ ऐसे सम्बन्धी भी होते है जिनको सीधे न सम्बोधित करके किसी के माध्यम से सम्बोधित किया जाता है अथवा कुछ सम्बन्धियो का नाम नहीं लिया जाता है। इसमे पत्नियो द्वारा पति जेठ और, सास ससुर का नाम न लेने की प्रथा है। पति को सम्बोधित करते समय बच्चों के पिता या देवर-ननद के भाई के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इन्हे हम सकेतात्मक सम्बन्धो के अन्तर्गत रखते हैं। हिन्दू स्त्रियाँ अपने पति का नाम सामान्यतया नही लेती हैं। खासी आदिमजाति मे भी इस प्रथा के उदाहरण पाये जाते हैं।

कुछ समाजो मे मामा का अपने भांजे भांजियो पर विशेष अधिकार होता है। मामा उनकी शिक्षा-दीक्षा, विवाह-सम्बन्ध आदि का प्रबन्ध करता है और सामाजिक स्थिति मे वह भांजे भांजियो के पिता के भी ऊपर माना जाता है। यहाँ तक कि मामा की सम्पत्ति भांजे को ही उत्तराधिकार मे प्राप्त होती है। इस प्रकार के सम्बन्धो को मामा अधिकार सम्बन्ध कहते हैं। गारो तथा खासी आदिमजातियो में इसके उदाहरण मिलते हैं।

इसी प्रकार कही कही बुआ अधिकार सम्बन्ध मिलते हैं, । इसमे बुआ को अपने भतीजे भतीजियो पर वही अधिकार होते हैं जो मामा को मामा अधिकार सम्बन्धो मे भाँजे भाँजियो पर होते हैं ।

इनके अतिरिक्त कुछ समाजो मे एक विचित्र प्रथा मिलती है जिसमे कुछ अवसरो पर जैसे प्रसवकाल में पति ऐसे व्यवहार करता है मानो उसने स्वय बच्चे को जन्म दिया हो । वह प्रसव वेदना तथा उसके बाद के व्यवहारों का अभिनय सा करता है । वह काय करना बन्द कर देगा चारपाई पर लेटा रहेगा तथा शिशु जन्म से सम्बन्धित उन तमाम निषधो का पालन करेगा जो कि उसकी पत्नी के लिए निर्धारित है । इस व्यवहार द्वारा पति पत्नी के कष्ट मे प्रतीक रूप से सवेदना का प्रदर्शन करता है। टोडा खासी हो तथा ओरांव आदिमजातियो मे इसके उदाहरण मिलते हैं ।

इस प्रकार की विभिन्न सम्बन्ध प्रथाओ के अतिरिक्त हम नातेदारी के अन्तगत सम्बोधन शब्दो के अध्ययन द्वारा भी तत्सम्बन्धित समाज की प्रथाओ को जानने का प्रयत्न करते हैं । यह सम्बोधन शब्द वर्णनात्मक एव वर्गात्मक दो प्रकार के होते है । वणनात्मक सम्बोधन शब्द सम्बोधित व्यक्ति के सम्बोधनकर्ता से सम्बन्ध को स्पष्ट बताते है और यह शब्द किसी एक व्यक्ति के लिए ही प्रयोग किए जाते है जैसे पिता माता आदि । परन्तु यदि ऐसे सम्बोधन शब्द हो जिनसे एक शब्द द्वारा अनेक व्यक्तियो को सम्बोधित किया जा सके जसे भाई चाचा आदि तब इन्हे वर्गात्मक सम्बोधन शब्द कहते हैं । यह सम्बोधन शब्द विभिन्न सामाजिक सम्बन्धो एव प्रथाओ के विश्लेषण मे सहायक होते है ।

इस नातेदारी के अध्ययन द्वारा हम किसी भी मानव समाज के सामाजिक ढाँचे के क्रियात्मक पक्ष का अध्ययन करने मे सफल होते हैं । इसके द्वारा हम जानते हैं कि अमुक समाज मे किन सम्बन्धियो का कैसा स्तर और स्थान है । यह किसी भी समाज के सदस्यो के व्यावहारिक सम्बन्धो को अत्यन्त स्पष्ट करता है और इस प्रकार उस समाज के सहज सचालन का बोध कराता है ।

शिक्षा का तात्पर्य आदिमजातीय समाज मे सामाजिक प्रशिक्षण से होता है और इसीलिए इनके सामाजिक सगठन मे पायी जाने वाली शिक्षण संस्थाए हमारे समाज की शिक्षण सस्थाओ से बिलकुल भिन्न होती हैं । भारतीय आदिमजातियो मे शिक्षा सामाजिक सम्पर्क एव वातावरण से दी जाती है । बचपन मे बच्चे घर पर माता पिता से अनुशासन, बडो के प्रति सम्मान,

खान पान के तरीके, गृहकार्य के नियम आदि सीखते हैं। इसको सिखाने के लिए यहाँ आज के आधुनिक कहे जाने वाले समाज की भाँति कोई अलग शिक्षण संस्थाएं नही होती हैं। यहाँ तो घर और परिवार के सदस्य ही शिक्षण संस्था, शिक्षक और शिक्षार्थी का कार्य करते हैं। इस प्रकार आदिमजातीय समाज की प्रारम्भिक शिक्षा बच्चों को इस प्रकार तैयार करती है कि वे अपने समाज में सहज रूप से सम्मिलित हो सकें। दैनिक जीवन के व्यवहार प्रकारों या संस्कृति की शिक्षा आदिमजातीय समाज की प्रमुख देन है। इसके बाद जैसे ही बच्चे थोडे बडे होने लगते हैं उनको एक स्वतत्र, कर्तव्यपरायण एव आत्मविश्वास युक्त सामाजिक सदस्य बनाने की शिक्षा युवा सस्थाओं अथवा पारिवारिक कार्यों मे सहयोग देने से शुरू हो जाती है। पहले हम इन युवागृहो के विषय मे सामाजिक इकाई के रूप मे बता चुके हैं। यहाँ पर आदिमजातीय समाज के अपेक्षाकृत वरिष्ठ सदस्य कम आयु वाले सदस्यों को कथाओ लोक वार्ताओ पहेलिया खेलो त्योहारो मेलो सामाजिक कार्यों नत्य-गान आदि के माध्यम से अपनी सस्कृति की शिक्षा प्रदान करते हैं। यहाँ बच्चे यह सीखते हैं कि शिकार कसे किया जाता है किसी बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा कैसे की जाती है किन किन पशुओ पक्षियो का शिकार करना चाहिए किनका नही खेती कैसे की जाती है, मकान कैसे बनाये जाते हैं मछली मारने के कौन कौन से तरीके हैं किस अवसर पर कैसे नृत्य किया जाता है कौन कौन से परम्परागत गीत हैं और उनका क्या अर्थ है समाज के तमाम सदस्यो एव वर्गों से उनका क्या सम्बन्ध है और इस प्रकार जीवन के आर्थिक सामाजिक सास्कृतिक राजनैतिक आदि तमाम पक्षो की शिक्षा यहाँ मिलती है। यही कारण है कि आदिमजातीय समाज के सगठन को समझने के लिए उनकी इन युवा सस्थाओ के शैक्षिक पक्ष का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी पाया गया है।

सम्पत्ति भी आदिमजातीय समाज मे बजाय आर्थिक ढाचे के सामाजिक ढाचे के अधिक निकट है। यहाँ सम्पत्ति प्राप्त करना और एकत्रित करना उस रूप मे नही मिलता है जैसा कि हमारे आधुनिक कहे जाने वाले समाज मे है। वे सम्पत्ति एकत्रित भी करते हैं तो तुरन्त व्यय करने के लिए। यहाँ सामान्यतया व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्थान पर सार्वजनिक एव सामाजिक सम्पत्ति का स्थान श्रेष्ठ होता है। सम्पत्ति यहाँ के सामाजिक सगठन के साथ नितान्त सम्बद्ध है। टोडा मे हम तमाम चरागाह तथा भैसों के समूहो को गोत्र की सम्पत्ति के रूप मे पाते हैं। किसी भी बडे पशु का शिकार होने पर

उसका मांस पूरे समूह की सम्पत्ति है। मछलियो का शिकार सामूहिक रूप से किया जाता है। यद्यपि आधुनिक समाजो से सम्पर्क तथा शासकीय नियमों की सुविधा के लिए भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में आ रही है, परन्तु अभी भी वन चरागाह तालाब आदि सामाजिक सम्पत्ति हैं और भूमि पर भी व्यक्ति के बजाय पारिवारिक एवं सामाजिक परम्पराओं का अधिकार ही अधिक प्रभावशाली है। नागा आदिमजाति के सदस्य आज भी अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने तथा नेता या मुखिया पद को प्राप्त करने के लिए बडी-बडी दावते देते हैं और इसमे तमाम सचित सम्पत्ति बाँट देते हैं। सम्पत्ति का हस्तातरण कैसे किया जाता है इसके अध्ययन से भी हमे विभिन्न सामाजिक इकाईयो की स्थिति का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए इसके नियमो का अध्ययन हमे यह जानने म सहायता देता है कि अमुक समाज मातृवशीय है या पितृवशीय है अथवा दोनो पक्षो का समान प्रतिनिधित्व करता है। किसी सदस्य की विशेष सामाजिक स्थिति का भी ज्ञान इससे होता है जसे टोडा मे पारिवारिक पशुओ के विभाजन म सबसे छोटे व सबसे बडे लडके को अन्य लडको की अपेक्षा एक पशु अधिक मिलता है।

सम्पत्ति के हस्तातरण के सदभ मे गारो आदिमजाति का उदाहरण अत्यन्त उपयोगी है। यह लोग मातृवशीय होने के कारण सम्पत्ति के उत्तराधिकार मे केवल लडकियो को ही मा यता प्रदान करते हैं। परिवार की सम्पत्ति को विभाजित होने से रोकने के लिए किसी एक लडकी को बहुधा सबसे छोटी लडकी को सम्पत्ति के उत्तराधिकारी के रूप मे चुना जाता है। उस लडकी को नोकना के नाम से जानते हैं। इस लडकी का विवाह जिस व्यक्ति से होता है उसे नोक्रोम के नाम मे सम्बोधित करते हैं। नोक्रोम ही पारिवारिक सम्पत्ति का कर्ता धर्ता होता है। इस प्रकार सम्पत्ति का हस्तातरण मातृपक्ष मे होते हुए भी उसका सचालन पुरुष पक्ष द्वारा होता है। खासी आदिमजाति मे भी सम्पत्ति मातृपक्ष मे हस्तातरित होती है। परन्तु यहा माता ही सम्पत्ति की देखभाल करती है और पुरुष पक्ष का इसमे कोई प्रभाव नही होता। परन्तु सम्पत्ति का उपयोग पूरे परिवार की देखभाल के लिए होता है न कि व्यक्तिगत स्वाथ साधन के लिए। आदिमजातीय समाज मे सम्पत्ति का पारिवारिक एव सार्वजनिक हित मे प्रयोग होना ही इसके सामाजिक सगठन की एक विशेषता है।

आदिमजातीय सामाजिक सगठन मे हम टोटम का एक विशिष्ट स्थान पाते हैं। जहा भी हमे टोटम मिलता है वहाँ एक गणस्तरीय सामाजिक

संगठन भी अवश्य मिलेगा। सामान्यतया गण तथा टोटम साथ-साथ पाये जाते हैं परन्तु टोटम की स्वतन्त्र उपस्थिति भी मिलती है। टोटम से हमारा तात्पर्य एक ऐसे प्राकृतिक जड़ पदार्थ, जीव या पौधे से है जिसके आधार पर एक सामाजिक समूह का नामकरण होता है और उस समूह के सदस्य अपने को टोटम का वशज मानते हैं। उसको अलौकिक ईश्वरीय शक्तियों का प्रतीक भी माना जाता है। वे यह भी मानते हैं कि इस वश प्रवतक के द्वारा उनको संकट या अशुभ घटनाओ से सुरक्षा मिलती है। इसके नष्ट होने या मृतावस्था को प्राप्त करने पर सामूहिक रूप से शोक मनाया जाता है। इसको खाना या मारना निषिद्ध होता है। परन्तु कुछ विशेष अवसरो, पूजा, त्योहार आदि पर इसका सेवन किया जा सकता है। इसके प्रतीको को आभूषणो के रूप मे पहना जाता है अथवा उनके आकार को गोदने के रूप मे शरीर पर धारण किया जाता है। इनके प्रति श्रद्धा आस्था व्यक्त करने एव इनके विकास के लिए पूजा प्रार्थना की जाती है। सामान्यतया एक टोटम समूह के सदस्य बहिर्विवाही होते है अर्थात वे अपने समूह के बाहर विवाह करते हैं। यो इसे एक सयुक्त सामाजिक तथा धार्मिक समूह के रूप मे देखा जा सकता है परन्तु भारतीय आदिमजातियो के सदभ मे केवल इसका सामाजिक पक्ष ही अधिक प्रबल और विकसित मिलता है। यहाँ मध्य क्षेत्र की 'प्रोटो आस्ट्रेलायड आदिमजातियो मे इस सस्था के सामाजिक पक्ष का सर्वोत्कृष्ट विकास मिलता है। भारतीय आदिमजातियो मे अधिकाशत टोटम बहिर्विवाही गण समूहो से सम्बद्ध है यद्यपि हम अतर्विवाही गण समूह भी पाते हैं।

टैबू एक और ऐसी सस्था है जिसका हम आदिमजातीय सामाजिक सगठन मे काफी प्रभाव पाते है। इस शब्द का आरम्भ पालीनेशियन शब्द टाबू (Tabu) मे हुआ है। जिसका अर्थ है निषेध करना और निषिद्ध। इस प्रकार इस शब्द के अन्तर्गत वे सारे नियत्रण और निषेध आते है जिनको समाज के सहज सचालन के लिए सदस्यो पर लागू किया जाता है। प्रत्येक आदिमजातीय समाज मे दैनिक कार्यकलापो को नियत्रित करने के लिए हर सदस्य के कर्तव्यो एव अधिकारो मे एकरूपता लाने के लिए विभिन्न आयु एवं लिंग वर्ग के सदस्यो की स्थिति स्पष्ट करने के लिए तथा आर्थिक क्रियाओ और श्रम विभाजन के लिए अनेकानेक ऐसे निषध होते हैं जिनका पालन करना आवश्यक होता हैं। यह सभी निषेध किसी लिखित कानून के अभाव मे केवल मौखिक आदेशो और परम्पराओ के रूप मे सदस्यों को मिलते है परन्तु फिर भी प्रत्येक सदस्य सामान्यतया इनका पालन अवश्य करता है।

भारतीय आदिमजातियों मे हम टैबू का प्रचलन सामान्य रूप से पाते हैं और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित अनेक निषेधों का प्रयोग मिलता है। यह निषेध तत्सबधित समाज की सास्कृतिक स्वाधीनता का निर्धारण करते हैं। इनका प्रचलन अन्धविश्वासों सामाजिक मान्यताओं धार्मिक क्रियाओ व्यक्तियो सामग्रियो एव स्थानो की सुरक्षा के लिए भी पाया जाता है। छोटा नागपुर बिहार की ओरावँ आदिमजाति मे स्त्रियों को हल छूने का निषेध है। नीलगिरी के टोडा लोगो मे डरी से सम्बन्धित कार्य स्त्रियाँ नही करती हैं। इसी प्रकार यौन सम्बन्धो एव सामाजिक सम्बन्धियो के व्यवहार से सम्बन्धित अनेक निषध मिलते है। बिहार की सथाल आदिमजाति में निकटाभिगमन (Incest) का निषध है जिसके उल्लघन पर बिटलहा नामक औपचारिक प्रदर्शन द्वारा अपराधी सदस्य को समाजच्युत किया जाता है। डा० धीरेन्द्रनाथ मजूमदार के मतानुसार इन निषेधो के प्रति सम्मान एव भय की मात्रा आधुनिक शिक्षा एव सामाजिक वातावरण के कारण कम होती जा रही है। यो जब तक इन समाजो मे शिक्षा एव विज्ञान का समुचित प्रसार न हो जाय हम इन निषेधो को समाज के सहज सचालन एव नियत्रण के लिए अत्यन्त उपयोगी पाते हैं।

यदि हम इस सस्था की कायविधि देखे तो पाते हैं कि इन निषधों का पालन कराने के लिए अथवा इनके उल्लघन पर दण्ड देने के लिए किसी प्रकार की अतिरिक्त यवस्था आदिमजातीय समाजो मे नही पायी जाती है। जब किसी व्यक्ति से किसी निषध का उल्लघन हो जाता है तो वह स्वय ही उसके लिए अपेक्षित दण्ड को स्वीकार कर अपने आप पर वह दण्ड लागू कर लेता है। इस प्रकार यह सस्था अलौकिक एव धार्मिक विश्वासो के रूप मे समाज के नियमो को प्रतिपादित करती है। आदिमजातीय समाज के सदस्य इस विषय मे आश्वस्त है कि किसी भी निषेध का उल्लघन करने पर दण्ड स्वयमेव मिलेगा। वे इसके द्वारा जहाँ समाज को सचालित करने के लिए एक सहज माग प्रदान करते हैं वही पर साथ साथ यह उनके लिए नियम और कानून का काय भी करता है। यद्यपि निषेधो के पालन करने या न करने का प्रभाव समाज के अन्य सदस्यो तथा समाज के सामूहिक हित या अहित पर पडता है परन्तु इसको लागू करने की जिम्मेदारी व्यक्तिगत सदस्यो पर ही है।

यह निषध विभिन्न अवसरो के सदर्भ मे उत्पादक, रक्षात्मक या निषेधात्मक हो सकते हैं। हम इस प्रकार के अनेक निषेध टोटम के सदर्भ मे भी

पाते हैं। टोटम के साथ सम्बन्धी सुरक्षा तथा उसके महत्व को बनाए रखने के लिए अनेक निषेध जुड़े रहते हैं। कुल मिलाकर इन निषेधों की उपयोगिता समाज को सहज ढंग से अनुशासित और संचालित रखने के लिए प्रतीत होती है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचना हमें यह जानने में सहायता देती है कि आदिमजातीय समाज के सामाजिक सगठन का निर्माण अनेक इकाइयों तथा संस्थाओ को मिला कर होता है। जहाँ एक ओर इकाइयो के माध्यम से संगठन के शारीरिक ढाँचें का अस्थि आधार तैयार होता है वही सस्थाओ के माध्यम से उसमें माँस, रुधिर आदि प्रदान कर उसको गति प्रदान की जाती है।

● ●

5

भारत में आदिमजातीय राजतन्त्र एव प्रशासन

सगठन मे शक्ति होती है किंतु शक्ति का नियत्रण एव विघटनकारी तत्वो का दमन प्रत्येक सगठन के लिए आवश्यक होता है। राजनीति का उदभव भले ही राज्य की सकल्पना से जुडा हुआ हो किंतु प्रत्येक स्तर के सगठन मे उपयुक्त आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु कुछ नीतियो के निर्धारण की व्यवस्था पाई जाती है। यही नीतियाँ अततोगत्वा सहयोगिता एव सहकारिता की आधारशिला बनती है। आदिवासियो के राज्यविहीन सगठनो मे भी हमे आधुनिक प्रजातत्र एव समाजवाद जसी अवस्थाएँ दृष्टि गोचर होती हैं। बाह्य रूप से अनियत्रित एव उद्दड समझे जाने वाले इन समुदायो का सगठन भी कुछ ठोस नीतियो पर आधारित होता है—भले ही हम उन्हे मान्यता देने के पक्ष मे न हो।

यदि हम किसी ऐसे समाज की कल्पना करें जिसमें किसी प्रकार की राजनैतिक संगठन अथवा राज्य व्यवस्था न हो तो उसका स्वरूप एक ऐसे बृहद परिवार के समान होगा जिसमें किसी भी प्रकार के संगठित उपविभाग न हों। ऐसे समाज में आयु तथा लिंग पर आधारित अंतर पाये जायेंगे तथा कुछ धार्मिक अनुष्ठानों के विशेषज्ञों का वर्ग होगा। कुछ अत्यन्त सरल सामाजिक जीवन व्यतीत करने वाले समाजो में इस कल्पित अवस्था से मिलती जुलती व्यवस्था मिल सकती है अन्यथा वर्तमान समय में पृथ्वी के किसी भी भाग में ऐसी सामाजिक व्यवस्था के उदाहरण नही प्राप्त होते।

सामाजिक मानवशास्त्रियो ने गत तीस पैंतीस वर्षों में आदिम समाजो के अध्ययनो में अपने प्रत्यक्ष निरीक्षणों के आधार पर उनमें राजनैतिक गठन के स्वरूपो का अध्ययन किया है। अपने इन अध्ययनो में उन्होंने राजनीतिशास्त्र में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धांतो की ओर ध्यान न देते हुये अधिकाश आदिम समाजो के आंतरिक एव बाह्य सम्बन्धो के नियत्रण के निर्णायिक आधारो को खोजने के प्रयास किये हैं। आदिवासियों में जहां किसी प्रकार की नियमित राज्य व्यवस्था का अभाव मिलता है उनके राजनैतिक गठन के अध्ययन राजनीतिशास्त्र के अतर्गत नियमित राज्य व्यवस्थाओं के अध्ययनो के समान ही महत्वपूर्ण साबित हुये हैं। इन शासक विहीन आदिमजातियो के अध्ययन भी राजनैतिक प्रक्रियाओ के मूलभूत आधारो के सम्बन्ध मे उसी प्रकार से महत्वपूर्ण निष्कर्षों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं जैसे सविधानो के द्वारा निर्मित राज्य व्यवस्थाओ के अध्ययन से राजनैतिक प्रक्रियाओ का अध्ययन किया गया है। मानवशास्त्रियों द्वारा किये गये ये अध्ययन जिन्हे अब राजनैतिक मानवशास्त्र की सज्ञा दी जाने लगी है वास्तव मे राजनीतिशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र मे मानवशास्त्र का एक महत्वपूण योगदान है। किसी प्रकार की केन्द्रीय सत्तारहित राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध मे राजनीतिशास्त्र मे अध्ययनो का अभाव है और ऐसी व्यवस्थाओ से सम्बन्धित राजनैतिक प्रक्रियाओ का विश्लेषण उनके अपने अध्ययनो में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। नेतृत्व का अध्ययन एक अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र है जो कि सामाजिक मानवशास्त्र एव राजनीतिशास्त्र दोनों का ही अध्ययन विषय रहा है। राजनैतिक जीवन में भाग लेने वाले लोगो मे नेतृत्व का अध्ययन तथा जनमत के निर्माण मे उनका महत्व तथा उचित नीति निर्धारण में उनका योगदान आदि कुछ ऐसे विषय हैं जिनमें राजनैतिक सगठन के अध्ययनों मे राजनीतिशास्त्र की भांति मानवशास्त्र का भी महत्वपूर्ण योगदान

रहा है। राजनीतिशास्त्र के एक जर्मन विद्वान ओपेनहीमर ने आदिवासियों के संबंध में चर्चा करते हुये लिखा है कि वे समाज आधुनिक सुसंगठित राज्य-व्यवस्था वाले समाजों के पूर्वज हैं—जो पूर्णतया अराजकता की दशा में हैं (Anarchic antecedents of state proper)। परन्तु मानवशास्त्रियों ने अपने अध्ययनो से यह स्पष्ट कर दिया है कि आदिमसमाजों के सरलतम स्वरूपो मे आधुनिक राज्य व्यवस्था के तुल्य व्यवस्था पाई जाती है। वास्तव मे कर्मचारीवग के द्वारा अत्यत विशिष्ट एव जटिल पद्धतियां तथा बौद्धिक प्रतियोगिता पर आधारित अत्यंत सुगठित विधि-व्यवस्था द्वारा नियत्रित आधुनिक राज्य व्यवस्था आदिमसमाजो की राजनैतिक व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होती है जिनका सचालन परपराओ पर आधारित होता है और जिनमे क्रियाशील राजनयिक बौद्धिक आकलन एव दूरदर्शिता के आधार पर कार्य न करके स्वभाव एव अपनी आदतो के अनुसार ही कार्य करते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि आदिमसमाजो मे भी राजनैतिक क्षेत्र मे जो भी गतिविधिया होती हैं उनके पीछे भी परपराओ के पथप्रदर्शन मे बौद्धिक चिंतन एव वादविवाद की आधारशिला होती है। परन्तु उनके इन बौद्धिक प्रयत्नो को आधुनिक राजतत्र मे कोई विशेष मान्यता नही दी जाती। यद्यपि उद्‌विकासवादी दृष्टिकोण को आज की विचारधारा मे आवश्यकता से अधिक महत्व नही दिया जा सकता फिर भी उदविकासवादियो के विचारो से यह अवश्य ज्ञात होता है कि आधुनिक राजतत्र की जटिल व्यवस्था के बीज हमें आदिमसमाजो की राजनतिक व्यवस्था मे प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए मागन के अनुसार राज्य एक नर्सगिक मानव सस्था है और इसे गण व्यवस्था का स्वत विकसित रूप कहा जा सकता है।

इसी प्रकार श्मिट के अनुसार भी प्रारम्भ मे राज्य का जन्म खाद्य सग्रहको के बहिर्विवाही स्थानिक समूहो से हुआ।

राजनैतिक सगठन

राजनैतिक सगठन एव राज्य की अवधारणाओ की परिभाषा कुछ इस प्रकार से दी जा सकती है कि इनमे केवल विस्तृत क्षेत्रो तथा जटिल प्रशासन वाल समुदायो को ही सम्मिलित किया जा सके। राजनीतिशास्त्र में वस्तुत इन अवधारणाओ की विवेचना इसी सदभ में की जाती है। परन्तु मानव-शास्त्रीय अध्ययनो ने अब निश्चित रूप से स्पष्ट कर दिया है कि राजनैतिक व्यवहारो की कोई न कोई व्यवस्था लगभग सभी मानव समाजों मे पाई जाती

है। म्लाकनौस्की ने ठीक ही कहा है कि ट्रिकोब्रियंड आदिमजाति में पालीनेशियन द्वीप समूहों में रहने वाले हजारो निवासियो का सगठन लगभग उतना ही जटिल है जितना कि लंदन शहर के निवासियो का सगठन है। आदिमसमाजो में अनेक आदिमजातियों के लोग खाद्य संग्रहण की अर्थ-व्यवस्था के अतर्गत किसी एक स्थाई स्थल पर निवास करके भ्रमणशील जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु एस्किमो, आस्ट्रेलिया के आदिवासी एव अडमान द्वीप समूह निवासी भी किसी एक निश्चित क्षेत्र पर अपने स्वामित्व का दावा करते हैं और साधारणतया उनके भ्रमण अपने ही क्षेत्र की सीमाओ मे ही होते हैं। इन क्षेत्रो के आर्थिक साधनो का प्रयोग भी सुनिश्चित नियमों से नियन्त्रित होता है। इसी प्रकार से किसी एक क्षेत्र के दावेदार समूह तथा उसके पडोसी अन्य समूहो के बीच सबधो का नियत्रण भी सुनिश्चित नियमो के आधार पर ही होता है। ऐसे समाज जिनमे कृषि अपनी प्रारभिक अवस्था मे है अथवा शिकार इत्यादि तथा स्थानांतरण पद्धति पर खेती की आवश्यकताओं के कारण लोगो का स्थिर रूप से किसी एक स्थान पर रहना सभव नही हो पाता इन्हें देखकर भी ऐसा आभास होता है कि इनमे स्पष्ट रूप से क्षेत्र निर्धारित नही होते। परन्तु विधिवत निरीक्षणो से ज्ञात होता है कि इन सदस्यो मे आपस मे तथा इनके पडोसियो के निर्धारित क्षेत्र होते हैं तथा इनसे सबधित स्पष्ट नियम होते हैं। इन समाजो मे अपनी सुरक्षा एव पडोसियो के अतिक्रमण को दृष्टि मे रखते हुये एक व्यवस्थित सगठन होता है। यही नही यहा तक कि विभिन्न परिस्थितियो मे नीति निर्धारण के लिए नेतृत्व भी पाया जाता है। परिवार प्रमुख के अतिरिक्त कुछ विशेष व्यक्तियो को सीमित परिमाण मे कुछ विशेष अधिकार भी प्राप्त होते हैं, जिनका प्रयोग समाज के सामान्य हितो को ध्यान मे रखकर किया जाता है। इन विशिष्ट व्यक्तियो के गुणो एव अन्य क्षमताओं से सबधित अन्तर भिन्न भिन्न समाजो मे हो सकते हैं परन्तु लगभग सभी समाजो मे इस प्रकार की व्यवस्था पाई जाती है।

अत प्रत्येक सस्कृति मे राजनैतिक व्यवहारो के गठन के कुछ सुनिश्चित नियम पाये जाते हैं। इन्ही नियमो के द्वारा प्रत्येक सस्कृति मे एक राजनैतिक सरचना का निर्माण होता है। यदि इन नियमों को हम कर्तव्यो एव अधिकारों के गठन के रूप मे देखें तो इन नियमो द्वारा निर्मित संरचना को स्पष्ट रूप से पर्यावरण से संबंधित किया जा सकता है। प्रत्येक समाज एवं संस्कृति में पर्यावरण जहां एक ओर राजनैतिक चेष्टाओं के साधन उपलब्ध करता है, वहां दूसरी ओर राजनैतिक गतिविधियो को सीमित भी करता है। सभी राजनैतिक

सरचनाओ के नियम पर्यावरणीय परिस्थितियो के दबाव से समाज की सुरक्षा में सहायक होते हैं। प्रत्येक सस्कृति, समुदाय के सदस्यो द्वारा अपनी परि-स्थितियो से अनुकूलन का एक विशिष्ट प्रयास होती है। राजनैतिक सगठन इसी सुसगठित प्रयास का एक अग होता है।

प्रत्येक समाज रक्त सबधी लिंग आयु धर्म व्यवसाय आदि आधारों पर विभिन्न उप-समूहो मे विभाजित होता है। ऐसे सभी समूहो के सदस्यो मे तथा समूहो मे परस्पर सबधो को व्यवस्थित रखने के लिए कुछ नियमों एवं नियत्रणो की आवश्यकता होती है। समाज मे इन नियमो एव नियत्रणो की व्यवस्था को ही राजनैतिक सगठन कहा जा सकता है। अत यह कहा जा सकता है कि किसी भी समाज मे राजनतिक सगठन उसकी सस्कृति का वह अग है जो कि समाज के सदस्यो की गतिविधियो का निदेशन एव नियत्रण समाज के हितो एव सुरक्षा को ध्यान मे रखकर करता है। जैसा कि पहले समझा जाता था यह आवश्यक नहीं है कि राज्य के सदर्भ मे ही राजनैतिक शब्द का प्रयोग किया जाये। आदिमसमाजो मे मानवशास्त्रियो द्वारा किये गये अध्ययनो म अब यह स्पष्ट हो चुका है कि केन्द्रीय सत्ताविहीन आदिमजातीय समाजो मे हम राज्य की बात तो नही कर सकते किन्तु एक सुनिश्चित राजनतिक गठन का अभाव इनमे नही होता। किसी भी राजनैतिक सरचना म निम्नलिखित तत्वो का होना आवश्यक होता है—

1 एक समुदाय–जिसकी परिधि मे उसके सदस्यो की कुछ विशेष मूल्यो एव आदर्शों के आधार पर की जाने वाली गतिविधियो का नियत्रण होता हो।

2 किन्ही विशेष गुणो तथा आधारो पर चुने गये समाज का एक अथवा कुछ सदस्य जिन्हे इस नियत्रण एव निदेशन का उत्तरदायित्व प्राप्त हो। इन्हे राजनीतिज्ञ कहा जा सकता है।

3 समुदाय के सामान्य हितो को ध्यान मे रखते हुये गतिविधियो के निदेशन एव नियत्रण मे सबधित कुछ नियम।

मानवशास्त्री जब आदिम समाजो मे राजनतिक सगठन का अध्ययन करते हैं तो उपयुक्त तत्वो की विवेचना एव विश्लषण ही उनके अध्ययनो का मुख्य आधार होता है। सभी आदिम समाजो मे आवश्यक रूप से उपर्युक्त तत्वो का समावेश पाया जाता है।

कीसिंग ने राजनतिक सगठन पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि यह एक ऐसी सास्कृतिक व्यवस्था होती है जिसके द्वारा किसी क्षेत्र मे निवास करने वाले समूह के सदस्य अपने अधिकारो को प्राप्त करते हैं तथा

परस्पर सहयोगी सेवाओं तथा क्षेत्रीय सुरक्षा के लिए संगठित होते हैं।" अर्थ राजनैतिक संगठन की चार प्रमुख विशेषताओं का उन्होंने उल्लेख किया है—

1 एक समूह की सामान्य सदस्यता तथा सदस्यों का समूह के प्रति विश्वासपात्र होना।

2 सभी सदस्यों की एक समान परपरा एवं प्रतीको के प्रति निष्ठा।

3 सामूहिक नियत्रण एवं कल्याण के लिए एक आतरिक प्रशासन।

4 बाह्य सबंधों की कोई व्यवस्था।

नाडेल ने विशेष रूप से लघु समुदायो मे राजनैतिक संगठन की विशेषताओ पर विचार व्यक्त करते हुये कहा है— 'जैसा कि हम आदिमजातियो मे पाते हैं यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत समुदाय के लोग आतरिक शाति एव बाह्य आक्रमण अथवा युद्ध के विरुद्ध सगठित होते हैं।

होबेल ने भी राजनैतिक सगठन की व्याख्या करते हुये बताया है कि समाज मे किसी प्रकार के प्रशासन के अभाव मे भी कानून हो सकता है परन्तु बिना किसी प्रकार के कानून के हम किसी प्रशासन की कल्पना नहीं कर सकते। कानून राजनैतिक सगठन का ही एक परिणाम है। अत राजनैतिक सगठन प्रशासन की अपेक्षा एक वृहद अवधारणा है तथा यह राज्य का पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। राज्य एक विशिष्ट सामाजिक घटना है जबकि राजनैतिक संगठन एक सामान्य सामाजिक घटना है। राज्य का सगठन प्रशासन के लिए किया जाता है जबकि राज्य राजनैतिक सगठन का आवश्यक परिणाम नहीं होता।

अत राजनैतिक सगठन प्रत्येक संस्कृति का एक अग होता है। यह एक सार्वभौमिक सामाजिक घटना है। चाहे कोई सस्कृति सरल अथवा जटिल हो प्रत्येक सस्कृति के सदर्भ मे राजनैतिक सगठन के कुछ सामान्य कार्य होते हैं। उदाहरण के लिए—

1 समाज मे व्यक्तियों के व्यवहारो से सबंधित सवमान्य आदर्शो का निर्धारण
2 सत्ता एवं शक्ति का वितरण
3 आपसी झगडों एव मतभेदों का निराकरण
4 समय-समय पर परिस्थितियों के अनुरूप व्यवहारों के मानदडों का पुन निर्धारण
5 सार्वजनिक कार्यों के लिए सामूहिक सहयोग का संगठन
6 धार्मिक संस्कारों का उत्तरदायित्व

7 व्यापार विनिमय आदि का सगठन इत्यादि ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है–राजनीतिशास्त्रियो की भांति मानव शास्त्री राजनैतिक सगठन की अवधारणा के विश्लेषण मे राज्य को एक आवश्यक अग नही मानते । जहा आदिम समाजों मे हम निश्चित रूप से किसी न किसी प्रकार की राजनतिक व्यवस्था अवश्य पाते हैं वहां उनमे राज्य का शिथिलतम रूप भी अक्सर नही पाया जाता । इसीलिए मानवशास्त्री राज्य विहीन एव राज्य के आधार पर सगठित समाजो मे भेद स्थापित करते हैं ।

प्रत्येक राजनतिक सगठन समाज क बृहद सामाजिक सगठन का ही एक अग होता है–अपितु इन दोनो मे अतर स्थापित किया जा सकता है । आधुनिक वृहद समाजो मे तो ये भेद अत्यत स्पष्ट हो जाते हैं क्योकि राजनैतिक सगठन अपनी जटिलत ओ क साथ साथ राज्य जसे सगठनो के रूप मे उभर कर सामने आ जाता है किन्तु आदिमजातियो जैसे लघुसमाजो मे ये अतर उतने स्पष्ट नही हो पाते और यही कारण है कि इन राज्यो मे किसी प्रकार का राजनतिक सगठन पाया ही नही जाता । वास्तव मे प्रत्येक सस्कृति मे व्यक्तियो क विभिन्न अनुकूलनीय प्रयासो मे जहा स्वय व्यक्तियो के बीच अनुकूलन का प्रश्न आता है वही सामाजिक सगठन का ज म होता है । इस क्षेत्र मे अनुकूलन स्थापित करने के लिए व्यक्ति परस्पर तीन प्रकार क समूहो मे सगठित होते हैं । एक तो वे समूह जिनका उद्देश्य शुद्ध रूप से सामाजिक जीवन के अस्तित्व को कायम रखने का होता है दूसरे वे समूह जिनका उद्देश्य आर्थिक क्रियाओ को सचालित करने का होता है तथा तीसरे वे समूह जिनका उद्देश्य नियत्रणात्मक होता है । उसी समाज क ही व्यक्ति इन तीनों उद्देश्यो से सगठित विभिन्न समूहो के नायक होते हैं–किन्तु वास्तव मे इनके परिणाम स्वरूप तीन भिन्न भिन्न उद्देश्यो पर आधारित सगठनो का जन्म हो जाता है । इन सगठनो के बीच किसी प्रकार की स्पष्ट विभाजक रेखा नही खीची जा सकती किन्तु भिन्न भिन्न उद्देश्यो पर आधारित होने के कारण व्यावहारिक रूप से इनका विश्लेषण अलग अलग किया जा सकता है । अपने सरलतम स्वरूप मे लघु समाजो मे भी हमे नियत्रणात्मक उद्देश्यो पर आधारित समूहो का गठन किसी न किसी रूप मे मिलता है इसे ही राजनैतिक सगठन की सज्ञा दी गई है । किसी भी समाज मे राजनतिक क्रिया सामाजिक क्रिया से अलग नही होती । उदाहरण के लिए वे नियम जो नियत्रण के लिए निर्धारित किये जाते हैं, समाज मे आर्थिक क्षेत्र तथा परिवार आदि के क्षेत्रो मे होने वाली

क्रियाओं के विरुद्ध नहीं हो सकती। इसके विपरीत लोगों के व्यवहारों के मानदंड क्या हों तथा उनसे संबंधित नियंत्रणात्मक नियम क्या हों, इसका निर्धारण समाज के अन्य क्षेत्रों में लोगों की मान्यताओं के अनुरूप ही होता है।

विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप दो प्रकार के राजनैतिक संगठनों का उल्लेख किया जा सकता है। एक तो लघु समुदायों की राजनैतिक संरचनायें जो अन्त केन्द्रित होती हैं। दूसरी वे राजनैतिक संरचनायें जो अधिकांशत बृहद् समाजों का अग होती हैं एवं अपने प्रभाव क्षेत्र में आने वाले लघु समुदायों की राजनैतिक सरचनाओं को अपने प्रभाव मे सम्मिलित किये हुये होती हैं। इनके राजनैतिक स्रोत एवं क्षमतायें अपेक्षाकृत परिवर्धित होती हैं। भारतवर्ष मे ब्रिटिश शासनकाल मे असम के पहाडी स्थलों मे सीमावर्ती क्षेत्रों मे अधिकाश ऐसे क्षेत्र थे जिनका विधिवत शासन ब्रिटिश प्रशासन के द्वारा नहीं होता था। उदाहरण के लिये सन् 1830 मे तत्कालीन ईस्ट इण्डिया कम्पनी मे उडीसा मे खोड पवती क्षत्रो के भावी प्रशासन के सम्बन्ध में काफी वाद विवाद हुआ। इस समय तक खोड आदिमजाति के लोग राजनैतिक आधार पर ब्रिटिश शासन के अग नही थे। उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर खोंड लोगो का राजनैतिक संगठन प्रथम प्रकार का था तथा ब्रिटिश राजनैतिक सगठन द्वितीय प्रकार का था।

जब ऐसी परिस्थिनियां होती हैं कि बृहद समाज के सशक्त राजनैतिक सगठन की परिसीमा मे लघु समाजों के अन्त केन्द्रित सगठन हो तो इन दोनों प्रकार के राजनैनिक सगठनो मे सम्बन्धो के तीन भिन्न रूप पाये जाते हैं। बृहद् स्तर के सगठन स्वय लघुस्तर के सगठनो में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करना चाहे-यह एक परिस्थिति हो सकती है। उपर्युक्त उदाहरण में ब्रिटिश प्रशासन ने खोड लोगो के जीवन मे राजनैतिक हस्तक्षेप न करने का फैसला किया था क्योंकि उनके संपूर्ण क्षेत्र के प्रशासन मे जितना व्यय होता उतनी आमदनी होने की संभावना नही थी। परन्तु कालांतर में उनमें प्रचलित नर-बलि को रोकने के मानवीय एवं नैतिक दृष्टिकोण से उनके राजनैतिक जीवन में हस्तक्षेप करना उचित समझा। कभी-कभी ऐसी परि-स्थिति में निरन्तर विधिवत प्रशासन कायम करने की अपेक्षा समय-समय पर शक्ति के द्वारा हस्तक्षेप करके लूट करना अधिक लाभप्रद समझा जाता है। नागा क्षेत्रों में ईस्ट इंडिया कम्पनी के बाद भी काफी समय तक ब्रिटिश प्रशासन के राजनैतिक हस्तक्षेप का यही रूप रहा।

तीसरी परिस्थिति मे बृहद् सगठन योजनाबद्ध रूप से स्वय शक्ति का प्रयोग न करते हुये लघु सगठनो को अपने अन्तर्गत सम्बद्ध करने का प्रयास करते हैं। ऐसी परिस्थितियो मे आर्थिक अथवा राजनैतिक लाभ की भावना इस प्रयास का उद्देश्य नही होती। व्यावहारिक रूप से इन प्रयासो का परिणाम आमूल परिवर्तन होता है। आज लगभग सभी विकासशील राष्ट्र इसी भावना को अपनाते हैं। भारतवर्ष मे इस समय स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ब्रिटिश प्रशासन काल की सैकडो वर्षों से उपेक्षित आदिमजातियो के प्रशासन के सम्बन्ध मे इसी भावना मे प्रयास किये गये है और योजनाबद्ध रूप मे किये गये इन प्रयासो का समय-समय पर मूल्यांकन भी किया जाता रहा है। उपनिवेशवादी युग के बाद आज लगभग ससार के उन सभी क्षेत्रो मे, जहा ये दोनो प्रकार के राजनैतिक सगठन एक दूसरे के सम्मुख हैं इसी भावना के सदर्भ मे उनके सम्बन्ध होते जा रहे हैं।

आदिमजातियो में राजनैतिक सगठन

किसी भी समाज मे राजनैतिक सगठन के अध्ययन मे दो महत्वपूर्ण आधारो का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। एक तो शक्ति एव सत्ता का वितरण तथा वे सामाजिक सम्बन्ध जिनके द्वारा इन दोनो को व्यक्त किया जाता है। सत्ता के वितरण के आधार पर केन्द्रित सत्ता वाले सगठन राज्य की स्थापना जिसका चरम रूप है तथा विकेन्द्रित सत्ता वाले सगठनो जिनमे सत्ता का विभाजन छोटे छोटे समूहो तक मे होता है की चर्चा की जा सकती है। अधिकाश आदिमजातियो मे सत्ता का विकेन्द्रीकरण भिन्न भिन्न अशो मे पाया जाता है तथा कुछ ही आदिमजातियो मे राज्य के समान केन्द्रित सत्ता के प्रमाण प्राप्त होते है। इसके विपरीत आधुनिक सगठनो मे राज्य के रूप मे पूर्ण रूप मे केन्द्रित सत्ता के प्रमाण प्राप्त होते है। यद्यपि राजनैतिक सगठन का यह वर्गीकरण तार्किक दृष्टिकोण से किसी सीमा तक न्यायसंगत माना जा सकता है अपितु पूर्ण रूप से विकेन्द्रित सत्ता एव पूर्णरूप से केन्द्रित सत्ता की धारणा केवल आदर्श मात्र है तथा वास्तविकता से परे हैं। यहा तक कि न्यूनतम केन्द्रित सत्ता वाले आदिम समाजो मे भी कुछ व्यक्ति या कुछ परिवार कुछ विशेष उद्देश्यो की पूर्ति के लिए तथा कभी कभी कुछ थोडे से समय के लिये ही समाज का नेतृत्व ग्रहण कर लेते हैं। उदाहरण के लिये अफ्रीका की नुएर आदिमजाति मे किसी मुखिया के द्वारा प्रशासन की परपरा नही रही है। आदिमजातियो मे परस्पर तथा एक ही आदिमजाति के

भिन्न-भिन्न खंडों के मध्य शक्ति संतुलन के द्वारा ही किसी एक खंड अथवा एक आदिमजाति के नियंत्रण की अवस्था नहीं आने पाती। परन्तु समय-समय पर धार्मिक क्षेत्र में कुछ व्यक्ति ऐसे होते रहे हैं, जिनका प्रमुख कुछ समय तक सर्वोपरि रहा है। साधारणतया छोटे छोटे वर्गों के धार्मिक पुजारी लोग, जिनका राजनैतिक स्तर पर कोई विरोधी नही होता स्थानीय झगडो के निपटारो में मध्यस्थ का काय करते हैं और उनकी सम्मानित स्थिति एवं देवी देवताओं से उनके सपर्कों के कारण सार्वजनिक रूप से उनके फैसले मान्य होते हैं। अत यद्यपि इन समाजो मे केन्द्रित सत्ता की परंपरा नहीं है, फिर भी इस प्रकार के नेतत्व के रूप में केन्द्रित सत्ता के प्रमाण पाये जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नही कि इनके ये कार्य नैतिक तथा धार्मिक शक्ति पर आधारित होते हैं तथा राजनैतिक शक्ति का इनसे कोई सम्बन्ध नही होता, फिर भी जो काय ये करते हैं वे किसी भी समाज के राजनैतिक सगठन के ही अग होते हैं।

सत्ता के वितरण के अतिरिक्त राजनतिक सगठन के अध्ययन मे उन सामाजिक सम्बधो का भी महत्व होता है जो शक्ति एव सत्ता को व्याव हारिक रूप देते है। जैसा कि हम बता चुके हैं यद्यपि राजनैतिक सगठन सामाजिक सगठन का ही एक अश होता है तथापि समाजिक संगठन में सन्निहित सभी प्रकार के सम्बधो का राजनैतिक महत्व नहीं हुआ करता। आदिम समाजो मे साधारणतया राजनैतिक एकता के आधार रक्त सम्बन्धो के रूप मे ही पाये जाते है। उधर सामाजिक सगठन मे भी रक्त सम्बन्धो की महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं। परन्तु इन दोनो क्षेत्रो में भिन्न-भिन्न स्तरो के रक्त सम्बधो का महत्व होता है। इसीलिये राजनैतिक सगठन की विवेचना के लिये रक्त सम्बधो के इन विभिन्न स्तरो में अन्तर स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। राजनैतिक क्षेत्र मे एकता का प्रदर्शन किसी एक सामान्य पूवज से सम्बन्ध स्थापित करके किया जाता है। एक ही सामान्य क्षेत्र में सहनिवास इन सम्बधो की भूमिका होती है। परन्तु सामाजिके सगठन के अन्तर्गत निकट सम्बधियो के रक्त सम्बन्धो को विशिष्ट समितियो के रूप में सयोजित किया जाता है। साधारणतया समितियो का गठन समान रुचियों एवं समान उद्देश्यो के आधार पर होता है। परन्तु इनके स्थान पर रक्त सम्बन्ध एव एक पूर्वज से उत्पत्ति की समानता का एकरूप हो सकते हैं। सामाजिक सगठन के अन्तर्गत रक्त सम्बन्धो पर आधारित समूहों अथवा समितियो की वंशावली सुनिश्चित एव व्यवस्थित होती है। इनमें क्षेत्रीय

सहनिवास का कोई विशेष महत्व नही हुआ करता। परन्तु इसके विपरीत राजनैतिक गठन मे रक्त सम्बन्धियों और एक पूर्वज से उत्पत्ति की व्याख्या उतनी सुनिश्चित न होकर अधिकांशत सहनिवास एव सदस्यों की कल्पना पर आधारित होती है।

प्रारंभिक मानवशास्त्रियों के लेखो में गण तथा आदिमजातियों के राजनैतिक विभागो मे भेद नही स्थापित किया गया है परन्तु वर्तमान मानवशास्त्रीय विश्लेषणो मे गण को वशागति पर आधारित एक पूर्वज से उत्पत्ति मानने वाले व्यक्तियों का समूह माना गया है। सह निवास गण की सदस्यता का आधार नहीं होता। जिन आदिमजातियो मे गण का राजनैतिक महत्व भी होता है, उनमें गण के सदस्यो को पूवजो से अपने सम्बन्धो का सुनिश्चित ज्ञान नही होता। कुछ आदिमजातियो मे समाज के अधिकांश सदस्य रक्त सम्बन्धी होते हैं और सम्पूण आदिमजाति एक बड़े वंश के रूप मे कार्य करती है और एक गण के समान ही उसका महत्व होता है। राजनैतिक दृष्टिकोण से इस प्रकार का गठन अत्यत महत्वपूण होता है।

प्रत्येक गण विभिन्न वंशो मे विभक्त हो सकता है। इस स्तर पर एक पूर्वज से उत्पत्ति प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित की जा सकती है। परन्तु इस स्तर पर भी चार या पाच पीढ़ियों तक के पूर्वजो को सम्मिलित करने वाली वशधारा मे कुछ सौ व्यक्तियो की सख्या हो सकती है। ऐसा वशसमूह एक प्रभाव शाली राजनतिक समूह के रूप मे कार्य कर सकता है। परन्तु केवल दो या तीन पीढियो तक के समान पूर्वजो पर आधारित वशसमूह का निश्चित रूप से कोई राजनतिक महत्व नही हो सकता। स्पष्ट है कि दोनों प्रकार के वश समूहो का गठन समान सिद्धा त पर आधारित होते हुये भी दोनो समान राजनैतिक महत्व के नही हो सकते। विशेष रूप से अत्यंत शिथिल केन्द्रीय सत्ता वाली आदिमजातियो मे वशों पर आधारित खड व्यवस्था (Lineage Segmentation) उनकी राजनैतिक सरचना में अधिक महत्वपूर्ण होती है। अफ्रीका के नुएर लोगो मे कुछ ऐसी ही व्यवस्था मिलती है। ऐसे समाजों मे लोगो को उचित-अनुचित का निराकरण स्वय अपने खंड की सीमाओ में ही करना होता है। क्योंकि अनुचित व्यवहार करने वालो के लिये न तो कोई न्यायालय होता है और न ही किसी प्रकार की नियंत्रण सत्ता होती है। वयोवृद्ध लोगो की परिषद अथवा उनके मुखिया आपसी झगड़ों की सुनवाई करके परम्परागत मान्य नियमो के अधार पर अपना मत व्यक्त कर सकते हैं। परन्तु इन नियमो का पालन कराने की शक्ति उनमें नहीं होती।

इसीलिये जहाँ कहीं भी आधुनिक वैधानिक व्यवस्था की गई है, वहाँ न्यायालयों का तो उन्होंने स्वागत किया है परन्तु न्यायालयों के निर्णयों के पालन करवाने की व्यवस्था का विरोध किया है। ऐसे समाजो में परस्पर वाद-विवाद के आधार पर समझौते को ही अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। किसी भी प्रकार के दंड विधान को मान्यता नहीं दी जाती।

आदिमजातियो के सम्बन्ध में जैसी कि एक सामान्य धारणा रही है, ऐसी किसी भी सामाजिक व्यवस्था के प्रमाण प्राप्त नहीं हुये हैं, जिसमें उनके सदस्यों मे रक्त सम्बन्ध ही उनके राजनैतिक सम्बन्धों के आधार होते हों। शेपेरा ने अपनी पुस्तक 'Politics in Tribal Societies–1956' में यह बताया है कि अफ्रीका के बुशमैन लोगो में इधर-उधर घूमते रहने वाले छोटे-छोटे समूह भी निश्चित भू भागों पर अपने अधिकार का दावा करते हैं और इस प्रकार से ऐसे प्रत्येक समूह का अपना एक सामान्य निवास क्षेत्र होता है। इसी तथ्य को जी० सी० व्हीलर ने भी अपने एक सर्वेक्षण 'The tribes & Inter tribal Relations in Australia–1910' में स्वीकार किया है। भ्रमणशील एव खाद्य संग्रहण की अर्थ-व्यवस्था पर आश्रित लोग सामान्यतः छोटे छोटे समूहो मे विभक्त होते हैं और यह परिस्थिति सुरक्षा एवं पारस्परिक सहयोग के लिये रक्त सम्बन्धो एव वैवाहिक सम्बन्धो के आधार पर एकता स्थापित करने की आवश्यकता को अत्यत महत्वपूण बना देती है। दूसरी ओर पशुपालक आदिमजातियो जैसे साइबेरिया के मगोल अथवा एशिया एवं अफ्रीका के चरवाहों मे परिवार एव गण राजनैतिक क्रिया के केन्द्र बिन्दु होते हैं। उनकी परिस्थितिया कुछ भिन्न प्रकार की होती हैं। बडे-बडे झुण्डों के लिये सीमित चरागाहो एव जलाशयो की समस्या से आपसी झगडे बहुत होते हैं किन्तु इनमे से अधिकाश विवादो का निपटारा पारिवारिक स्तर पर ही हो जाता है। गण एव सम्पूर्ण आदिमजाति के मुखिया के स्तर पर केवल सम्पत्ति एव सुरक्षा सबन्धी निर्णय ही लिये जाते हैं।

प्रत्येक आदिमजाति का एक मुखिया अवश्य होता है। परन्तु उसकी व्यक्तिगत सत्ता होती है, क्योंकि मुखिया का पद वंशानुक्रमण के आधार पर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक नहीं चलता। इन समाजों में युद्धकाल में मुखिया के अधिकार एवं उसका प्रभाव शांतिकाल की अपेक्षा अधिक होता है।

कृषक आदिमजातियों में गाँव ही साधारणतया एक मूलभूत राजनैतिक इकाई होता है। ऐसी आदिमजातियो में जो कि संग्रहक अर्थव्यवस्था से ही परिवर्तित होकर धीरे-धीरे कृषि करने लगती हैं, उनमें पूरे समुदाय का नेतृत्व

बूढ़ो अथवा वयस्को की परिषद मे होता है। इन परिषदों का कोई मुखिया होना अथवा न होना आवश्यक नही होता। यदि कोई एक व्यक्ति परिषद का मुखिया होता भी है तो उसके अधिकार नाममात्र को ही होते हैं। मध्य भारत, न्यूगिनी तथा कुछ अन्य स्थानो की आदिमजतियो मे ऐसी ग्राम परिषदे पाई जाती हैं। अधिक विकसित रुप से खेती-बाडी करने वाली आदिमजातियो मे इस प्रकार की ग्राम परिषदें मिलकर एक मुखिया चुन लेती हैं परन्तु इस मुखिया को अधिकार नही प्राप्त होते। ये ग्राम-परिषदें अधिकतर सम्पत्ति तथा सामाजिक एव राजनैतिक मसलो को तय करने मे स्वतत्र होती हैं तथा उनके न्यायिक अधिकार भी होते हैं। इन समुदायो मे युवा सघो का राजनैतिक महत्व होता है। युवा सघो का प्रभुत्व गण एव ग्राम के प्रभाव क्षेत्रो को लाघकर सम्पूण आदिमजाति के स्नर तक फला होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यत प्रारम्भिक स्तर पर कृषि करने वाले अथवा केवल खाने योग्य वनस्पति को जगलो से काटने वाले लोगो मे जिनका आर्थिक जीवन अधिकाशत शिकार पर आधारित होता है राजनतिक सगठन अत्यत सुसगठित होता है। इनमे स्थानीय वग सम्पूण आदिमजाति के स्तर तक विस्तरित हो जाते हैं। स्थानीय समूहो के अधिकार गणो तथा आदिम जातीय अधिकार मे आ जाते हैं। विशेष रूप से टोटमी आदिमजातियो मे गण चिन्हो के एकता सूत्र मे राजनतिक एकता भी अधिक पुष्ट हो जाती है। इनमे सामुदायिक उत्तरदायित्व की भावना इतनी पुष्ट होती है कि गण के सदस्य सामूहिक रूप से अपने किसी सदस्य के प्रति किये गये किसी वैमनस्यता पूण व्यवहार का बदला लेते हैं। इनमे प्रत्येक गण का या तो एक मुखिया होता है या कोई एक परिषद होती है। मुखिया का पद वश परम्परा के आधार पर हो सकता है परन्तु उसके अधिकार सीमित होते हैं। गण के वयो वद्ध लोगो को अधिक अधिकार होते है। विभिन्न गणो के मुखिया लोगो मे जो व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत क्षमताओ एव गुणो के आधार पर अधिक योग्य समझा जाता है उसी को सम्पूण आदिमजाति का मुखिया घोषित कर दिया जाता है। परन्तु आदिमजाति के मुखिया को पूण अधिकार नही दिये जाते और उसे सभी नीतियो के निर्धारण मे वयोवृद्ध लोगो की परिषद की राय लेना आवश्यक होता है। आदिमजातीय एकता को अविच्छिन्न रखने मे गण से बाहर विवाह करने का नियम अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। बहुत सी आदिमजातियो जैसे भारतवष मे असम के नागा, मध्यप्रदेश के गोंड इत्यादि,

मे आयु पर आधारित युवा संगठन पाये जाते हैं। ऐसे संगठन भी आदिम-जातीय एकता की भावना को बनाये रखने में राजनैतिक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं।

अक्सर एक क्षेत्र मे निवास करने वाली अनेक आदिमजातियां आपसी विचार विमर्श के आधार पर अन्य आदिमजातियो के आक्रमणो से सुरक्षा के दृष्टिकोण से एक सघ बना लेती हैं। ऐसे सघ मे सम्मिलित आदिमजातियां एक-दूसरे के आंतरिक मामलो मे हस्तक्षेप नहीं करती किन्तु किसी भी बाह्य आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक मतभेदो को महत्व न देते हुये एकता का प्रदर्शन करती हैं।

किसी समाज मे राजनैतिक सगठन के लिये किसी एक अथवा एक से अधिक सिद्धान्तो को आधार माना गया है इसके आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के राजनतिक सगठनो को वर्गीकृत किया जा सकता है। आदिम समाजो मे ऐसे निम्नलिखित वग पाये जाते हैं–

1—**राज्य-विहीन व्यवस्थायें**—इनमे पूरी आदिमजाति से सबधित कोई प्रशासन नही होता। छोटे-छोटे वग एव समूह ही सारी राजनैतिक क्रियाओ का सपादन करते हैं। यहां क्रियायें सामान्यतया कुछ ऐसे व्यक्तियों के माध्यम से होती हैं जिनका राजनैतिक जीवन गौण होता है। कोई भी एक व्यक्ति अथवा एक समूह ऐसा नही होता जिसमे राजनैतिक सत्ता केन्द्रित हो।

2—**अविभेदित व्यवस्थायें**—ऐसे समाज जिनमे रक्त सबधी एवं राज-नैतिक संबधो मे कोई भेद नही स्थापित किया जाता। छोटे छोटे स्थानीय समूह एक दूसरे से विलग स्वशासित इकाइयो के रूप मे होते हैं तथा उनके ऊपर किसी उच्च स्तर का राजनैतिक नियत्रण नही होता।

3—**खण्ड वंशीय-व्यवस्था** (Segmental Lineages)—विकेन्द्रित राजनैतिक सत्ता वाली आदिमजातियो मे ही यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे स्थानीय समूह अथवा गाव राजनैतिक सगठन की इकाइया न होकर वंश राजनैतिक इकाइयां होती हैं। पूरी आदिमजाति के संदर्भ मे प्राय नीतियो का निर्धारण नहीं किया जाता। अफ्रीकी सूडान की नुएर आदिमजाति राज-नैतिक सगठन के इस स्वरूप का एक विशेष उदाहरण है। पूर्वी अफ्रीका एवं मैलेनेशिया की आदिमजातियो मे ऐसी राजनैतिक व्यवस्थायें साधारणतया पाई जाती हैं।

4—**आयुवर्गों पर आधारित व्यवस्थायें**—ऐसी राजनैतिक व्यवस्थायें आयु के आधार पर गठित वर्गों के द्वारा संचालित होती हैं। यह आयुवर्ग

स्थानीय समूहों एवं ग्राम्य सीमाओं से परे होते हैं तथा राजनैतिक एकता के सूत्र होते हैं।

5—**ग्राम-परिषदों एव समितियों द्वारा सचालित व्यवस्थायें**—इन व्यवस्थाओ में एक गाव राजनैतिक सगठन की इकाई होता है। गाव की एक परिषद होती है जिसका निर्माण वयोवृद्ध लोग करते हैं और राजनैतिक सत्ता पूर्ण रूप से इन्हीं परिषदो मे ही निहित होती है। मध्य भारत की आदिमजातियो मे ऐसी व्यवस्थायें सामान्यत पाई जाती हैं।

6—**ग्राम प्रमुख के द्वारा सचालित व्यवस्थायें**—इन व्यवस्थाओं में भी राजनतिक सत्ता विकेन्द्रित ही होती है। कुछ व्यक्तिगत क्षमताओं एवं गुणों के आधार पर ही ग्राम प्रमुख का चयन होता है। सामान्य परिस्थितियो मे सभी राजनतिक क्रियाओ का उत्तरदायित्व ग्राम प्रमुख पर ही होता है यद्यपि असामा य परिस्थितिया म सार्वजनिक हित के निराकरण में उसे लोकमत का ध्यान अवश्य रखना पडता हे। पर तु उसका प्रभाव सर्वोपरि होता है।

7—**राजकीय-व्यवस्थायें**—ऐसी व्यवस्थाओ मे पूरी आदिमजाति पर प्रभावशाली आदिमजातीय परिषदो प्रमुखो अथवा राजाओ मे राजनैतिक सत्ता निहित होती है। केन्द्रित सत्ता सपन्न एक लघु राज्य का आभास होता है। सामाजिक जीवन की जटिलताये ही कुशल नेतृत्व को जन्म देती हैं। ऐसी आदिमजातिया जिनका सामाजिक सगठन अत्यत विकसित एवं जटिल हो जाता है वही एक राज्य का स्वरूप उभर कर सामने आता है। सपूर्ण आदिम जाति का राजनतिक गठन विशिष्ट क्षमताओ एव अद्वितीय नेतृत्व के गुणों वाले व्यक्ति मे निहित होता है। मुखिया (Chief) एव प्रमुख (Headman) मे आशिक अतर होता है। मुखिया के अधिकार प्रमुख की अपेक्षा सीमित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त मुखिया का पद वंशगत भी हो सकता है।

8—**अधिनायकवादी व्यवस्थायें**—जिन समाजो मे मुखिया का पद वशगत होता है वहा मुखिया एव उसका परिवार सामान्य लोगो के स्तर मे उच्च वर्ग मे माना जाता है। राजनैतिक मान्यता के साथ ही साथ वंशगत पद की परपरा के कारण मुखिया धीरे धीरे एक अधिनायक अथवा राजा का रूप ले लेता है। इस व्यवस्था का एक प्रमुख परिणाम यह होता है कि आदिम जाति के प्रशासन में स्थायित्व एवं एकरूपता आती है। विशेष रूप से उन आदिमजातियो मे जिनमे परस्पर वमनस्य तथा विभिन्न गणो मे एक-दूसरे से बदले की भावना अपनी चरम सीमा पर पहुच जाती है उनमें राजनैतिक एकता एव स्थायित्व की आवश्यकतावश इस प्रकार की व्यवस्था का जन्म

होता है। आदिमजातीय स्तर पर परस्पर रक्त-प्रतिशोध की भावना का प्रबल आवश्यक होता है। अतः विशिष्ट नेतृत्व एवं व्यावहारिक कुशलता वाले व्यक्ति अधिनायक के रूप में सफल हो जाते हैं। केन्द्रित राजनैतिक सत्ता का चरम रूप आदिमजातियों में इसी प्रकार की व्यवस्था में पाया जाता है।

9—धर्मनिष्ठ-अधिनायकवादी व्यवस्थायें—राजनीति एवं धर्म सामाजिक जीवन के दो भिन्न पक्ष हैं। जादूगर तथा देवी-देवताओं की पूजा अर्चना का संचालन करने वाले व्यक्ति अत्यधिक शक्तियो के नियंत्रण मे विशेषज्ञ होते हैं। मुखिया अथवा प्रमुख मानवीय व्यवहारो के नियंत्रण मे विशेषज्ञ होते हैं। आध्यात्मवाद आदिमसमाजो मे इतना प्रभावशाली होता है कि लगभग सभी आदिमसमाजों मे उनका राजनैतिक जीवन किन्हीं अशो मे धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावनाओं से रजित होता है। राजनैतिक अधिकारी वर्ग मे विशेष आध्यात्मिक शक्तियो की सभावना को मान्यता दी जाती है। वैसे तो सभी आदिमजातीय समाजो मे धम एव जादू मे सबधित पुजारी वर्ग के लोग सामान्य जन समुदाय की अपेक्षा अति सम्मानित वग मे माने जाते हैं तथा सामान्य लोगो पर उनके नैतिक प्रभाव के राजनैतिक महत्व की अवहेलना नही की जा सकती परन्तु जिन समाजो मे राजा अथवा अधिनायक को पवित्रता का प्रतीक मानते हुये देव-तुल्य मानते हैं उनमे धार्मिक एव राजनैतिक पक्ष और अधिक एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। ऐसे अधिनायको का राजनैतिक प्रभुत्व और भी अधिक प्रभावशाली होता है और सामान्यजन केवल दड के भय से नही बल्कि धार्मिक विश्वास एव श्रद्धा के कारण उनका राजनैतिक आधिपत्य सहष स्वीकार करते हैं।

यद्यपि विभिन्न सिद्धातो पर सगठित होने के कारण आदिमजातीय समाजो के राजनैतिक गठनो मे उपर्युक्त प्रकारात्मक वर्गीकरण सभव है फिर भी कभी-कभी अति विकसित सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्थाओ वाले समाजो मे, रक्त सबध, भौगोलिक तथा अन्य आधारो पर गठित वर्गों के साथ-साथ अराजनैतिक समितियो को भी राजनैतिक महत्व प्रदान किया जाता है। युवा संघ जैसी समितियो को शांति एव सुरक्षा का उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। नागा आदिमजातियो में निरन्तर पड़ोसी आदिमजातियो से आक्रमण के भय के संदर्भ में उनके मोरग यह राजनैतिक भूमिका अदा करते हैं। इसी प्रकार अरुणांचल प्रदेश के आपातानी घाटी के निवासियो मे भी विधिवत एक प्रकार की बाल-युवक सेना का गठन जहां एक ओर उनके कृषि कार्यों में सहायता प्रदान करने का कार्य करता है, वहां दूसरी ओर पड़ोसी डाफला लोगो की

निरन्तर आक्रामक चेष्टाओं के संदर्भ में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान रहता है और उनकी सतर्कता को बनाये रखने मे सहायता मिलती है। इस प्रकार से एक अतिविकसित आदिमसमाज मे रक्त-संबधों क्षेत्रीय आधारों तथा अराजनैतिक समितियो—इन तीनो आधारो को सयुक्त रूप से राजनैतिक गठन का आधार बनाया जाता है। आधुनिक राजतत्रो मे अधिक संख्या मे विभिन्न समितियो के आधार पर गठित सामाजिक संगठन तथा उनके राजनैतिक सगठन मे इन समितियो का प्रचुर मात्रा मे समावेश उनकी एक विशेषता होती है। आदिमसमाजो मे यह अवस्था नही पाई जाती। उनकी राजनैतिक गतिविधिया अत्यत व्यक्तिगत होती हैं। समाज के सभी व्यक्ति परस्पर संपर्कों के द्वारा राजनैतिक गतिविधियो को प्रभावित करते है। आदिमजातीय अधि नायक से लकर निम्नतम स्तर के व्यक्तियो एव सगठनो तक समाज के प्रत्येक व्यक्ति की पहुच हाती है। जहा एक ओर वे राजनैतिक सदर्भ मे कर्तव्य एव अधिकारो की भूमिका मे परस्पर विचार विमश करते है वही वे एक दूसरे से निकट सामाजिक सबधो एव रक्त सबधो की भूमिका मे एक दूसरे के प्रति अपने नैतिक व्यवहारो के प्रति भी जागरूक होते है। अत्यत व्यक्तिगत पार स्परिक व्यवहारा की भूमिका मे सगठित एव परपरागत मूल्यो एव मान्यताओं से निदेशित आदिमसमाजो के राजनतिक सगठन आधुनिक राजनैतिक व्यव स्थाओ से गुणात्मक आधारो पर निश्चित रूप से बिल्कुल भिन्न होते हैं।

भारत के आदिवासियो मे राजनतिक सगठन

आदिमजातियो मे राजनैतिक सगठन के अधिकांश स्वरूप जिनका वर्णन किया गया है भारत के आदिवासियो मे भी पाये जाते हैं। देश के विभिन्न आदिमजातीय क्षत्रो मे विभिन्न प्रकार की पर्यावरणीय परिस्थितिया पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त जहा एक ओर दक्षिण भारत के जगलो मे भ्रमणशील जीवन व्यतीत करते हुये कादर इरूला पानियान, चेंचू जैसे अत्यत अविकसित आर्थिक जीवन वाल आदिवासी हैं वहां दूसरी ओर असम प्रदेश की खासी एव गारो पहाडियो के खासी एव गारो तथा अरुणाचल प्रदेश के आपातानी लोग हैं जो अत्यत विकसित खेती बाडी तथा बागबानी करते हुये उत्कृष्ट आर्थिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसी प्रकार सामाजिक जीवन तथा सभ्य समाजो से सपर्कों के आधार पर भी विभिन्नता पाई जाती है। एक ओर छोटा नागपुर बिहार तथा मध्य प्रदेश के आदिवासी हैं जो कि हिन्दुओ से तथा आसाम नागालैड एव मिजोराम प्रदेशो के आदिवासी ईसाई मिशनरियों

से इतने अधिक प्रभावित हो चुके हैं कि एक सामान्य पर्यवेक्षक को संभवत इनमे अन्तर स्थापित करना भी कठिन हो जाये और दूसरी और सुदूर अरुणाचल प्रदेश, हिमालय के क्षेत्रों एव दक्षिण भारत में स्थित आज भी कुछ आदिवासी हैं, जो सभ्यता से दूर एकाकी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। बीच की स्थितियों में भी काफी संख्या में आदिमजातिया आती हैं। सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन की इन विविधताओं ने विभिन्न क्षेत्रों की आदिमजातियों मे विभिन्न प्रकार की राजनैतिक प्रणालियो को जन्म दिया है। परिणामस्वरूप अति विकेन्द्रित राजनैतिक सगठन से लेकर अधिनायकवादी केन्द्रित राजनैतिक प्रणालियो तक के उदाहरण हमें भारत के आदिवासियो मे मिलते हैं। अब हम विभिन्न भारतीय आदिवासी समुदायो मे राजनैतिक प्रणालियों के स्वरूपो का वर्णन विभिन्न क्षेत्रों एव प्रदेशो मे प्राप्त उदाहरणो से करेंगे।

उत्तर-पूर्वी भारत (असम, अरुणाचल, मेघालय, नागालैण्ड, मिजोराम, मणिपुर, त्रिपुरा)

असम प्रदेश मे अधिकाश आदिवासी घने जगलो से आच्छादित पर्वतीय प्रदेशो मे रहते हैं। इनमे खासी गारो लुशाई, जयंतिया मिजो आदि प्रमुख हैं। इस प्रदेश की लगभग सभी आदिमजातियों मे प्रशासनिक सगठन का आधार प्रजातन्त्रात्मक है। कुछ अपवादो को छोडकर सभी आदिमजातियो मे भूमि का स्वामित्व सामुदायिक होता है। भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार को कोई मान्यता नही दी जाती। यद्यपि गारो लोगों में उनके गण अथवा गांवो का प्रधान नोकमा तथा खासी लोगो मे उनका राजा डोलोई एव लुशाई लोगो मे उनके मुखिया अपने अधिकार क्षेत्र मे आने वाली सपूर्ण भूमि के स्वामी माने जाते थे, परन्तु यह स्वामित्व केवल नाममात्र को अथवा प्रतीकात्मक ही होता है क्योकि वस्तुत प्रत्येक गाव के सदस्य को कही पर भी खेती करने का अधिकार प्राप्त होता है। यह सभी आदिमजातिया आर्थिक दृष्टि से अधिक सुदृढ़ है तथा खेती-बाडी एवं व्यापार विनिमय के द्वारा समाज में गरीब एवं अमीर दोनो कोटि के लोग होते हैं। परन्तु धन सपत्ति एव राजनैतिक पद किसी प्रकार के सामाजिक स्तरीकरण को जन्म नहीं दे पाये। कुछ ही समय पूर्व तक लुसाई आदिमजाति का मुखिया तथा खासी आदिमजाति का डोलोई अथवा सियेम इतने प्रभावशाली माने जाते थे कि आस पड़ोस के अन्य समाजों के लोग उन्हे राजा मानते थे। परन्तु वास्तव मे अपने समाज में उनकी स्थिति सामान्य व्यक्तियों के ही समकक्ष होती है तथा इस राजनैतिक

पद पर होने के कारण उन्हे विशेष सुविधायें नही प्राप्त होती। इन सभी आदिमजातियो के राजनैतिक गठन मे प्रजातान्त्रिक भावना सभी स्तरो पर देखने को मिलती है। खासी सीयेम केवल वैधानिक राजा होता है और स्वतन्त्ररूप से कभी कोई फैसला अथवा नीति निर्धारण नही करता। उसके कुछ परामर्शदाता होते हैं और सभी मामलो मे उनका एक मत होना आवश्यक होता है। इसी प्रकार से यद्यपि लुशाई आदिमजाति के मुखिया का खासी सियेम की अपेक्षा अधिक प्रभुत्व होता है और इसी प्रभुत्व के कारण कुछ समय पहले तक उसे एक अधिनायक ही माना जाता था परन्तु वास्तविकता यह है कि किसी भी मसले पर उपा (ग्राम वयोवृद्ध) लोगो की राय की अवहेलना करना उसके लिए कठिन होता है। ये दोनो अधिकारी वंशानुक्रमण के आधार पर ही चुने जाते है तथा प्रतीकात्मक रूप से राजनैतिक सत्ता इन्ही मे केंद्रित होती है। राजनैनिक गतिविधियो का सचालन एव प्रशासन पूर्णरूपेण प्रजातान्त्रिक सिद्धातो पर आधारित होता है। उत्तरी कछार के क्षेत्रो मे अन्य विभिन्न आदिमजातियो मे मुखिया के चयन मे चुनाव तथा वंश परपरागत दोनो सिद्धात अपनाये जाते हैं। छोटे छोटे झगडो का निपटाना गांव के सभी पुरुषो के समक्ष मुखिया की उपस्थिति में खुले न्यायालय मे होता है तथा किसी अपराधी के सबध मे लिया गया निर्णय पूरे गाव का निर्णय होता है न कि केवल मुखिया तथा उसके सलाहकारो का निर्णय। प्रत्येक गाव के वयोवृद्ध लोग एक अनौपचारिक परिषद का निर्माण करते है और अपने गांव की समस्याओ तथा समय समय पर विशेष परिस्थितियो मे उनका मत सर्वोपरि माना जाता है परन्तु वे स्वय इस बात का ध्यान रखते हैं कि गाव के लोगो की सामान्य जन भावना के विरुद्ध उनका कोई निर्णय न हो।

प्रशासन का यह रूप इन शांतिप्रिय आदिमजातियो के लिये इतना उपयुक्त था कि ब्रिटिश प्रशासको ने भी इनकी इस व्यवस्था मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना उपयुक्त नही समझा और इनके मुखिया तथा सियेम तथा इसी प्रकार से अन्य आदिमजातियो के प्रमुखो को मान्यता प्रदान कर दी। केवल अपने अधिकार एव आधिपत्य को बनाये रखने के लिये गंभीर मसलो को तय करने मे डिप्टी कमिश्नर अथवा एस० डी० ओ० की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती थी। परन्तु स्वतत्रता प्राप्ति के बाद से इन पर्वतीय क्षेत्रो के आदिवासियो की प्रशासन व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हुये हैं। सवैधानिक व्यवस्था के अनुसार जिला परिषदो की स्थापना से दलगत राजनीति का प्रारंभ हुआ है, जबकि पहले राजनैतिक क्षेत्र मे किसी भी

प्रकार की दलबन्दी अथवा गुटबन्दी से ये लोग परिचित नही थे ।

असम के उत्तरी कछार पहाड़ियों के उप विभाग में तीन प्रमुख आदिम जातियां उल्लेखनीय हैं । यह है डिमसा कछारी कुकी तथा जेमी नागा । इनमें डिमसा कछारी जनसख्या के दष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण हैं। लगभग सोलहवी शताब्दी से ब्रिटिश शासनकाल मे सन् 1854 तक इस क्षेत्र की अन्य सभी आदिमजातियो पर इनका व्यापक राजनैतिक प्रभुत्व रहा है । प्रारम्भ से ही राजकीय परम्परा इनके राजनैतिक जीवन का आधार रही है । कछारी राजाओ के समय मे इस पूरे पर्वतीय क्षेत्र की व्यवस्था विशेष सैनिक अधिकारी का दायित्व रही है जो कुछ थोड़े से सहायक अधिकारियो की सहायता से व्यवस्था करता रहा है । प्रत्येक गाव का एक ग्राम प्रमुख होता है जिसे कुनाग कहा जाता है। यह निर्वाचन से भी बनाया जाता है तथा वशपरम्परा के आधार पर भी इसकी नियुक्ति हो सकती है। बडे-बडे गावो मे ग्राम प्रमुख के सहायतार्थ एक सहायक प्रमुख भी नियुक्त किया जाता है जिसे डिलो कहा जाता है । कुनाग के अधिकार अधिक होते हैं। छोटे मोटे सभी मामलों का निपटारा कुनाग ही करता है परन्तु वह अपने फैसलो मे गाँव के उन सभी सदस्यो की सलाह एव सहायता लेना उचित समझता है जोकि किसी मामले मे रुचि रखते हो । स्त्रियो से सम्बन्धित मामलो मे गाँव की वृद्ध स्त्रिया भाग लेती हैं ।

उत्तरी कछार पहाडियो मे स्थित कुकी आदिमजाति की जनसख्या लगभग आठ हजार है जो कि डिमसा की अपेक्षा लगभग एक तिहाई है। परन्तु वर्तमान समय मे चिन तथा लुशाई पहाडियो त्रिपुरा, कछार, मनीपुर तथा नागालैंड के विस्तृत क्षेत्रो मे फैले हुये कुकी लोगो की सख्या लगभग एक लाख से भी अधिक है । थोडी बहुत सांस्कृतिक विभिन्नताओ के साथ-काफी सख्या मे उप जातियां पाई जाती हैं। इनमे उत्तरी कछार के कुकी लोगो मे गाव का प्रशासन ग्राम प्रमुख काबुर तथा उसके सहायक प्रमुख छापिया काबुर के द्वारा होता है । यह पद वंश परम्परा पर आधारित नही होते, वरन् इन पदो पर विशेष क्षमताओ एवं योग्यताओ वाले व्यक्तियो को प्रतिष्ठित करने की परम्परा है । इसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो मे कुकी आदिमजाति का प्रशासन मुखिया के द्वारा होता है और यह पद वश परम्परा पर आधारित होता है ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, विशेषरूप से सन् 1965 के बाद से मिजो लोग हमारे देश के राजनैतिक जीवन में चर्चा का विषय रहे हैं। मिजो

पहाड़ियों में स्थित असम के दक्षिणी भाग के क्षेत्रों मे रहने वाले यह लोग पिछले कुछ वर्षों से इस क्षेत्र मे व्यापक राजनैतिक अशांति का कारण रहे हैं। यह क्षेत्र उत्तर मे कछार तथा मणीपुर, पूर्व एव दक्षिण मे बर्मा तथा पश्चिम में बंगला-देश की सीमाओ से घिरा हुआ है।

सन 1950 के उपरान्त सवैधानिक नियमो के अनुरूप इनका प्रशासन भारतीय सविधान के छठे अनुच्छेद मे दिये नियमो के अनुसार जिला परिषदो के द्वारा होता रहा है। परन्तु इस से पूर्व की स्थिति भिन्न थी। इससे पहले प्रत्येक गाव एक सशक्त राजनैतिक इकाई होता था और गाव का अधिकारी वश परम्परा के आधार पर नियुक्त एक मुखिया होता था जिसे लाल कहा जाता था। यह मुखिया अधिकाशत लुसेई गण के सेलो परिवार का ही होता था। कभी एक मुखिया के अधिकार क्षत्र मे एक से अधिक गाव भी हुआ करते थे। गाव के प्रशासन मे मुखिया की सहायता के लिये गाव के वयोवृद्ध लोगो की एक परिषद हुआ करती थी। परिषद के सदस्यो की नियुक्ति मुखिया ही नामाकन के द्वारा करता था। ग्राम परिषद के सदस्यो के अतिरिक्त राजनतिक व्यवस्था के लिये मुखिया कुछ अन्य अधिकारियो की नियुक्ति भी करता था। लगाऊ जिसका कार्य मुखिया के फैसलो की घोषणा करना था थिरडेंग —गाव का सावजनिक कमकार पुई थियाम ग्राम पुरोहित खाछियार—जिसका कार्य विशेषरूप से ब्रिटिश सरकार के आधिपत्य के बाद से, सरकारी कागजो की देख भाल करना होता था आदि की नियुक्ति मुखिया ही करता था। परम्परागत प्रथा के अनुसार गाव के प्रत्येक घर से लगभग एक मन धान मुखिया को देना आवश्यक होता था। किसी व्यक्ति के व्यवहार से अस तुष्ट होने पर मुखिया को उसे गाव से निष्कासित करने का अधिकार होता था।

नागा आदिमजातियो मे राजनैतिक सगठन

नागा पर्वत श्रेणियो के निवासी नागा सांस्कृतिक समानताओं पर आधारित छोटी तथा बडी सकडो आदिमजातियो का वर्गीकृत समूह हैं। नागा आदिमजातियो के कुछ थोड़े से बडें समूहो का ही समुचित अध्ययन किया गया है और उन्ही के सम्बन्ध मे हमे अधिकाश तथ्य ज्ञात हैं। इनमे और आस पडोस की असम की अन्य आदिमजातियो से शारीरिक लक्षणों एवं सास्कृतिक आधार पर ही अन्तर स्थापित किये जा सकते हैं। यद्यपि कुछ आदतो एव व्यवहारो मे अन्य पडोसी आदिमजातियाँ इनके समान भी हैं।

उनमें स्वयं में भाषा में अत्यधिक भिन्नता पाई जाती है। एक दूसरे के पास में ही रहने वाली दो नागा आदिमजातियों में परस्पर संपर्क इसीलिये नहीं हो पाता क्योंकि वे एक दूसरे की भाषा नहीं समझते। दूरी पर बसे हुये समूहों की भी यद्यपि नागा आदिमजातियो में ही गणना की जाती है, किन्तु उनके एक दूसरे से सम्पर्क में आने का प्रश्न ही नहीं होता। विशेष रूप से निचली पहाड़ियो एवं ब्रह्मपुत्र के अंचल के समीप ऐसी नागा आदिमजातियों को जिनके सम्पर्क असम के मैदानी क्षेत्रों से हैं केवल नागा कहा जाता है, तथा ऊंची पर्वत श्रेणियो तथा असम के मैदानी क्षेत्रो से संपर्क विहीन दूरस्थ अंचलो मे रहने वालो को अबोर नागा सामान्य शब्द से सम्बोधित किया जाता है।

एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार भी समस्त नागा आदिमजातियो को दो वर्गों में विभाजित किया गया है 1 Kilted तथा 2 Non Kilted। प्रथम वर्ग मे अगामी नागा लोगो को सम्मिलित किया गया है तथा दूसरे वर्ग मे इनके अतिरिक्त अन्य सभी नागा आदिमजातियो को सम्मिलित किया गया है। किल्ट शब्द से तात्पर्य कमर में बांधी जाने वाली नीली अथवा काली कपड़े की पटटी मे होता है जो कि साधारणतया 3 1/2 से 4 फीट तक लम्बी तथा लगभग 1 1/2 फीट चौडी होती है। यह पटटी कूल्हो पर से होती हुई कमर मे बाधी जाती है और इसका दूसरा सिरा टांगो के बीच से ले जाकर पीछे कमर मे बाध दिया जाता है। यद्यपि पहनावे के इस अन्तर के आधार पर वर्गीकरण अस्वाभाविक सा ही जान पडता है परन्तु वास्तव मे प्रथम एव द्वितीय वर्ग मे सम्मिलित आदिमजातियो में महत्वपूर्ण सास्कृतिक अन्तर पाये जाते हैं। अगामी नागा स्वय ब्रह्मपुत्र के दोनो किनारो पर बसे हुये हैं तथा विस्तृत क्षेत्रो में फैले हैं। दूसरे वर्ग की आदिमजातियो में निश्चय ही आपस मे थोडे बहुत सास्कृतिक अन्तर हैं परन्तु वे सभी सामूहिक रूप से अगामी नागा लोगों से सर्वथा भिन्न हैं।

लगभग सभी नागा आदिमजातिया रक्त पिपासु आतकवादी एव युद्ध प्रिय कही जाती हैं। अगामी नागा यद्यपि अन्य नागा आदिमजातियों के समान भयंकर, कठोर एवं उग्र स्वभाव के नहीं होते तथा उनके व्यवहारों में किसी सीमा तक सौजन्यता एवं कोमलता परिलक्षित होती है, फिर भी सामान्य नागा प्रकृति से परे नहीं हैं। अन्य नागा आदिमजातियों की भांति, रक्त का प्रतिशोध रक्त के द्वारा ही हो सकता है का सिद्धांत अगामी नागा लोगों में भी उतना ही सार्थक है। एक गांव के दो गणों में परम्परागत

वैमनस्य हो सकता है परन्तु उसी गांव के एक तीसरे गण के लोगो से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होते हैं। वैमनस्य वाले गणो के बीच निरन्तर समय-समय पर मार काट चलती रहती है। एक गण के सदस्य अवसर पाते ही दूसरे गण के सदस्यो को मार देते हैं परन्तु उसी गाव के अन्य गण के सदस्य इस विवाद से अपने को दूर रखते हैं तथा तटस्थ होते हैं। यह अवस्था सभी नागा आदिमजातियो की विशेषता है। एक राजनीतिशास्त्र का विद्वान इस अवस्था को सम्पूर्ण अराजकता की सज्ञा ही देगा तथा मानवशास्त्री के द्वारा इन लोगों मे एक सुगठित राजनतिक सगठन की बात उसे हास्यास्पद ही प्रतीत होगी।

वास्तव में ऐसी आतकपूर्ण परिस्थितियो मे किसी स्थाई प्रशासन की कल्पना नही की जा सकती। इनके गाव साधारणतया बडे होते हैं। विशेष रूप से अगामी नागाओ मे नौ सौ घरो तक के गाव पाये जाते हैं। प्रत्येक गांव का एक मुखिया होता है। इनका चयन धनाढयता बहादुरी चतुराई एवं राजनयिक गुणो के आधार पर किया जाता है। गाव के लोग केवल नाममात्र के लिये ही अपने मुखिया के नियत्रण मे होते हैं और वास्तविकता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति वही कार्य करता है जो वह उचित समझता है। उसका स्वय का विवेक उसका कानून होता है। कैप्टेन बटलर ने ठीक ही कहा है कि नागा समाजो मे हमे एक ऐसी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था मिलती है जिसका एक दिन भी चल सकना सभव नही प्रतीत होता। फिर भी इन लोगो मे एक प्रकार की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की विद्यमानता को अस्वीकार भी नही किया जा सकता। मुखिया की आज्ञाओ का पालन उसी सीमा तक किया जाता है जहाँ तक वे अधिकाश लोगो के अनुकूल हो। परन्तु फिर भी अल्पसंख्यक लोग बहुसख्यक लोगो के विचारो का आदर न करते हुये मुखिया की आज्ञा की अवहेलना करते हैं। सिद्धातत प्रत्येक अगामी नागा अपनी इच्छाओ एव रुचियो को ही मान्यता देता है और उसमे किसी का भी हस्तक्षेप स्वीकार नही करता। एच० वी० राने ने इस परिस्थिति का बडा ही स्पष्ट वर्णन किया है। उनके अनुसार नागा आदिमजातियो मे किसी प्रकार का आतरिक प्रशासन नही पाया जाता। वे किसी की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। यदि किसी नागा से इस सम्बन्ध मे पूछा जाये तो वह अपने भाले को जोर से जमीन मे गाड़ कर उसे ही अपना राजा घोषित करता है। किन्ही जातियो में गाव के वयोवृद्ध को कुछ मान्यता दी जाती है परन्तु उनका आधिपत्य नाममात्र को ही होता है। कही कही पर छोटे मोटे आपसी झगड़ो

का निपटारा करने के लिये गांव के वयोवृद्ध लोगों की परिषद भी होती है परन्तु परिषद केवल समझौता कराने का प्रयत्न ही कर पाती है। उसके फैसलों को कार्यान्वित करने की अथवा किसी प्रकार के दंड विधान की कोई योजना नहीं होती।

ए० जे० मोफाट मिल्स ने अगामी नागाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि यद्यपि अन्य नागा आदिमजातियों की भांति इनका जीवन भी आक्रमणों तथा हत्याओं के बीच बीतता है, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि इनमें किसी प्रकार के राजनैतिक संगठन का अभाव है। वस्तुतः इनकी राजनैतिक व्यवस्था को प्रजातांत्रिक प्रणाली का एक चरम रूप मानना चाहिए। प्रत्येक गांव स्वयं में एक महत्वपूर्ण राजनैतिक इकाई होती है। नामभाव को उसका एक मुखिया होता है परन्तु मुखिया की निरपेक्ष सत्ता नहीं होती। वह किसी प्रकार का कर नहीं वसूल करता और न ही वह किसी को कोई आज्ञा दे सकता है क्योंकि वह स्वयं समझता है कि उसकी आज्ञा के पालन की सम्भावनायें अत्यन्त क्षीण होती हैं। किसी आक्रमण की योजना बनाने में अथवा किसी गांव से प्रतिशोध लेने की योजना बनाने मे गांव के वयोवृद्ध एवं लड़ाकू जवान एक स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं और अपने कार्यक्रम निश्चित करते हैं। परन्तु साधारणतया योद्धाओ का मत वयोवृद्ध लोगो के मत की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है। गांव के मुखिया का पद वंशानुक्रम पर आधारित होता है। मुखिया की मृत्यु हो जाने पर अथवा उसके अत्यन्त शिथिल हो जाने पर उसका सबसे बड़ा पुत्र यह पद संभालता है। अधिकांश गांवो में साधारणतया दो मुखिया होते हैं परन्तु उनका राजनैतिक प्रभुत्व केवल नाम मात्र को ही होता है।

किन्हीं नागा आदिमजातियो में उनके गण जिन्हें वे खेल कहते हैं प्रादेशिक इकाइयो के रूप मे कार्य करते हैं। यह इकाइयाँ सामाजिक तथा राजनैतिक, दोनो दृष्टिकोणो से महत्वपूर्ण होती हैं। इन पर आनुवंशिक सरदारो राजाओ अथवा सामन्ती विशेषाधिकार प्राप्त आदिमजातीय मुखियाओ का शासन है। प्रत्येक खेल भोजन अथवा स्त्रियो के लिए पड़ोसी खेलों द्वारा किसी भी समय संभावित आक्रमणों से रक्षा की व्यवस्था करता है। समान सामाजिक महत्व की भावनायें तथा निरन्तर व्याप्त विपद की आवश्यकतायें, खेल के सदस्यो की एकता के सूत्र मे बांध देती हैं। पीढ़ियों से चली आ रही वैमनस्यता तथा वामवासी शत्रुता के सिद्धान्त पर गठित, नागा जनसमुदाय स्वभाव से स्वतंत्रप्रिय हैं, किन्तु राजनैतिक संदर्भ में इन्हें बराब-

कतापूर्ण समाज नहीं कहा जा सकता।

मध्य भारत के आदिवासियो मे राजनैतिक सगठन

मध्य भारत के विस्तृत आदिमजातीय क्षेत्रों मे बिहार, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा की आदिमजातियाँ मिलकर भारत की सर्वाधिक आदिवासी जनसख्या वाले क्षेत्र का निर्माण करती हैं। परन्तु इन सभी आदिमजातियो मे राजनैतिक सगठन के कुछ समान प्रतिरूप पाये जाते हैं। इनमे से अधिकांश आदिमजातियों के सामाजिक सगठन मे गण रक्त सम्बन्धो पर आधारित एक महत्वपूर्ण सामाजिक इकाई है और इन गणो के प्रमुख अपने नैतिक प्रभाव से गण के सदस्यो पर काफी नियन्त्रण भी रखते हैं। परन्तु गण की अपेक्षा गाव एक प्रभावशाली राजनैतिक इकाई होता है। प्रत्येक गाव का शासन ग्राम प्रमुख अथवा वयोवृद्ध लोगो की परिषद के द्वारा होता है। दोनो का राजनैतिक प्रभाव महत्वपूर्ण होता है। इन परिषदो का निर्णय सर्वसम्मति अथवा बहुमत से ही होता है। ग्राम प्रमुख अपने निर्णयो में ग्रामवासियो के बहुमत की अवहेलना नही कर सकता। बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र मे पिछले पचास वर्षों मे राजनतिक गतिविधियो मे अधिक तीव्रता आई है। सदियो से हिन्दू जमीदारो कर्जदाताओ आदि के शिकजे में जकडे हुए ये आदिवासी अपने अधिकारो एव सुविधाओ के प्रति जागरूक हो उठ हैं और क्षत्रीय आधार पर कई आदिमजातियो ने परस्पर सहयोग के आधार पर बृहद् आदिम जातीय सघो तथा राजनैतिक दलो का निर्माण कर लिया है। देश की सामान्य राजनतिक व्यवस्था धीरे धीरे इनके परम्परागत राजनतिक सगठनो को क्षीण करती जा रही है तथा प्रादेशिक प्रशासन के अन्तगत स्थापित पचायतें धीरे धीरे अधिक लोकप्रिय होती जा रही हैं। सरकारी न्यायालय एव राष्ट्र का दण्ड विधान अधिक प्रभावशाली होता जा रहा है।

इस सम्बन्ध मे सुरजीत सिनहा के हाल मे किये गये अध्ययन महत्वपूर्ण हैं। मध्य भारत के आदिवासियो मे राजनैतिक गतिविधियों के अपने अध्ययन मे उन्होने बताया है कि इन आदिमजातियो की राजनैतिक व्यवस्था हिन्दू सामाजिक सगठन मे इनके प्रवेश तथा बृहद भारतीय राजनतिक व्यवस्था में समावेश की दिशा मे महत्वपूर्ण रही है। जहाँ एक ओर अपने मुखिया एव ग्राम परिषदों के अ तगत इनकी राजनैतिक एकता के प्रमाण मिलते हैं, वहीं यही राजनैतिक व्यवस्था उनके राजनतिक विघटन का भी मुख्य कारण रही है। विघटनात्मक शक्तिया एकतामूलक शक्तियो की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली

सिद्ध हुई है। इन आदिमजातियों के मुखिया राजनैतिक शोषण के स्रोत बनते जा रहे हैं। परिणामस्वरूप इनके प्रभुत्व को समाप्त करने की सामान्य धारणा उग्र होती जा रही है। इस पूरे क्षेत्र में, विशेषरूप से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से औद्योगिक राजनैतिक एव सामुदायिक विकास की गति अत्यन्त तीव्र रही है। परिणामस्वरूप अपनी परम्परागत व्यवस्था से क्षुब्ध इन आदिम जातियों को अवलम्ब प्राप्त हुआ। श्री सिनहा के निष्कर्ष कहा तक पूरे मध्य भारत क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं, यह एक विचारणीय विषय है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी राष्ट्रीय सरकार की निर्धारित नीतियों के अनुरूप जैसे-जैसे कल्याणकारी शिक्षा एव औद्योगिक तथा निर्माण कार्यों का प्रसार आदिम जातीय क्षेत्रों मे होता जा रहा है, वैसे-वैसे हमारे देश के आदिवासी राजनैतिक स्तर पर राष्ट्र से अधिकाधिक सम्बद्ध होते जा रहे हैं। साथ ही तीव्र गति से परिवर्तित हो रहे वातावरण के सन्दर्भ मे उनका सामाजिक सास्कृतिक जीवन भी प्रभावित हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में यह कहना कठिन होगा कि युगों से चली आ रही व्यवस्था आज स्वय इतनी दूषित हो चुकी है कि वह आदिमजातियो के राजनैतिक विघटन का कारण बन रही है। वास्तव मे पास पडोस मे होने वाली गतिविधियो से हमारे आदिवासी आज उतने अपरिचित एव उदासीन नही है। परिणामस्वरूप जो भी प्रभाव हो रहे हैं, उन्हे परम्परागत सगठन की कमजोरियो का नही बल्कि असाधारण शक्तिशाली गतिविधियो का प्रभाव मानना चाहिए।

उपर्युक्त कथन के सन्दर्भ मे हम बिहार की एक प्रमुख आदिमजाति सन्थाल का उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। बिहार के सन्थाल परगना भागलपुर, मुगेर मानभूम हजारीबाग तथा सिंहभूम उडीसा के मयूरभंज एव बालासोर तथा पश्चिमी बगाल के बीरभूम, बाँकुरा तथा मिदनापुर के लगभग 350 वर्गमील क्षेत्र मे फैले हुए सन्थाल मध्य भारत की आदिम जातियो मे अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व पूर्णिया जिले मे सामन्ती जमीदारों के हाथो 14 सन्थाल व्यक्तियो के अग्निदाह की सूचना ने इनकी दयनीय दशा से देश को अवगत कराया है।

जैसा कि पिछले पृष्ठो मे दिये गये वर्णनो से स्पष्ट है, आदिमजातीय सामाजिक व्यवस्था मे राजनैतिक सगठन जहां उनकी एकता एवं सुरक्षा की ओर एक प्रयत्न है, वहीं परपराओ एव सामाजिक मानदण्डो के सुचारु रूप से निर्वाह में भी महत्वपूर्ण है। ब्रिटिश शासनकाल मे अधिकाश आदिमजातीय क्षेत्रों में किसी प्रकार का प्रशासन लगभग नाममात्र को ही हुआ करता था

तथा शासन इन क्षेत्रो से आर्थिक लाभ प्राप्त करने के सीमित उद्देश्य से ही इनकी व्यवस्था में सीमित हस्तक्षेप करता था। ऐसी अवस्था में निश्चय ही इनकी राजनैतिक संगठनों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हुआ करती थी। आस पास की अन्य आदिमजातियो से सुरक्षा का कार्य तथा अपने आर्थिक जीवन को सगठित रखने का काय अत्यत महत्वपूर्ण हुआ करता था। परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से इन सभी क्षेत्रो मे भी राष्ट्रीय प्रशासन एव कल्याणकारी योजनायें विधिवत अन्य क्षेत्रो की ही भाति कार्य करने लगी है। आदिवासियो ने इन सभी गतिविधियो का स्वागत भी किया है। आज प्रदेश की विधान सभाओ मे तथा देश की ससद मे इन क्षेत्रो के प्रतिनिधियो को भी अन्य लोगो की भाति बराबर के अधिकार प्राप्त हैं और अपनी क्षेत्रीय शांति एवं सुरक्षा तथा अपनी आर्थिक समस्याओ का भार अब पहले की भाति इनकी आतरिक व्यवस्था पर नही है। देश क अन्य भागो की भाति प्रशासनिक अधिकारियो न्यायालयो तथा विद्यालयो आदि की सेवायें एव सुविधायें इन्हें उपलब्ध हैं। अत इनकी आतरिक व्यवस्था के उत्तरदायित्व मे कमी आई है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि इनकी आतरिक राजनतिक व्यवस्थायें क्षीण हो गई हो अथवा लोगो का उनमे विश्वास समाप्त हो गया है। आज भी आदिवासी समुदाय सगठित वर्गों क रूप मे हैं। परपरागत जीवन एव अपने सामाजिक एव नैतिक मूल्यो की रक्षा का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व आज भी उनकी आतरिक व्यवस्था पर ही है। देश की सरकार न तो उनके इन नैतिक एव सामाजिक मानदडो क क्षेत्र मे कोई हस्तक्षेप ही करना चाहती है और न ही राजनैतिक प्रशासन का उद्देश्य इस प्रकार का है। अत यह कहना कि वतमान सदभ मे आदिवासी समुदायो क राजनतिक सगठन शिथिल एव अकमण्य हो चुक हैं ठीक नही है।

सन्थाल आदिमजाति की आतरिक राजनैतिक व्यवस्था के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि अब्राहम लिंकन ने जिस प्रजातंत्र की व्याख्या (Government of the People for the People and by the People) की थी उसके साक्षात प्रमाण हमे इनमे दिखलाई देते हैं। इनके राजनैतिक सगठन की निम्नतम इकाई गाव होता है। गाव का मुखिया अथवा मांझी अपने कुछ अन्य ग्राम सहयोगियो के साथ पूरे गाव के सामाजिक जीवन का नियत्रक होता है। मुखिया अथवा ग्राम प्रमुख के अतिरिक्त परानिक, जोग मांझी, गोदेत तथा नायके कुछ अन्य अधिकारीगण होते हैं, जो कि विभिन्न व्यवस्थाओ के लिए उत्तरदायी होते हैं तथा माझी को सहयोग प्रदान करते

है। वह कभी आदिम गांव के ही वयोवृद्ध लोगों में से चुने जाते हैं।

कई गांव एक साथ मिलकर एक क्षेत्रीय राजनैतिक इकाई का निर्माण करते हैं। इसका प्रमुख देशप्रधान कहलाता है। यह सभी क्षेत्रीय इकाइयां सम्मिलित रूप से एक संघ बनाती हैं, जिसका अध्यक्ष परगना कहलाता है। ग्राम स्तर पर उपर्युक्त वर्णित पांच सहायक मिलकर ग्राम परिषद का निर्माण करते हैं, जिसे मोरेनहोर कहते हैं। गांव का मुखिया मांझी इसी परिषद के सहयोग एव सलाह से कार्य करता है। किन्हीं क्षेत्रों में गांव के सभी परिवारो के प्रमुख इस परिषद मे सम्मिलित होते हैं। गाव के सदस्यों से संबधित दिन प्रतिदिन के जीवन मे आपसी झगडो एव सामाजिक नियमो एव सांस्कृतिक निषेधो आदि से सबधित सभी निर्णय माझी द्वारा परिषद की सलाह से लिए जाते हैं। झगडो के निपटारे के बाद दोषी व्यक्ति अथवा कही-कहीं पर वादी एव प्रतिवादी दोनो निर्णायको को कुछ पैसा देते हैं। परपरा के अनुसार यह आवश्यक होता है और इस पसे का प्रयोग निर्णायक मनोरंजन एव खाने पीने मे करते है। गांव का माझी जहा एक ओर न्यायाधीश का कार्य करता है, वही गांव का सामाजिक नेतृत्व भी उसी मे निहित होता है। किसी भी विवाह अथवा मतक सस्कार मे माझी की उपस्थिति आवश्यक होती है तथा दिसबर के महीने मे वार्षिक पव, धार्मिक भोजो तथा सामूहिक रूप से देवी-देवताओं की पूजा का आयोजन एव व्यवस्था करना भी उसी का उत्तरदायित्व हाता है।

लगभग बीस गावो क सगठन का मुखिया देशप्रधान होता है। जिन मामलो मे दो अथवा दो से अधिक गांवो के सदस्य होते हैं उनकी सुनवाई देशप्रधान के समक्ष होती है। संबंधित गावों की परिषदो के सदस्य तथा मांझी इस कार्य मे देशप्रधान को सहायता प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त इस स्तर पर उन मसलो को भी देशप्रधान के समक्ष रक्खा जाता है जो कुछ गभीर प्रकृति के होते हैं तथा माझी स्वय अपनी असमर्थता प्रगट करते हुये उनकी सुनवाई की सिफारिश करता है। उदाहरण के लिए अविवाहित माता की सतानो की पैतृकता निर्धारण का कार्य देशप्रधान के समक्ष रखा जाता है। देशप्रधान का चयन सबधित गांवों के लोगो द्वारा किया जाता है और उसकी मृत्यु के उपरात ही उस पद पर दूसरा व्यक्ति नियुक्त किया जाता है।

परपरागत प्रथाओं के अनुसार बसंतोत्सव के उपरांत आदिमजातीय स्तर पर एक वार्षिक सामूहिक शिकार के उत्सव का आयोजन किया जाता है, जिसे लो-बीर-सैंद्रा कहते हैं। इस अवसर पर उन सभी मामलों का निर्णय

किया जाता है, जिन्हें देश प्रधान निर्णय के लिए प्रेषित करते हैं तथा संपूर्ण आदिमजाति के सामाजिक एवं धार्मिक नियमों से संबंधित निर्णय भी लिये जाते हैं। इस सम्मेलन को सन्थाल आदिमजाति का उच्चतम न्यायालय माना जाता है। अति गभीर सामाजिक महत्व के मामलों का निराकरण इसी संगठन के द्वारा होता है। बिटलहा जैसे सामाजिक प्रायश्चित्त एव सामाजिक बिष्कार सन का अधिकार भी इसी सगठन को होता है। इस अवसर पर किये जाने वाले न्यायिक विचार को सेंद्रा बीर विचार कहा जाता है। सभी देशप्रधानों की ससद की यह बैठक वार्षिक शिकार के उत्सव के अवसर पर पवित्र दामोदर नदी के किनारे किसी स्थल पर की जाती है। यहीं पर देशप्रधानो के निराकरणो से क्षुब्ध व्यक्ति भी अपना प्रतिवेदन करते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि आदिवासियो मे सामाजिक एकता को अक्षुण रखने एव परपरागत सामाजिक एव सास्कृतिक मूल्यो तथा नियमो को व्यवस्थित रखने की दिशा मे राजनतिक सगठनो की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। हमारा जीवन आधुनिक औद्योगिक एवं पाश्चात्य प्रभावों के फलस्वरूप निरतर इतना अधिक व्यक्तिवादी होता जा रहा है कि सामुदायिक दष्टिकोण एव चेतना के लिए हमारे समाज मे किसी विशिष्ट प्रयास की आवश्यकता नही रह गई है। परन्तु परपराओ से जकडे हुये तथा अपनी सास्कृतिक विशिष्टताओ के प्रति निष्ठावान आदिवासियो मे सामूहिक एकता एव परपरागत सामाजिक एव सास्कृतिक नियम आज भी महत्वपूर्ण हैं। उनकी आतरिक राजनैतिक व्यवस्थाय इन आवश्यकताओ की पूर्ति करती हैं।

मध्य प्रदेश मे बस्तर का क्षत्र आदिवासियो का केन्द्र है। वैसे गोंड आदिवासी सन्थाल के समान ही विस्तृत क्षेत्रो मे फैले हुये हैं और भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे बसने वाले लोगो मे भाषा एव सास्कृतिक आधार पर कुछ थोड़े बहुत अतर भी दिखलाई पडते हैं और इसी आधार पर इस महान आदिमजातीय समुदाय मे कई उपसमूह बन गये हैं। इनमे से एक उपसमूह बस्तर के माडिया गोंड है। इनमे भी सामान्य सास्कृतिक एव परपरागत अतरों के आधार पर दो प्रमुख समूह हैं। एक तो पहाडी माडिया जो कि अबूझमाड़ पहाडियो पर रहते हैं तथा दूसरे भैसो के सीग वाले माडिया जो कि इन्द्रावती नदी के दक्षिणी क्षेत्रो मे बसे हुये हैं। गोंड आदिमजाति के इन सभी उपसमूहो में राजनैतिक सगठन लगभग एक समान ही हैं। केवल कही कही पर कुछ ऐसे वर्ग, जैसे राजगोंड (जो कि अब हिन्दू जाति व्यवस्था के अंग बन चुके

हैं) को छोड़कर सभी अन्य वर्गों में राजनैतिक संगठन में एकरूपता मिलती है। बस्तर के राजा, जो कि एक हिन्दू हैं, में सभी वर्गों की समान रूप से आस्था है। बस्तर के राजा का कोई राजनैतिक नियंत्रण इन लोगों पर कभी रहा है, इसके प्रमाण नहीं मिलते। परन्तु आध्यात्मिक स्तर पर वे सदैव गोंड लोगो के श्रद्धा के पात्र रहे हैं। दशहरा के प्रमुख पर्व के अवसर पर प्रत्येक समुदाय अपनी अपनी लकडी लेकर राजा के महल मे इकट्ठा करता है और उनकी सवारी के लिए रथ बनाता है। दशहरे के दिन अत्यधिक उल्लास एव सजधज के साथ आदिवासियो के समूह एकत्रित होकर उनकी सवारी निकालते हैं। राजा गोड लोगो की श्रद्धा का प्रतीक है और उनका विश्वास है कि उनकी सारी आध्यात्मिक शक्ति राजा मे ही केन्द्रित है। यहा पर हम भसो के सीग वाले माडिया लोगो के राजनतिक सगठन का विवरण प्रस्तुत करगे।

भैसो के सीग वाल माडिया लोगो के प्रत्येक गाव के कुछ धार्मिक एव कुछ अय अधिकारी हाते हैं। एक ग्राम प्रमुख होता है जिसे साधारणतया पेडा कहते है एक उसका सहायक होता है जिसे कदकी कहते है तथा एक कोतवार होना है जा कि गाव मे होने वाले ज म एव मत्यु की सूचनाये पुलिस को देता रहता है। पास पडोस के कुछ गाव सगठित होकर एक परगना बनाते है जिसका मुखिया परगना माझी कहलाता है। प्रत्येक गाव की एक पचायत होती है जिसका अध्यक्ष गाव का मुखिया होता है। इसी प्रकार प्रत्येक परगना की एक परगना परिषद होती है जिसमे ग्राम पचायतो द्वारा दिये गये फसलो की सुनवाई होती है। बस्तर क्षेत्र के आदिवासियो की परपरागत ये सस्थाये इतनी अधिक प्रभावशाली थी कि ब्रिटिश शासन प्रणाली ने भारतीय दड विधान की कतिपय धाराओ मे आने वाले मामलो की व्यवस्था का अधिकार इ हे सौंप दिया था। इससे जहा एक आर इतने बडे क्षेत्र की व्यवस्था के आर्थिक भार से बचत हुई वहा दूसरी ओर किसी प्रकार के हस्तक्षेप न होने के कारण शाति एव व्यवस्था निश्चित हो गई। गाव के कोतवार को जो कि उनकी परंपरागत व्यवस्था का ही एक अग होता है पुलिस प्रशासन एवं आदिमजातीय प्रशासन के बीच की एक कडी मान लिया गया और पचायत के फसलो को कोतवार पुलिस मे रिपोर्ट करता था। पंचायत के फैसलो की सुनवाई अतिम रूप से परगना मांझी और उसकी परिषद के द्वारा की जाती है। इस परिषद मे उस परगना से सबधित ग्राम प्रमुखों मे से कोई चार प्रमुख होते हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक गाव में धार्मिक नेतृत्व वाले वयोवृद्ध लोग

भी होते हैं। वास्तव में धार्मिक अनुष्ठानो का नियंत्रण करने वाले पुरोहित एवं चिकित्सकों का प्रभाव ग्राम प्रमुख से कही अधिक होता है। धार्मिक अनुष्ठानो से सबधित व्यक्तियो मे मुखिया मूख गायता कहलाता है। कहीं-कहीं इसे परमा भी कहते हैं। किसी एक गण का धार्मिक मुखिया वडडाई कहलाता है। एक गांव में एक से अधिक वडडाई भी हो सकते हैं। पूर्वजों एवं मृतकों से सबधित सस्कारो को कराने के कारण वडडाई अत्यत महत्वपूर्ण माना जाता है। इस प्रकार से धार्मिक अनुष्ठानो से सबधित ये सम्मानित व्यक्ति तथा चुने हुये अन्य अधिकारीगण ही आदिमजाति के वास्तविक प्रबधक होते हैं। सरकारी अफसरो की तुलना मे इनकी आज्ञायें अधिक प्रभावशाली होती हैं। केवल बस्तर के महाराजा को ही सर्वोपरि माना जाता है। स्वतत्रता प्राप्ति के बाद से देश के अन्य भागो की भाति ही इस क्षेत्र मे भी राजकीय व्यवस्था के लागू हो जाने के बाद से इन परपरागत आदिमजातीय अधिकारी वर्ग के अधिकारो मे कमी अवश्य आई है परन्तु फिर भी सामान्य व्यवस्था मे उनका प्रभाव समाप्त नही हो पाया है।

अभी हाल की कुछ घटनायें तेजी से परिवर्तित हो रहे इस क्षेत्र की कुछ सामाजिक राजनतिक समस्याओ का परिचय देती हैं। स्वतत्रता प्राप्ति के बाद से इस क्षत्र मे औद्योगिक गतिविधिया बढी है और इन औद्योगिक सस्थानो मे जहा श्रमिको के रूप में इस क्षेत्र के आदिवासियो को काम के अवसर प्राप्त हुये वहा बडी सख्या मे विभिन्न स्तरों मे काम करने वाले लोग बाहर से भी आकर बसे हैं। घरेलू काम काज के लिए बाहर से आये इन लोगो ने बडी सख्या मे आदिवासी स्त्रियो को काम पर रक्खा। अपने परपरागत सामाजिक मूल्यो के अनुरूप विवाह से पूर्व लैंगिक सबधो मे इनकी स्वतत्र प्रवत्ति को बाहर से आकर बसे लोगो ने व्यभिचार का स्वरूप दे दिया। परिणामस्वरूप एक बडी सख्या में ऐसी स्त्रियो का एक वर्ग बन गया जो अविवाहित मातायें बन चुकी थी तथा अपने समाज मे उनका कोई स्थान नहीं रह गया था और अपने मालिको के द्वारा परित्यक्त की जा चुकी थीं। परपरागत नियमो के अनुसार आदिवासी उन्हे स्वीकार नही करना चाहते थे। दूसरी ओर इस परिस्थिति ने औद्योगिक क्षत्र मे भी एक विस्फोटक एवं क्रांतिकारी परिस्थिति को जन्म दिया क्योंकि अधिकांश श्रमिक जो कि आदिवासी ही थे इसे अपना अपमान समझ रहे थे। ऐसी परिस्थिति मे बस्तर के तत्कालीन जिलाधीश ने आदिवासियो से अपने सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार तथा उनकी पचायतो के प्रभुत्व का लाभ उठाते हुये उनका विश्वास प्राप्त करके क्षेत्र मे

एक आदिवासी महापंचायत का गठन किया तथा जहां एक ओर उन स्त्रियों को उनके समुदायों में सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने के प्रयत्न किये, वहीं दूसरी ओर ऐसे आदेश जारी किये कि ऐसी परिस्थिति मे सबंधित व्यक्ति को इन लड़कियों से विवाह कर लेना अनिवार्य हो गया। वास्तव मे अब परिस्थिति कुछ जटिल सी हो गई है। एक ओर तो सरकारी एव अर्धसरकारी अफसरों का वर्ग है दूसरी ओर राजनैतिक पार्टियो की गतिविधियो के परिणामस्वरूप विधान सभा एव ससद सदस्यो का नेतावर्ग और तीसरी ओर इनकी परपरा गत राजनैतिक व्यवस्था के अधिकारियो का वर्ग है। परपराओ मे विश्वास एव पुरातन मूल्यो मे आस्था समाप्त नही हो सकी है। परन्तु नवीन व्यवस्थाओ एव नये नेतृत्व की वास्तविकताओ का तिरस्कार करने का साहस भी नही है। राजनैतिक स्वार्थ एव चुनाव की गदी गतिविधियो ने इनकी परपरा गत एकता एवं मूल्यो को नष्ट करना आरभ कर दिया है। उपर्युक्त तीनो प्रकार के वर्गों मे एक प्रकार के शक्ति सघष एव प्रतिद्वदिता ने युगो से चले आ रहे शातिमय जीवन मे एक उथल पुथल पैदा कर दी है। परन्तु फिर भी सामान्य दैनिक जीवन मे उनके अपने परपरागत नियम एव कानून किसी सीमा तक सशक्त बने हुये हैं। उनकी मान्यताओ का तिरस्कार कर पाना साधारण तया सभव नही हो पाता। प्रशासन को भी शाति व्यवस्था को ध्यान मे रखते हुये कही कही अपने कानून और उनके परपरागत नियमो के बीच समझौता करना पड़ता है। हटन ने इस सबध मे विचार व्यक्त करते हुये कहा था कि हम सभ्य लोगो के कानून और आदिमजातियो की परपरागत कानूनी व्यवस्था मे मूल्यो का महान अतर है। जो कार्य हमारी नजर मे जुर्म है, वही कार्य आदिवासियो के अपने मूल्यांकन मे जुर्म नही भी हो सकता है। हमारा दड विधान शायद उतना प्रभावशाली कभी भी नही हो सकता, जितना कि आदि वासियो का परपरागत दड विधान है। सभव है कि हम नैतिक दृष्टिकोण से अधिक मानवतावादी दड विधान को उचित समझते हुये कही-कहीं पर उनके अमानुषिक दड विधान की पुष्टि न कर सकें परन्तु मूल्यो के इस अंतर को शक्ति से समाप्त करना और अपने कानून को बल पूवक थोपना हमारी भूल होगी। यद्यपि हटन का यह कथन ब्रिटिश प्रशासन काल के सदर्भ मे था, फिर भी यह आज भी उतना ही सत्य है। पूर्वांचल के आदिवासी प्रदेशो मे व्याप्त राजनैतिक असतोष का यही एक मुख्य कारण रहा है और भारत सरकार को उस क्षेत्र का राजनैतिक पुनर्गठन करने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

दक्षिण भारत के आदिवासियों मे राजनैतिक संगठन

दक्षिण भारत हमारे देश के आदिवासियों का एक अन्य महत्वपूर्ण केन्द्र है। उपर्युक्त वर्णित दोनों क्षेत्रो की तुलना में इस क्षेत्र का अतिरिक्त महत्व है। क्योंकि इस क्षेत्र मे हमें कुछ ऐसे आदिवासी समुदायों के उदाहरण मिलते हैं जिनकी गणना ससार के अत्यत पिछडी हुई आर्थिक व्यवस्था वाले लोगों मे होती है। जहा एक ओर इस क्षेत्र मे कादर इरुला एव चेंचू जैसे संग्रहण पर आधारित अथव्यवस्था वाले समदाय मिलते है वही दूसरी ओर पूर्णरूप से पशुपालन पर आधारित अथव्यवस्था वाले टोडा लोगों के उदाहरण भी मिलते हैं। अन्य दो क्षेत्रो मे शिकार अविकसित एव अधविकसित खेती बाडी तथा औद्योगिक सस्थानो मे काम के अवसरो वाली अर्थ व्यवस्थाओ के सदभ मे राजनैतिक गठनो के उदाहरण प्राप्त हुये। परन्त सग्रहणशील अथव्यवस्था कुछ ऐसी परिस्थितियो को ज म दती है कि उनके सदभ मे उपर्युक्त वर्णित क्षेत्रो की आदिमजातियो की भाति अति केन्द्रित अथवा केन्द्रित प्रणालियां पनप ही नही सकती। अत हम दक्षिण भारत के कुछ ऐसे ही आदिवासियो पर विचार करेंगे।

अण्डमान द्वीप समूह के आदिवासी भाषा एव सास्कृतिक अतरो के आधार पर कई समूहो में बटे हुये है। छोटे अण्डमान के निवासी ओज इनमे से एक हैं। बडे अण्डमान द्वीप के आदिवासी पोट ब्लेयर की स्थापना के बाद से बहुत कुछ सभ्यता के सपर्क मे आ चके हैं किन्तु छोटे अण्डमान के निवासी ओज, दक्षिणी अन्दमान के निवासी जरावा एव सेण्टीनेल द्वीप के निवासी आज भी पिछडेपन का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस द्वीप समूह के आदिवासी छोटे छोटे स्थानीय समूहो मे विभक्त है। प्रत्येक समूह के शिकार एव भ्रमण का क्षेत्र निश्चित होता है। प्रत्येक स्थानीय समूह मे आठ दस परिवार से अधिक नही होते तथा प्रत्येक समूह का एक मुखिया होता है। अपने भ्रमण क्षेत्र मे प्रत्येक स्थानीय समूह के लोग एक स्थाई कम्प बना कर रहते हैं। इसके मध्य मे एक बडी गोलाकार झोपडी होती है जो उनका सामुदायिक केन्द्र होता है। जब वे शिकार अथवा जगल से सग्रह करने के लिए भ्रमण पर निकलते हैं तो अस्थाई झोपडिया बना लेते हैं। कभी कभी शिकार अथवा उत्सवों के अवसर पर ये स्थानीय समूह सगठित भी हो जाते हैं। परन्तु साधारणतया प्रत्येक स्थानीय समूह स्वतत्र जीवन व्यतीत करता है तथा आपस में ही अपने मुखिया के माध्यम से अपनी आंतरिक समस्याओ का समाधान कर लेता है।

संपूर्ण आदिमजाति के स्तर पर कोई संगठन नहीं होता। परन्तु वे स्थानीय समूहों के सदस्यों के मध्य किसी प्रकार के विवाद के अवसर संबंधित समूहों के मुखिया तथा आस पड़ोस के समूहो के मुखिया आपस में विचार करके समाधान कर लेते हैं। यद्यपि अजनबी लोगों के लिए अण्डमान द्वीपवासी सदैव भय का कारण बने रहे हैं, परन्तु छोटे छोटे समूहो मे विभक्त होने के बावजूद भी उनमें आपसी संघर्ष के अवसर बहुत कम आते हैं।

स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति मे एक केन्द्रीय सत्ता की उपादेयता नही रह जाती। इस द्वीप समूह के एकांत मे सीमित इन आदिवासियो को न तो बाहरी अन्य आदिमजातियो का भय है और न ही आपसी सघर्ष के अभाव मे आतरिक व्यवस्था का प्रश्न ही उतना जटिल है। अण्डमान द्वीप समूह के जंगल उन्हें समुचित रूप से खाद्य सामग्री प्रदान कर देते हैं। आर्थिक जीवन अत्यन्त छोटे छोटे स्थानीय समूहो मे विभक्त होने के कारण सगठनात्मक समस्याय भी उतनी जटिल नही है। अत प्रत्येक स्थानीय समूह स्वयं मे एक लघु राजनैतिक व्यवस्था के रूप मे कार्य करता है।

दक्षिण भारत मे नीलगिरि पर्वतीय क्षेत्र के निवासी आदिवासियो में बडागा कोटा तथा टोडा प्रमुख हैं। इनमे से टोडा आदिवासी पशुपालक हैं और उनका सारा आर्थिक जीवन भैसो को पालने पर आधारित है। पशुपालन की आर्थिक व्यवस्था लगभग उसी प्रकार की परिस्थितियो एव समस्याओ को जन्म देती है जैसी कि सकलन की अर्थव्यवस्था मे पाई जाती हैं। पशुपालक आदिमजातियो मे भी अपने पशुओ को साथ लेकर चारे एव पानी की सुविधा के अनुसार इधर उधर भ्रमण करना आवश्यक हो जाता है। यह भी अपेक्षाकृत छोटे छोटे समूहो मे भ्रमण करते हैं। यद्यपि इनके गाव जहां वे स्थाई रूप से रहते हैं, सकलन की अर्थव्यवस्था वाले लोगो की अपेक्षा अधिक सगठित होते हैं परन्तु छोटे छोटे समूहो मे भ्रमण करते रहने के कारण आतरिक समस्यायें तथा सघर्ष सीमित हो जाते हैं। साथ ही जब कुछ ऐसी परिस्थितिया हो जिनमे बाह्य आक्रमण का भी भय न हो तो ऐसी अवस्था में किसी प्रकार की केन्द्रीय सत्ता के विकास की संभावना अत्यत क्षीण हो जाती है। यही बात हम पशुपालक टोडा आदिवासियो मे भी पाते हैं। नीलगिरि पहाड़ियो मे रहने वाले पड़ोसी बडागा तथा कोटा लोगों से इनके सबंध केवल मैत्रीपूर्ण ही नहीं हैं, बल्कि आर्थिक क्षेत्र मे परस्पर सहयोग का एक अनुकरणीय उदाहरण हैं। अत किसी प्रकार के बाह्य आक्रमण अथवा शत्रु का भय उन्हे कभी भी नहीं रहा। दूसरी ओर अपने आंतरिक जीवन में भी टोडा लोग इतने शांतिप्रिय,

धर्मभीरु तथा परंपरावादी हैं कि संभवत आपसी संघर्ष वैमनस्य आदि की समस्यायें कभी-कभी ही समाज के सामने आती हो। परिणामस्वरूप एक गठित एवं केन्द्रीय राजनैतिक संगठन का अभाव पाया जाता है। उनकी शांतिप्रियता का एक महत्वपूर्ण प्रमाण यही है कि युद्ध स्तर पर काम मे आने वाले हथियारो का टोडा पार्थिव सस्कृति मे नितात अभाव है।

टोडा समाज मे प्रत्येक परिवार का एक मुखिया होता है। वास्तव में परिवार का मुखिया ही व्यक्तिगत स्तर पर एक ऐसा व्यक्ति है जिसका सामाजिक महत्व के साथ-साथ राजनैतिक महत्व भी होता है। सपूर्ण आदिमजाति अधभागो मे विभाजित है और दोनो अधभाग अतर्विवाही होते हैं जिनमे से एक अधभाग टाथर दूसरे भाग तेवाली की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है। सामाजिक सगठन मे इस द्वैध व्यवम्था का कोई राजनैतिक महत्व नही है। यद्यपि आदिमजाति के दोनो भाग दा जातियो के रूप मे हैं फिर भी किसी भी भाग का कोई औपचारिक सगठन नही है। इसी प्रकार से प्रत्येक अर्धभाग बहिर्विवाही गणो मे विभक्त होता है। टाथर उप विभाग मे बारह गण तथा तेवाली उप विभाग मे छह गण होते हैं। पर तु गण का मुखिया भी राजनतिक दष्टि से कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति नही माना जाता। गण का मुखिया एक अनौपचारिक रूप से व्यक्तिगत गुणो एव क्षमताओ के आधार पर निर्धारित व्यक्ति होता है। परन्तु सपूर्ण आदिमजाति के स्तर पर किसी एक व्यक्ति का राजनतिक महत्व नही माना जाता है। केवल पाच सदस्यो वाली परिषद ही एक ऐसी सस्था है जो पूरी आदिमजाति की व्यवस्था को नियन्त्रित करती है। इसे टोडा लाग अपनी भाषा मे नईम कहत हैं। कुछ विशेष गणो के प्रतिष्ठित व्यक्ति ही मिलकर इस परिषद का निर्माण करते हैं। इसका एक सदस्य तेवाली उप विभाग के किसी गण से चुना जाता है तथा अन्य तीन सदस्य टारथर उप विभाग के विशिष्ट गणो से चुने जाते हैं। पाचवा सदस्य बडागा आदिमजाति का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है जो कि परिषद मे तभी बैठता है जबकि टोडा तथा अन्य किसी पडोसी आदिमजाति से सम्बन्धित मामले पर विचार करना होता है। परिवारो व्यक्तियो एवं गणों के परस्पर मामलो का निपटारा करने के अतिरिक्त टोडा आदिमजाति की इस परिषद का सस्कारो की व्यवस्था करने का भी महत्वपूर्ण कार्य होता है। वास्तव में टोडा जीवन रूढियो एव सस्कारो से इतना जकडा हुआ है तथा सस्कारों की इतनी अधिकता है कि उन्हे व्यवस्थित एव नियन्त्रित करने के लिए किसी सत्ता का होना आवश्यक है। अपने धार्मिक जीवन एव सस्कारों से टोडा को इतनी

फुरसत ही नहीं मिलती कि वह किसी अपराध की योजना में अपना समय लगा सके। अत उनकी परिषद को अपराधों का निर्णय करने का अधिकार भी नहीं है और ऐसे अवसर भी बहुत कम आ पाते हैं। शिशु हत्या, अथवा कुष्ठ या आदिमजाति के किसी व्यक्ति की हत्या करना अपराध नहीं माना जाता। अन्य हत्याओं का वैसे तो अभाव ही पाया जाता है, परन्तु सामान्यत ऐसा होने पर परिषद उस पर विचार करने में असमर्थ होती है। संस्कारों की अवहेलना, देवी देवताओं का तिरस्कार आदि जघन्य पाप की श्रेणी में आते हैं। इन प्रवृत्तियों के नियंत्रण के लिए परिषद अत्यन्त क्रियाशील रहती है।

दक्षिण भारत में केरल प्रदेश छोटी बडी अनेक आदिमजातियो का केन्द्र है। अपने आर्थिक पिछडेपन मे विश्वविख्यात कादर आदिवासी भी इसी क्षेत्र के निवासी हैं। वैसे अब इनमे से अधिकाश आदिमजातिया कुछ खेती बाडी भी करने लगी हैं परन्तु इनमें अभी भी भ्रमणशील जीवन व्यतीत किया जाता है तथा बेची जाने वाली और निजी खाद्यपूर्ति वाली सामग्रियों का जंगलो से संग्रह किया जाता है।

केरल की सभी आदिमजातियो में मुखिया अथवा मुप्पन तथा उसकी पत्नी मुप्पाथी को सम्मान दिया जाता है तथा आदिमजाति के आंतरिक मामलो मे उनके निर्णयो को मानते हैं। प्रत्येक आदिमजाति मे वरिष्ठ लोगो की एक परिषद होती है तथा मुखिया उसका सभापति होता है। अधिकांशत मुखिया का पद वंश परम्परा के आधार पर निर्धारित होता है।

भारतीय आदिमजातियो मे राजनैतिक व्यवस्थाओ एव विविध सगठन स्वरूपो का आभास उपर्युक्त उदाहरणो एव वर्णनो से भली भाति हो जाता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, आदिवासी राजनैतिक व्यवस्थायें उनके बृहद् सामाजिक सगठन का एक महत्वपूर्ण अग होती हैं तथा उनका सचालन आधुनिक समाजो मे प्राप्त विशिष्ट राजनैतिक सस्थाओं के द्वारा नही होता। इसीलिये उनके बृहद् सामाजिक सगठन के सदर्भ से उन्हे अलग करके उनके राजनैतिक सगठन का अध्ययन करना कठिन ही नहीं वरन् अवाछनीय भी है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों मे बसने वाले आदिवासियो के विभिन्न पर्यावरण के अनुरूप उनके सामाजिक संगठनो के प्रतिरूप पाये जाते हैं और उसी के अनुसार अपनी आंतरिक समस्याओ एव बाह्य प्रभावो से समन्वय स्थापित करने के प्रयत्न में उन्होंने अपने राजनैतिक गठन निर्धारित किये हैं। अर्थ व्यवस्था एक अन्य प्रधान कारक है जो कि राजनैतिक गठन का स्वरूप निश्चित करती है। आदिवासियों की अर्थव्यवस्था अधिकांशत उनकी भौगो-

लिक परिस्थितियो एव पर्यावरण पर ही निभर करती है। प्रकृति द्वारा निश्चित इन सीमाओ के अतगत केवल सगठनात्मक अतर ही समान क्षेत्र एव समान परिस्थितियो मे निवास करने वाली आदिमजातियों मे पाये जा सकते हैं। सामान्यत उनका जीवन आर्थिक दशाओ की समरूपताओ के कारण एक समान प्रतिरूप पर ही आधारित होता है। आर्थिक जीवन की आवश्यकताय ही उन्हे कुछ निश्चित आधारो पर सगठित होने के लिये बाध्य करती है। ऊपर दिये गय उदाहरणो मे हमने देखा कि जहा उत्तर पूर्वी क्षत्रा की आदिमजातिया मे राजनतिक व्यवस्थाओ की प्रवत्ति एक सशक्त केंद्रीय सत्ता वाली परिषदा अधिनायको एव अत्यन्त प्रभावशाली जातिप्रमुखो की आर है वहा मध्य भारत की आदिमजातियो के अपेक्षाकृत सरल आर्थिक जीवन म अधिक स्वतन्त्रता एव प्रजातन्त्रात्मक आधार पर गठित परिषदो क क्रम विभिन्न स्तरा पर पाये जाते हैं तथा इन परिषदा के चयन म औपचारिकता की मात्रा म वद्धि हो जाती है। परन्तु दाना क्षत्रा म ग्राम ही राजनतिक एकता एव गतिविधियो का केन्द्र बिन्दु हाता है। परन्तु दक्षिण भारत की आदिमजातिया मे सग्रहण एव पशुपालन पर आधारित अथव्यवस्था म आर्थिक परिस्थितिया आदिमजाति को छोटे छाटे स्थानीय समूहा म विभक्त होने पर विवश कर देती है। परिवार एव गण राजनतिक दष्टि स अधिक महत्वपूण हा जात है। प्रत्येक स्थानीय समूह क भ्रमण एव सकलन का क्षत्र सुनिश्चित हाता है। अत स्थानीय समूह एव उनके क्षत्र एक लघु साम्राज्य क प्रतिरूप हात हैं। एक समूह द्वारा दूसरे समूह के आर्थिक क्षत्र का अतिक्रमण ही साधारणतया परस्पर सघर्षो एव विवादा का कारण हाता है। एम अवसरा पर ही इन विवादो के निराकरण के लिय सपूर्ण आदिमजातीय स्तर पर किसी केन्द्रीय व्यवस्था की आवश्यकता महसूस हाती है। सपूर्ण राजनतिक गतिविधिया स्थानीय समूहा के स्तर तक ही अधिकतर सीमित रहती है। आदिमजातीय एकता का आभास हमे स्थानीय समूहा क स्तर पर ही हा पाता है। ये स्थानीय समूह गण के रूप मे भी हा सकते है अथवा केवल कुछ परिवारो का एक छोटा सा समूह हो सकते हैं जसा कि अडमान द्वीप समूह के निवासिया मे वर्णन किया गया है। सामाजिक एव आतरिक व्यवस्था के नियन्त्रण का अधिकांश दबाव इन्ही स्थानीय समूहो पर ही पडता हे। फलत ये स्थानीय समूह ही इन आदिम जातियो मे राजनैतिक सगठन की इकाइया बनाते हैं।

आधुनिक समाजो मे हमे कुछ भिन्न स्थिति मिलती है। आज के

आधुनिक समाज एवं उनकी आर्थिक व्यवस्थायें भौगोलिक दशाओ से सीमित नहीं हैं अत उनके राजतन्त्र पर आर्थिक परिस्थितिया कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नही डाल पाती। अतर्राष्ट्रीय सपक व्यापार विनिमय आदि ने आधुनिक समाजो मे प्राकृतिक सीमाओ को बहुत निष्क्रिय बना दिया है। अत राजनैतिक गठन का स्वरूप क्या हो यह सम्बन्धित देश के लोगो की स्वेच्छा पर निर्भर करता है। यहा तक कि आधुनिक व्यवस्थाओ मे आज राजनैतिक व्यवस्थायें देश की आर्थिक नीतियो का निर्धारण करती हैं। परन्तु फिर भी अतर्राष्ट्रीय क्षत्र मे हम यही देखते हैं कि आर्थिक स्वार्थों के आधार पर ही राजनतिक सपक स्थापित किये जाते हैं अथवा तोडे जाते है।

भारतीय आदिमजातिया अपने राजनैतिक जीवन मे आज एक नये मोड पर आ खडी हुई है। आज की परिवर्तित परिस्थितियो मे हमारे देश मे सभ्य एव आदिमजातीय वर्गों के बीच हम और वे का अतर सिमटता जा रहा है। जो नीतिया हमने निर्धारित की है उनके अन्तगत आदिवासी समुदाय अधिक दिनो तक सपूर्ण राष्ट की राजनतिक गतिविधियो से अपने को अलग नही रख सकते। नागा मिजो खासी तथा गारो लोगो का राजनतिक असतोष समाप्त हो चुका है। सभी क्षेत्रों के आदिवासी समान रूप मे देश की राजनतिक प्रक्रिया म भाग ले रहे हैं। परन्तु इसका तात्पय यह कदापि नही कि हम उनके सास्कृतिक मूल्या का तिरस्कार कर रहे है। आर्थिक उन्नति एवं उन्नत जीवन के अवसर उन्हे तभी प्राप्त हो सकते है जब वे सपूर्ण राष्ट्र स एकाकार होकर उसकी उन्नति एव उसके कल्याण का उद्देश्य लेकर चल। परन्तु जहा हम आदिवासियो स यह अपेक्षा करत है वही हमारा यह उद्देश्य कदापि नही है कि वे अपनी परम्पराओ और निष्ठाओ को त्याग द। उन्हे राष्ट्रीय हित मे एव स्वय अपने हित मे परिवर्तिन होना है। परम्परागत आदिमजातीय राजनैतिक एकता का पतन अवश्यभावी है। यह एक हष का विषय है कि इन परिस्थितियों ने सघष को जन्म नही दिया बल्कि प्रत्येक स्थान पर आदिवासी जनता मे जागरूकता के चिह्न दिखाई पड रहे हैं। नई राजनैतिक चेतना ने आदिमजातीय विषमायोजन (Mal adjustment) को दबाकर एक नये दृष्टिकोण को जन्म दिया है। इस नये दृष्टिकोण को ध्यान मे रखते हुये केन्द्रीय सरकार ने आदिवासी जनसख्या प्रधान भारत के उत्तर पूर्वी क्षत्र का राजनैतिक पुनर्गठन किया है जिसका आदिवासियो ने स्वागत किया है।

6

आदिवासी जन आंदोलन एवं क्रांतियाँ

मनुष्य ने सदैव अभाव आतंक अत्याचार एवं उत्पीडन के विरुद्ध संघर्ष किया है। मानव इतिहास शक्तिशाली एवं प्रगति शील वर्गो द्वारा दलित तिरस्कृत एवं आर्थिक रूप से पिछडे हुये लोगो पर किये गये अत्याचार की साक्षियो से भरा पडा है। मनुष्य स्वभाव से ही स्वतंत्रता प्रिय है। किसी भी रूप मे स्वतंत्रता पर नियंत्रण के विरुद्ध उसमें आवेश उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यह बात मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियो मे भी देखी जाती है। अत इसे मनुष्य जाति की

ऐतिहासिक उपलब्धि ही मानव का इतिहास है। प्रागैतिहासिक युग से लेकर आधुनिक सभ्यता तक का मानव इतिहास ऐसे ही संघर्षों का एक अत्यंत विस्तृत विवरण मात्र है। जिसे कालक्रम में संजोकर प्रस्तुत किया गया है। प्रागैतिहासिक काल में प्रकृति से उत्पीड़ित मानव का संघर्ष प्रमुख रूप से प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध ही रहा होगा, ऐसा अनुमान करना अस्वाभाविक न होगा। परन्तु जैसे जैसे हम सभ्यता के समीप आते हैं वैसे वैसे तकनीकी प्रगति के संदर्भ मे जहा प्राकृतिक उत्पीडन स्वयमेव क्षीण होता गया, वहां प्रबुद्ध मानव ने परस्पर असंख्य भेदभावों के साथ मनुष्य के ही द्वारा मनुष्य के उत्पीडन को जन्म दिया। परन्तु मानव स्वभाव इस नये प्रकार के उत्पीड़न के विरुद्ध भी उसी प्रकार से प्रतिक्रिया करता रहा। आधुनिक सभ्यता के इस अभिशाप से आदिवासी भी मुक्त न रह सके। इस अध्याय मे हमने भारतीय आदिवासियो मे ऐसी ही प्रति-क्रियाओ के परिणामस्वरूप उत्पन्न विद्रोहों एवं क्रांतियों के प्रतिरूपों की समीक्षा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

भारतीय आदिवासियो की सामाजिक-सास्कृतिक तथा राजनैतिक पृष्ठभूमि

ससार मे कोई भी देश अथवा क्षेत्र ऐसा नही है जहाँ किसी सघष अथवा विद्रोह के बिना ही लोगा की स्वतत्रता सुरक्षित रह सकी है। इसमे कोई सदेह नही कि जहा देश और काल मे परिवतन के साथ साथ स्वतत्रता के मानदडो मे अ तर रहा वही अत्याचार एव शोषण की गतिविधिया भी परिवर्तित हाती रही। समय समय पर नये नये प्रकार के भेदभावो एव द्वेषो ने ज म लिया तथा उनके अनुरूप सघर्षों एव ‍ आदोलनो के नवीन स्वरूप सामने आते गये।

भारतवष मे ब्रिटिश राजतन्त्र की स्थापना स पूव देश कभी भी एक राजनतिक इकाई के रूप मे नही रहा। सास्कृतिक विविधताओ से परिपूण यह भूखड सदव अनेक राज्यो एव साम्राज्यो म विभक्त रहा। सभवत इस देश के आदिवासियो का पहल कभी भी दश की राजनतिक गतिविधियो का आभास नही हुआ। ब्रिटिश सामाज्य की स्थापना म सपूण देश पर राजनतिक प्रभुत्व स्थापित करने की भावना का एक महत्वपूण स्थान रहा। यही कारण है कि सदियो स उपेक्षित देश के आदिवासिया की गतिविधियो का इतिहास लगभग अधकारमय है। ब्रिटिश शासनकाल म अग्रजा का ध्यान सभ्यता से दूर निजन वना तथा पहाडो की चोटिया पर रहने वाले आदिवासियो की ओर भी गया। उ हाने इ ह भी अपन राजनतिक प्रभुत्व मे लाने तथा इनसे आथिक लाभ उठाने के प्रयास किये। साथ ही देश मे अग्रेजी शासन की विधिवत स्थापना के उपरात पाश्चात्य देशा से ईसाई मिशनरियो ने भी भारतवष की ओर अपना यान आकर्षित करना शुरू किया। यहा पर उ होने सभ्य समाजा की अपक्षा उपेक्षित आदिवासी समुदायो को धर्म प्रचार एव धम परिवतन के काय के लिये अधिक अनुकूल पाया। इ ही परिस्थितियो म आदिवासियो का सपक सभ्य समाज के वर्गों से होने लगा। इससे पूव देश की राजनतिक गतिविधियो से आदिवासी अधिकाशत अप्रभावित रहे। पर तु इन सपर्कों के उपरात ही समय समय पर उ हे अनादिकाल से सुरक्षित अपनी स्वतत्रता मे हस्तक्षप के अनुभव होने लगे। यही कारण है कि आदिवासियो के कुछ गिने चुने आदोलनो को छोडकर लगभग सभी ब्रिटिश शासन काल मे हुये। यदि ब्रिटिश सामाज्यवाद के विरोध को स्वतंत्रता सग्राम का मूल भावनात्मक पक्ष माना जाये तो हम यह कह सकते हैं कि देश के अन्दर

स्वतंत्रता संग्राम का सूत्रपात आदिवासियों से ही हुआ। तथापि यहाँ यह उल्लेख कर देना कदाचित अनुचित न होगा कि इन आन्दोलनों का उद्देश्य वैसा विशाल न होकर अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करना मात्र था।

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से पूर्व निर्जन अस्वास्थ्यकर एवं आवागमन के साधनों से रहित क्षेत्रों मे रहने के कारण आदिवासियो का देश के अन्य लोगो से सम्पर्क लगभग नगण्य ही था। हमारे अधिकांश आदिवासी घने जगलो एव पर्वतीय प्रदेशो के निवासी हैं। अंग्रेजो का ध्यान देश की अमूल्य वन सम्पदा एव खनिज सम्पदा की ओर आकर्षित हुआ। इस सम्पदा का लाभ उठाने की लालसा से वे इन क्षेत्रो मे बसने वाले आदिवासियों के सम्पर्क मे आये तथा इस अपार सम्पदा का निरतर उपभोग करते रहने के लिये और अपनी श्रेष्ठता का परिचय देने के लिये उनके लिये किसी न किसी रूप मे राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करना आवश्यक हो गया। यद्यपि ईसाई मिशनारियो का उद्देश्य कवल धम प्रचार एव धर्म परिवर्तन ही था, किन्तु वे अग्रेजो के कृपापात्र थे तथा उनका सहयोग उनके राजनतिक प्रभुत्व की स्थापना म महत्वपूण था। बिहार मध्य प्रदेश आन्ध्र प्रदेश एव उडीसा के अधिकाश आदिवासी क्षत्र खनिज सम्पदा से परिपूर्ण है। इसका उपयोग करने के लिये अग्रजो को इन क्षत्रो मे जाना पडा और आदिवासियो के जीवन मे हस्तक्षप करने की आवश्यकता हुई। इन सभी आर्थिक लाभो को साथक बनाने के लिये एव अपना राजनैतिक प्रभुत्व बनाये रखने के लिये उन्हें इन क्षेत्रो मे आवागमन के साधनो की सुविधा प्रदान करनी पडी। इन सुविधाओ के सुलभ होते ही अपने आर्थिक लाभ के दृष्टिकोण से छोटे मोटे व्यापारी कर्ज देन वाले महाजन तथा कृषको के रूप मे अन्य सम्प्रदायो के लोग भी आकर इन क्षेत्रो में बसन लगे तथा आदिवासियो के सम्पक मे आने लगे। अपना परम्परागत जीवन व्यतीत करने वाले आदिवासियो के आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक पिछडेपन एवं उनकी अशिक्षा का लाभ उठाकर इन बाह्य तत्वो ने उनका आर्थिक शोषण करना शुरू कर दिया। अग्रजो तथा इन बाह्य तत्वों के उद्देश्यों मे समानता थी अत ब्रिटिश प्रशासन ने उन्हे प्रोत्साहित किया और इसके बदले मे अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिये इन्हें अपना साधन बना लिया। अंग्रेजी प्रशासन ने आदिवासियो की राजनैतिक स्वतत्रता मे हस्तक्षेप किये। अन्य बाह्य तत्वो ने उनका आर्थिक शोषण करना शुरू कर दिया। ये लोग अंग्रेजी कानून की सहायता से आदिवासियों की भूमि पर अपना आधिपत्य जमाने लगे। परिणामस्वरूप आदिवासी भूमिहीन

मजदूरों की अवस्था मे होते गये। स्वयं भूस्वामी बन कर, कानूनी तौर पर जमींदार बनकर उन्होंने अंग्रेजों को भी अपने आर्थिक लाभ में साझीदार बनाया। ईसाइयों ने धर्मपरिवर्तन की गतिविधियों के संदर्भ में उनके सांस्कृतिक जीवन में हस्तक्षेप किये। इन सभी प्रकार के बाह्य तत्वो के सम्पर्कों से जहाँ एक ओर उनका आर्थिक शोषण होता रहा वहां दूसरी ओर उनमे अपने परम्परागत सांस्कृतिक जीवन के प्रति हीनता की भावना जागृत होने लगी। बाह्य तत्वो में अधिक संख्या हिन्दुओ की ही थी। हिन्दुओ का सांस्कृतिक जीवन और विशेष रूप से जातिप्रथा के रूप मे उनकी सामाजिक व्यवस्था आदिवासियों का आकर्षण बन गई। इन बाह्य तत्वो की आर्थिक समृद्धि एव श्रेष्ठता ने उनके समक्ष जीवन के नये आयाम प्रस्तुत किये। उन्हें ऐसा आभास होने लगा कि सदियो से चली आ रही अभावपूर्ण अवस्था एव उपेक्षा का एकमात्र कारण उनकी परम्परागत सस्कति ही है। सम्पर्क मे आने वाले सभी बाह्य तत्व उनके परम्परागत सास्कतिक जीवन को हेय समझते थे एव उन्हे उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। आदिवासी यह अनुभव करने लगे कि अपनी परम्पराओं का परित्याग करके ही वे अपनी कठिनाइयो से मुक्ति पा सकते हैं। दूसरी ओर ईसाई मिशनरियो ने अपने धम का प्रचार करते हुये नैतिकता के नये आदश उनके समक्ष प्रस्तुत किये तथा इन आदर्शों को अपना लेने पर उनके सभी कष्टो को दूर करने का प्रलोभन दिया। ये परिस्थितियां आदिवासियो को भ्रमित करने के लिये पर्याप्त थी। जो लोग ईसाई धर्म को अपना चुके थे उन्हे जीवन की विशेष सुविधाय सुलभ होती जा रही थी और आदिवासी समुदायो मे ही वे एक नये वग के रूप मे उभरकर सामने आते जा रहे थे। जि हे केवल अपनी परम्पराओ मे ही परिचय था उनके समक्ष विकल्प प्रस्तुत हो चके थे। उनका आत्मविश्वास क्षीण होने लगा। उन्हे अपने धार्मिक विश्वासो और अपने देवताओ की शक्ति एव प्रभाविकता पर सदेह होने लगा। हि दू सस्कति की ओर आकष्ट व्यक्तियों का भी एक वग बनने लगा। धम की ओट मे राजनैतिक तत्वो ने भी आश्रय लिया। परिणामस्वरूप समय-समय पर अराजकता एव आंदोलनो की परिस्थितियां उत्पन्न होती रही। बाह्य तत्वो ने उनके आकर्षण, अभाव, एवं अशिक्षा का पूरा पूरा लाभ उठाने के प्रयत्न किये। कषको एवं जमींदारों ने धीरे धीरे उनकी भूमि पर अधिकार जमाना शुरू कर दिया। अपने आर्थिक स्वार्थों के लिये सस्ती मजदूरी के लिये उनका प्रयोग किया। स्वेच्छा से अपनी योजना के अनुरूप स्वत त्र वातावरण मे कार्य करने वाले आदिवासी इन बाह्य तत्वो

के सुलभ करते गये। उनकी गिरती हुई आर्थिक दशा का लाभ महाजनों ने ऊंची दर पर रुपया कर्ज देकर उठाया। इसके पूर्व आदिवासियों ने कभी भी यह अनुभव नहीं किया था कि जिस भूमि पर वे सदियों से कृषि करते चले आ रहे हैं तथा जिन जंगलों पर वे सदियों से निर्भर हैं, उनपर किसी अन्य का अधिकार भी हो सकता है। अपने परम्परागत आर्थिक जीवन में वे जैसे भी अपना जीवन यापन करते थे, अभावपूर्ण होते हुये भी उससे वे सन्तुष्ट थे। आर्थिक समृद्धि का मानदण्ड स्वयं उनका अपना आर्थिक जीवन था। बाह्य तत्वो के सम्पर्कों ने उनके इन मानदण्डो को तोड़ दिया तथा अन्यो की ही दृष्टि मे नही अपितु अपनी दृष्टि मे भी वे दरिद्र हो गये और इस दरिद्रता के प्रति उनमें असन्तोष व्याप्त होने लगा। समृद्धि के नये मानको को प्राप्त करने की लालसा उनमे उत्कट होती गई। समय-समय पर इस असन्तोष ने उग्र रूप धारण किया तथा समृद्धि एव दारिद्रय मे संघर्ष हुये। विजय सदैव अधिक शक्तिशाली वर्गों की हुई किन्तु आदिवासियों को ही उनकी विजय के परिणामों का मूल्य चुकाना पडा। ऐसी ही परिस्थितियो ने उनके बीच नेतृत्व को जन्म दिया। जिन नेताओं ने उनके आंदोलनो का सचालन किया अधिकांशत वे सभी अशिक्षित थे। परन्तु उन्होंने आदिवासियों में स्वाभिमान एव स्वातन्त्र्य प्रेम जागृत किया। इन नेताओं में अदम्य साहस था। वे इस तथ्य से अनभिज्ञ नही थे कि विदेशी शासको की बन्दूकों के समक्ष उनके तीर कमान भाले आदि अधिक समय तक नहीं टिक सकते। उन्हे इसका भी आभास था कि विदेशी शासको से सघर्ष मे अन्य बाह्य तत्व उन्हे सहयोग नही देंगे। परन्तु शोषण एव अत्याचार की सीमायें इतनी टूट चुकी थी कि वे अपने को अधिक समय तक शात न रख सके।

स्व० वेरियर एलविन ने अपनी पुस्तक "A Philosophy for N E F A (पृष्ठ 62-63) मे आदिवासियो की भूमि के सांस्कृतिक एव मनोवैज्ञानिक महत्व पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि नेफा के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो मे जहाँ भी आदिवासी समुदायो का पतन हुआ है, वहा उनमें व्याप्त असन्तोष एव उनकी मानसिक व्यथा का प्रमुख कारण उनके भू-स्वामित्व का समाप्त होना ही रहा है।' इस एक कारक के इतने घातक परिणाम हुये हैं कि अन्य सभी कारक इसके सामने तुच्छ हैं। यदि हम सत्ता के विरोध मे आज तक हुये सभी आन्दोलनों का अध्ययन करें तो उनकी पृष्ठभूमि में यही एक प्रमुख कारण ज्ञात होता है। यहां पर एक अन्य तथ्य भी ध्यान देने योग्य है। आदिवासी क्रान्तियो को देश की अन्य राजनैतिक गतिविधियों एवं

सामान्य जन जीवन की वन स्थिति की पृष्ठभूमि से अलग करके नहीं देखा जा सकता। यद्यपि अधिकांश आदिवासी क्रान्तियों का उदभव लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के बाद ही हुआ फिर भी देश के सभ्य समाजों में चल रहे राजनैतिक सघर्षों ने काफी समय पूर्व से ही इन क्रान्तियों की भूमिका तैयार करने मे योगदान दिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अत्याचारों से पीड़ित राजा-महाराजाओ एव नवाबा से हुए सघर्षों के प्रभाव भी किसी न किसी रूप मे इन सुदूर एकान्तवासी आदिवासिया पर पड़। वास्तविकता तो यह थी कि उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे अशान्ति एवं आक्रोश का वातावरण सम्पूर्ण भारत के जन जीवन का एक अग बन चुका था। इस शताब्दी का इतिहास इतना सघषमय रहा है तथा इन सघर्षों के परिणाम इतने व्यापक हुए हैं कि आदिवासी गतिविधियो को उनमे अप्रभावित मानना हमारी एक भारी भूल होगी। अत यह कह सकना अत्यन्त कठिन है कि विदेशी शासको के विरोध मे प्रथम सघष एव क्रान्ति का श्रेय आदिवासियो को मिलना चाहिए अथवा देश के अन्य वर्गों को। इसम कोई सन्देह नहीं कि सन 1855 म सन्थाल विद्रोह से सन 1857 म हुई राष्ट्रीय क्रान्ति के नायको ने अवश्य प्रोत्साहन प्राप्त किया होगा। यह भी सत्य है कि राष्ट्रपिता महात्मा गाधी का असहयोग आन्दोलन अन्ततोगत्वा उस लक्ष्य को प्राप्त करने मे सफल हो सका जिसकी धारणा उन्नीसवी शताब्दी म ही बन चुकी थी। गाधीजी की सफलता की पष्ठभूमि म असख्य देशवासियो के रक्तरजित प्रयास सन्निहित थे। असहयोग आन्दोलन एक नवीन दशन एव नवीन प्रेरणा स उत्प्रेरित एक नये रूप म उन्ही प्रयासो की पराकाष्ठा थी।

आदिवासी आन्दोलनो का वर्गीकरण

उपर्युक्त पष्ठभूमि के सन्दभ मे ही भारतवष के विभिन्न प्रदेशा म बसने वाले आदिवासियो के जन आन्दोलनो एव क्रान्तियो की समीक्षा की जा सकती है। इनके अध्ययन स हम एक निष्कष पर पहुचते हैं कि सभी आन्दोलन किसी एक लक्ष्य क लिए अथवा किसी एक कारण से नही हुए। प्रत्येक आन्दोलन की पृष्ठभूमि मे असन्तोष एक सामान्य अवस्था होती है। किन्तु असन्तोष आन्तरिक एव बाह्य दोनो प्रकार के कारणो का परिणाम हो सकता है। स्वय आन्तरिक कारणो के लिए प्ररणा का स्रोत बाह्य कारको मे निहित हो सकता है। अत सभी आन्दोलनो को एक ही दृष्टिकोण से नही देखा जा सकता। इसम कोई सन्देह नही कि व्यक्तिगत स्तर पर समीक्षको के दृष्टिकोण

है, अन्तर होना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए सन् 1857 में व्याप्त असन्तोष के फलस्वरूप हमारे देश मे जो आन्दोलन हुये उन्हें विद्रोह कहा जाये अथवा स्वतंत्रता संग्राम का सूत्रपात कहा जाये, इस विषय पर आज भी इतिहासकारों मे मतैक्य नहीं है। अत हम यहां पर यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि आदिवासियों के आन्दोलनो एव क्रान्तियो के सबंध मे यहाँ पर व्यक्त किये जा रहे विचारो में हमारा अपना दृष्टिकोण निहित है। सम्भव है कि कतिपय मानव वैज्ञानिको का हमारी इस समीक्षा से मतैक्य न हो।

भारतवर्ष के सभी आदिवासी आन्दोलन देश मे विद्यमान विशिष्ट सामाजिक सास्कृतिक एव राजनैतिक परिस्थितियो के परिणाम थे। इस आधार पर उनकी तुलना अन्य देशो मे हुए आदिवासी आन्दोलनो से नही की जा सकती। यद्यपि अन्य महाद्वीपो जैसे आस्ट्रेलिया अमेरिका तथा अफ्रीका आदि मे भी अधिकाश क्रांतिकारी आन्दोलन विदेशी सत्ता एव उनके प्रशास-कीय हस्तक्षेप के विरोध मे ही हुए तथापि परिस्थितियो मे अन्तर होने के कारण उन सभी आन्दोलनो का भारतीय आदिवासी आन्दोलनों के साथ समान स्तर पर मूल्याकन नही किया जा सकता। ससार के अन्य सभी क्षेत्रो मे अधिकांशत आदिवासी आन्दोलन उपनिवेशवाद के परिणाम स्वरूप हुये जबकि भारतवर्ष मे अधिकाश आन्दोलन केवल विदेशियो के हस्तक्षेप के कारण ही नही हुये। आदिवासियो पर हिन्दुओ के व्यापक सास्कृतिक प्रभाव पडे। अनेक स्थानो पर देश के ही अन्य तत्वो के व्यवहार एव उनके द्वारा किये जाने वाले आर्थिक शोषण की भी प्रतिक्रियायें हुई। जहाँ अन्य देशो मे केवल विदेशी एव स्थानीय तत्वो के बीच समायोजन का प्रश्न था वहां भारतवष मे आदिवासियो तथा देश के अन्य सभ्य वर्गों के बीच भी समायोजन का प्रश्न था। विदेशी तत्वों ने इन सभ्य वर्गों को अपने हितो को सुरक्षित रखने का साधन बनाया तथा दूसरी ओर इन सभ्य वर्गों ने विदेशियो के राजनैतिक प्रभुत्व की छत्रछाया मे अपने निहित स्वार्थों का पूरा-पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया। भारतवष मे दो पूर्णरूप से भिन्न सस्कृतियो एव भिन्न प्रजातियो के तत्वों के द्वंद्व की समस्या नहीं थी। इस दृष्टिकोण से अन्य देशो मे हुए आदिवासी आन्दोलनो का मूल्यांकन भारतीय आदिवासियों की तुलना मे भिन्न स्तर पर ही किया जा सकता है।

मसीही आंदोलन

भारतीय आदिवासी आंदोलनों मे एक प्रमुख श्रेणी उन समाज

आंदोलनो की मानी जा सकती है जिन्हें मसीही आन्दोलन (Messianic Movements) कहा गया है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं सामान्यत *आदिवासी अपने परम्परागत सामाजिक-सांस्कृतिक एव आर्थिक जीवन को* सर्वोत्तम मानते आये है। अपनी परम्पराओ मे विश्वास एव निष्ठा के सहारे सैकड़ो आपत्तियों विपत्तियो दरिद्रता एव दन्य से पूण जीवन भी उनमे किसी प्रकार के असन्तोष को जन्म नही देता। परन्तु जब उनके सम्पक अपने से भिन्न वर्गों से होते हैं तो एक भिन्न प्रकार की सांस्कतिक एव सामाजिक व्यवस्था से उनका परिचय होता है। इन लोगो का जीवन उतना कष्टमय नहीं होता तथा उनकी आर्थिक व्यवस्था अधिक उपयोगी जान पडती है। ऐसी परिस्थिति मे उनमे अपनी परम्परागत व्यवस्थाओ के प्रति अविश्वास जन्म लेने लगता है। परिणामस्वरूप नये सम्पर्कों से प्राप्त नई व्यवस्था के प्रति आकषण तथा अपनी परम्परागत व्यवस्था के प्रति हीनता की भावना पनपने लगती है। परन्तु सम्पक मे आये वग अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिये सभी प्रकार के उचित एव अनुचित साधनो का प्रयोग करने लगते हैं। परिणाम स्वरूप आदिवासियो का सामान्य जीवन और भी अधिक दुष्कर हो जाता है। उनके जीवन के मूल्यो का घोर अनादर किया जाता है तथा उनका नतिक पतन होने लगता है। उनमे एक प्रकार की व्यग्रता एव उत्तेजना पनपने लगती है। निहित स्वाथ यदा कदा राजनतिक उपलब्धियो के लिये धम का प्रयोग करते है। ऐसी दशा मे आदिवासियो मे अपने परम्परागत जीवन के स्वर्णिम युग की चेतना आती है। नवीन एव पुरातन, परिवर्तित एव परम्परागत मूल्यो मे सघष उनके मानसिक उत्पीडन का कारण बन जाता है। असन्तोष धीरे धीरे बढने लगता है। परन्तु उनका नतिक पतन इस स्तर तक पहुच चुका होता है तथा बाह्य तत्वो के सांस्कृतिक प्रभाव इतने प्रबल हो चुके होते हैं कि फिर से परम्परागत जीवन व्यतीत कर सकने की आकाक्षा पूण नही हो पाती। ऐसी अवस्था मे वे एक ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता का अनुभव करने लगते हैं जो उन्हे उनकी परम्पराओ की ओर ले जाने का आश्वासन दे सके। ऐसी ही मानसिक द्वद्व एवं नैतिक पतन की परिस्थितियो मे अधिकाश आन्दोलनो के सचेतक नेताओ का जन्म हुआ। कही-कही पर यह नेतृत्व कुछ प्रबुद्ध व्यक्तियो से प्राप्त हुआ तथा कही कही पर कुछ सामाजिक समूहो ने नेतृत्व प्रदान किया। अत अधिकाश मसीही आन्दोलन ऐसी ही परिस्थितियो के परिणाम थे। परन्तु परम्परागत जीवन के प्रति पुन आकषण एव सपक मे आये नवीन सांस्कृतिक तत्वो के

प्रति द्वेष के बावजूद भी इन प्रभावशाली सांस्कृतिक तत्वों का अभिग्रहण निरन्तर होता रहता है। उनके नेता प्रगतिशील तत्वो की सांस्कृतिक श्रेष्ठता तथा उनकी तकनीकी क्षमताओ के लिये उनके धार्मिक विश्वासो को उत्तरदायी बताते हैं तथा आदिवासियों की हीनदशा के लिये परम्परागत धार्मिक विश्वासो एवं देवी-देवताओं को दोषी बताने लगते हैं। अपने नेतृत्व को सफल बनाने के लिये जहां एक ओर आदर्श प्राचीन स्वर्णिम युग का स्वप्न साकार करने का आश्वासन देते हैं वही सम्पर्क मे आये लोगो के कतिपय सांस्कतिक तत्वो को अपना कर उनके सामाजिक एवं आर्थिक स्तर को ऊंचा उठाने की बात भी करते हैं। ये सभी नेता अधिक से अधिक सख्या मे आदिवासियो का समर्थन प्राप्त करने के लिये एव उनका सहयोग पाने के लिये अपने नेतृत्व मे उनके पूण विश्वास एव निष्ठा का आवाहन करते हैं। ये सभी नेता आदिवासियो को आश्चयचकित करके उनका विश्वास प्राप्त करने के लिये अपने मे एक अलौकिक शक्ति होने का दावा करते हैं। संभव असभव सभी प्रकार के कार्यों को कर सकने की क्षमता दर्शाते हैं। आदि वासियो को आध्यात्मिक भय से आतकित करने का प्रयास करते हैं। कभी कभी कुछ आन्दोलनो क प्रणेता अपने जीवन-काल मे कोई विशेष सफलता नही प्राप्त कर सके। ऐसी अवस्था मे उनके बाद उनके निष्ठावान प्रति गामियो ने उद्वेग को सजीव रखने का प्रयास किया तथा आन्दोलन को सफल बनाया। सामान्यत इस प्रकार का नेतृत्व आदिवासी समुदायो से ही उभर कर सामने आता है। परन्तु कही-कहीं पर ऐसे आन्दोलनो का नेतृत्व बाह्य व्यक्तियो के द्वारा भी हुआ जो कि पूणरूप से आदिवासी समुदायो की आकाक्षाओ से तादात्म्य रखते थे। इसमें कोई सन्देह नही कि इन आन्दोलनो की पृष्ठभूमि मे भी असन्तोष के मूल कारण सांस्कतिक एव आर्थिक ही हुआ करते थे किन्तु इन आन्दोलनो का सूत्रपात धार्मिक आधार पर हुआ। इन आन्दोलनो के नेताओ के प्ररणा स्रोत ईसाई धर्म अथवा हिन्दू धर्म मे ही निहित थे। ये सभी नेता सामान्य आदिवासियो को आकर्षित करने के सभी उपाय करते थे और इनमे सफल नेतृत्व क सभी गुण विद्यमान थे। अपने को अलौकिक शक्ति से प्रभावित घोषित करके-अपनी जाति के कल्याण के लिये अवतार अथवा मसीहा के रूप मे अपने को प्रगट करते थे। इसीलिये ऐसे आन्दोलनो को मसीही आन्दोलन कहा गया।

आर्थिक शोषण से प्रेरित आन्दोलन

भारतवर्ष मे आदिवासियो का आर्थिक शोषण एक प्रमुख समस्या रही

है--जिसके विरुद्ध विद्रोह के परिणाम स्वरूप अनेक आन्दोलन हुये । अधिकांशत' तीन प्रकार के तत्वो ने आदिवासियो की दयनीय अवस्था तथा सरकारी कानून से उनकी अनभिज्ञता का लाभ उठाकर उनका आर्थिक शोषण किया । एक तो अंग्रेजी सरकार द्वारा नियुक्त एवं मान्यता प्राप्त जमींदारो अथवा मुस्तादारो का वर्ग था । आदिवासी सामान्यत अपनी भूमि पर कृषि करना अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझते थे । दूसरी ओर अपने क्षेत्र के वनो पर भी अपना अधिकार समझते थे । अग्रेजी प्रशासन ने इन सभी क्षेत्रो पर राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने के दृष्टिकोण से तथा अपनी आय में वृद्धि करने के दृष्टिकोण से जमीदारो मुस्तादारो तथा जगलो के ठेकेदारो को नियुक्त किया जिन्हे कृषि करने अथवा वन-सम्पत्ति का उपयोग करने के लिये *आदिवासियो से कर वसूल करने के अधिकार प्राप्त थे ।वन-सम्पत्ति का आर्थिक* उपयोग करने के लिये वन सम्बन्धी कठोर नियम बना कर उन्हे सुरक्षित क्षेत्र घोषित करके आदिवासियो को वन सम्पत्ति के प्रयोग पर एव जगल काटकर एव आग लगा कर की जाने वाली उनकी परम्परागत कृषि पद्धति पर रोक लगा दी गई । आदिवासी अर्थ व्यवस्था मूलत वनो पर ही निर्भर करती थी । इन प्रतिबन्धो के परिणाम स्वरूप उनके समक्ष अत्यंत कठिन आर्थिक समस्या उपस्थिति हो गई । जमीदारो ने मनमाना लगान वसूल करना शुरू कर दिया । लगान न दे सकने की अवस्था मे नाना प्रकार के अत्याचार करने लगे । उनकी भूमि को अपने अधिकार मे करना शुरू कर दिया तथा बेगार प्रथा को जन्म दिया । आदिवासियो को आर्थिक समस्यायो की चिंता छोडकर केवल लगान न दे सकने के अपराध मे महीनो बेगार करनी पडती थी तथा उनके परिवार के लोग भूखो मरते थे ।

दूसरा वर्ग महाजनो एव हिन्दू कृषको का था । सूदखोर महाजनो तथा साहूकारो ने उनकी गरीबी तथा अज्ञानता का भरपूर लाभ उठाया । काफी ऊँची दरो पर रुपया कर्ज देकर फर्जी कागजो पर उनके अंगूठो की छापों को मनमाने ढग से कानूनी मान्यता दिलावाकर उनकी जमीनो कों बेदखल करने का कुचक्र चलाते रहे । दूसरी ओर हिन्दू कृषक अधिक भूमि प्राप्त करने के लालच मे आदिवासी क्षेत्रो के सन्निकट आकर बसने लगे । छोटे मोटे व्यापार धधे तथा कृषि आदि के माध्यम से धीरे धीरे आदिवासियों की भूमि अपने अधिकार मे करने लगे ।

आदिवासियो के आर्थिक शोषण का एक तीसरा वर्ग उन छोटे मोटे सरकारी कर्मचारियो का था जो कि झूठे सरकारी आदेशों, पुलिस जेल

आदि का भय दिखाकर आये दिन आदिवासियों को ठगते रहते थे तथा अक्सर लूटपाट भी करते थे। सरकारी कर्मचारी होने के नाते एक ओर तो उन्हें स्वयं प्रशासन एवं पुलिस का संरक्षण प्राप्त होता था, दूसरी ओर अंग्रेजी प्रशासन से सहानुभूति होने के कारण जमींदार भी उन्हें सहयोग देते थे। इस प्रकार से ये तीन प्रकार के बाह्य तत्व सर्दव आदिवासियो के आर्थिक शोषण के केन्द्र बिन्दु बने रहे। परिणाम स्वरूप कहीं-कही पर आदिवासियों की दशा इतनी दयनीय हो गई तथा असंतोष इतना बढ़ गया कि उनके समक्ष विद्रोह करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं रह गया। आंध्र प्रदेश मे सन् 1802 1803 के मध्य राम भूपति के नेतृत्व में रम्पा फितूरी नामक विद्रोह गोदावरी से पूव मे बसने वाले आदिवासियों मे हुआ। ये विद्रोह मुत्तादारों के अत्याचारो के विरोध मे हुआ। मुत्तादार ब्रिटिश इडिया कम्पनी द्वारा निर्धारित छोटे मोटे सरदार हुआ करते थे जो ईस्ट इडिया कम्पनी के लिये आदिवासियो से भूमि पर कर वसूल करने तथा उनमे शाति बनाये रखने के लिये रक्खे जाते थे। इन मुत्तादारो ने गरीब कोया एव कोडा रेडडी आदिवासियो को बहुत ही उत्पीडित किया जिसके परिणाम स्वरूप विद्रोह का सूत्रपात हुआ। इसी प्रकार से आध्र प्रदेश के एजेंसी क्षेत्र मे ठेकेदारो ने आदिवासी जगली क्षेत्र से गुजरने वाले राष्ट्रीय माग के निर्माण कार्य मे उनसे जबर्दस्ती मजदूरी कराना शुरू किया। यह मजदूरी उनकी इच्छा के विरुद्ध तो होती ही थी, साथ ही उनको पारिश्रमिक भी नही दिया जाता था। सरकारी ठेकेदारो का यह रवैया धीरे धीरे असतोष एव अशांति का कारण बन गया। अन्त मे आध्र प्रदेश के एजेंसी क्षेत्र मे आदिवासियो मे भीषण ज्वाला धधक उठी और फौजो को इस विद्रोह का दमन करना पडा। इसी प्रकार से बिहार के मुडा तथा सथाल आदिम जातियों में हुई क्रांतियो की पृष्ठभूमि में भी अधिकांशत विविध स्वरूपो में आर्थिक शोषण ही मूल कारण था किन्तु-इन कारणो से जनित होते हुये भी असंतोष ने आन्दोलन एवं क्रान्ति का रूप धार्मिक आधार पर लिया। अत इन आन्दोलनो का आन्तरिक स्वरूप आर्थिक-असन्तोष होते हुये भी अपने बाह्य स्वरूप मे वे मसीही आन्दोलन थे।

स्वातंत्र्य आन्दोलन

जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं—आदिवासी स्वभाव से ही स्वतंत्र प्रकृति के होते हैं। विशेषकर भारतवर्ष मे अंग्रेजी शासन की स्थापना के पूर्व

उनके एकांत एवं निर्जन क्षेत्रो मे राजनतिक हस्तक्षेप लगभग नगण्य ही रहा है। परन्तु अग्रेजो ने सभी क्षेत्रों मे धीरे धीरे राजनैतिक प्रशासन कायम करना शुरू किया। अनेक क्षेत्रो के आदिवासियो ने अपनी परपरागत स्वतंत्रता मे राजनैतिक हस्तक्षेप बर्दाश्त नही किया और तीव्र विरोध किया। इस संबंध में असम प्रदेश के आदिवासियो का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है। असम के अधिकाश आदिवासी अत्यत उग्र प्रकृति के हैं और उनमे परस्पर झगड़ होते रहते हैं। इसीलिए इस प्रदेश के आदिवासियो मे सदैव अशांति व्याप्त रही है। ईसाई मिशनरी इस प्रदेश के आदिवासियो मे काफी समय से क्रियाशील रहे हैं। परिणाम स्वरूप शिक्षा के क्षत्र मे इस प्रदेश के आदिवासियो ने देश के अन्य आदिवासियो से कही अधिक प्रगति की है। संभवत ईसाई मिशनरियो के सपर्कों एव शिक्षा का ही परिणाम है कि इन आदिवासियो मे राजनैतिक चेतना अत्यत अधिक है। सदव से ही यह प्रदेश आदिवासियो के आतरिक विवादो एव युद्धो का क्षत्र रहा है। विशेषकर नागा आदिवासियो मे युद्ध एव द्वदो को नरमुड शिकार के सास्कृतिक महत्व के कारण एक परपरा का रूप प्रदान कर दिया गया। युद्ध द्वद एव लूटपाट की परपरा इनकी सस्कृति का एक अग बन चुकी है। सन 1938 मे जब अग्रेजो ने असम के आओम राजाओं को विस्थापित करके प्रदेश पर अपना राजनतिक आधिपत्य स्थापित किया तो उत्तर पूर्वी सीमात प्रदश के आदिवासियो को उन्होने कही अधिक अशात और विद्रोही प्रवृत्ति का पाया। इस प्रकार से ब्रिटिश शासको के प्रति घृणा की भावना असम के आदिवासियो मे तीव्र होती गई। प्रारम्भ मे सन 1828 मे प्रथम क्रांति क लक्षण दिखाई दिये। आओम राजा के एक युवराज गोमधर कुवर ने इस क्रांति का सूत्रपात किया तथा स्थान स्थान पर आदिवासियो ने ब्रिटिश प्रशासको को अपनी स्वतत्रता मे बाधक समझते हुये उनके प्रशासन मे व्यवधान उपस्थित किये। निरतर ब्रिटिश प्रशासन को सैनिक सहायता से इन विद्रोहो का दमन करना पडा। सन 1829 मे खासी पहाडियो मे ब्रिटिश प्रशासन के विरोध मे विद्रोह हुआ। उन्हे इस बात का सदेह था कि मैदानी क्षत्रो की भांति यह प्रशासन उन पर भी कर लगायेगा। हजारो की सख्या मे खासियो ने सगठित होकर सामूहिक रूप से सघष किया। सन 1830 का वष पूरे असम प्रदेश मे आदिवासी क्रांतियो का वर्ष था। वर्ष के प्रारम्भ से ही खासी तथा गारो लोगो के सम्मिलित सघष चलते रहे। कुछ ही समय बाद उत्तर पूर्वी सीमात प्रदेश मे खाम्पटी तथा सिंगपो सरदारो ने अशांति उत्पन्न कर दी। खासी लोग तीरथ सिंघ के नेतृत्व मे चार वर्षों तक सघर्षरत रहे।

इसी वर्ष एक अन्य विद्रोह 'आकोम' राजाओं द्वारा भी संगठित किया गया। इन राजाओं ने पास पड़ोस के आदिवासियों का संपूर्ण समर्थन एवं सहयोग प्राप्त कर लिया था। विद्रोह ने एक स्वतंत्रता संघर्ष का रूप ग्रहण कर लिया जिसे सन् 1857 की राष्ट्रीय क्रांति से कम महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार सारे देश में जहां जहां भी अंग्रेजी प्रशासन के नियम-प्रतिबंध एवं कानून आदिवासियो की परंपराओ के विरोधी साबित हुये—वहा वहां निरन्तर विद्रोह होते रहे। सामान्यत प्रशासन द्वारा कर लगाने को ही अपनी स्वतंत्रता मे हस्तक्षेप, तथा अपने अधिकारो पर अतिक्रमण समझा गया। अत सर्वत्र करो के विरोध मे ही संघर्ष अधिक संख्या मे हुये।

विशुद्ध राजनैतिक आन्दोलन

अभी हाल मे तीन चार वर्षों पूर्व कुछ आदिवासी क्षेत्रो मे एक नये प्रकार के आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जिसे नक्सलबाडी आन्दोलन कहा जाता है। इस आन्दोलन की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि इसका नेतृत्व आदिवासियो के हाथो मे नही था। विशुद्ध राजनैतिक उद्देश्यो से प्रेरित कुछ बाह्य तत्वो ने अपनी क्रांतिकारी गतिविधियो का केन्द्र आदिवासियो को बना लिया तथा उन्हे बडे कृषको—जमीदारो आदि के विरुद्ध भडकाया। पश्चिमी बगाल मे दार्जिलिंग जिले के नक्सलबाड़ी नामक स्थान पर इस आन्दोलन का सूत्रपात होने के कारण इस प्रकार के सभी आन्दोलनो को नक्सलबाडी आन्दोलन कहा गया। इस आन्दोलन के प्रमुख प्रणेता श्री चारू मजूमदार तथा कानू सान्याल थे। सन 1968 70 के मध्य यह आन्दोलन अपनी चरम स्थिति पर रहा। इस आन्दोलन की एक प्रमुख विशेषता यह भी थी कि इसका नेतृत्व अतिशिक्षित व्यक्तियो के हाथ मे था। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से इस आन्दोलन को कृषि—समस्या से संबद्ध किया गया, किन्तु वास्तव मे यह कुछ चन्द पढे—लिखे क्रांतिकारियो के राजनैतिक उद्देश्यो की पूर्ति का ही परिणाम था। संगठित रूप से सशस्त्र संघर्ष इस आन्दोलन की विशेषता थी। पश्चिमी बगाल मे दार्जिलिंग जिले के क्षेत्र तथा आंध्र प्रदेश एव इसी प्रदेश से संलग्न उडीसा के कुछ भागो के ही आदिवासियो तक यह आन्दोलन सीमित रहा। इस आन्दोलन पर नियंत्रण पाने के लिये भारत सरकार को कई वर्षों तक कठिन प्रयास करने पड़े।

भारतीय आदिवासी आन्दोलनो को प्रमुख कारको क आधार पर उपर्युक्त चार प्रमुख वर्गों में वर्गीकृत करने का प्रयास किया गया है। परन्तु

वास्तव में अधिकांश आन्दोलनों का प्रारम्भ किसी एक विशेष कारण से नहीं हुआ। एक ही आन्दोलन को जहाँ एक ओर आर्थिक शोषण का परिणाम अथवा कृषक आन्दोलन माना जा सकता है वहीं सत्ता के प्रति घोर असन्तोष के कारण उसे राजनैतिक स्वतन्त्रता की भावना से ओतप्रोत भी समझा जा सकता है। इसी प्रकार से लगभग सभी मसीही आन्दोलन अथवा 'भगत आन्दोलन विशुद्ध रूप से धार्मिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन नहीं थे, बल्कि आर्थिक शोषण एवं सामाजिक सांस्कृतिक हस्तक्षेप के परिणाम थे, किन्तु जिन व्यक्तियों ने इन आन्दोलनों का नेतृत्व किया उन्होंने जन-साधारण को आन्दोलित एवं सघषरत करने के लिए प्राय उसे धार्मिक रूप देना अधिक सुविधा जनक समझा। इस दष्टिकोण से इन आन्दोलनों का किसी एक आधार पर विश्लेषण कर सकना कठिन हो जाता है। किन्तु अधिकांश आन्दोलनों के विश्लेषण से हम कुछ सामान्य कारको को इगित कर सकते हैं जो अधिकांश आन्दोलनों के लिए किसी न किसी रूप मे उत्तरदायी थे। उदाहरण के लिए कृषि से सम्बन्धित समस्याएं एव नियम बाह्य तत्वो द्वारा आर्थिक शोषण राजनैतिक एव व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अतिक्रमण परम्परागत सांस्कृतिक जीवन मे हस्तक्षप आदि वे सामान्य कारण थे जिन्होंने आदिवासियों को आन्दोलित होकर विद्रोह करने एव क्रान्तिपथ का अनुसरण करने पर विवश किया।

कुछ प्रमुख आन्दोलन

केवल पिछले सौ वर्षों के समय को ही ध्यान मे रखकर यदि देखा जाये, तो सारे देश मे छोटे छोटे कुल मिलाकर इतने अधिक आन्दोलन हुये जिनका विवरण प्रस्तुत करना यहाँ पर सम्भव नही है। हम विशेषकर विभिन्न जातियो मे हुये कुछ उन आन्दोलनो के विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिनके परिणाम स्थानीय न होकर इतने व्यापक थे कि उन्होने एक बृहत क्षेत्र के आदिवासी समुदायों के राजनैतिक सामाजिक सांस्कृतिक एव आर्थिक जीवन के अधिकांश पक्षों को प्रभावित किया। इन सभी आन्दोलनो का नेतृत्व उन विशिष्ट क्षमताओ वाले व्यक्तियो के द्वारा हुआ जो कि आजतक इन आदिमजातियों मे स्मरणीय हैं तथा आदिवासियो के इतिहास मे उन्होंने एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया।

बिहार

बिहार प्रदेश कुछ प्रमुख आदिवासी आन्दोलनो का केन्द्र रहा है। बिहार

के अधिकांश आदिवासी कृषक हैं और उनमें से काफी संख्या में आज भी जंगलों से खाद्य पदार्थ एकत्रित करके जीवन-यापन करते हैं। वनों से सम्बन्धित वैधानिक नियमों से परम्परागत स्थानान्तरण पद्धति से कृषि करने की प्रथा सीमित हो चुकी है और धीरे-धीरे अधिकांश आदिवासी हल से खेती करने लगे हैं। आस-पास के सभ्य लोगों के क्षेत्रों में जन-संख्या वृद्धि के दबाव के कारण भूमि की माँग बढती जा रही है तथा वे लोग निरन्तर अन्याय एवं अवैधानिक विधियों से उनकी भूमि पर आधिपत्य स्थापित करते जा रहे हैं। समय-समय पर अकाल की स्थितियों से इस प्रदेश की आर्थिक स्थिति और भी खराब हो जाती है। ऐसी परिस्थितियों में ब्रिटिश प्रशासन ने आदिवासियों के कल्याण के लिए कभी कोई उल्लेखनीय कार्य नही किया। जमींदारों के अविवेकपूर्ण आर्थिक शोषण के कार्यों तथा प्रशासन द्वारा उन्हें सदैव सहयोग दिये जाने के कारण ब्रिटिश प्रशासनकाल में आदिवासियो की आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय हो गई। ईसाई मिशनरियों की भेदभावपूर्ण नीति तथा हिन्दू सम्पर्कों के सांस्कृतिक प्रभावो ने उनमें अपनी परम्पराओं अपने देवी-देवताओं के प्रति हीनता की भावना को जन्म दिया तथा उनकी एकता को विच्छिन्न किया। ऐसी ही परिस्थितियो ने उन्हे सदैव ऐसे व्यक्तियों की ओर आकर्षित किया जो उन्हे दरिद्रता से छुटकारा दिलाने का आश्वासन देते रहे और उन्हें अपनी अलौकिक शक्तियो एवं क्षमताओं का आभास दिलाते रहे। हिन्दू प्रवासी एवं ईसाई मिशनरी दोनो पिछले डेढ़ सौ वर्षों से इन क्षेत्रो में क्रिया शील रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अपनी आस्थाओ में अविश्वास एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति हीनता की भावना उत्पन्न हुई है। दोनों सम्प्रदायो ने बडी संख्या में इन आदिवासियो को अपनी ओर आकर्षित किया। परन्तु फिर भी जब उन्हें अपनी कठिनाइयो से मुक्ति न प्राप्त हो सकी तो कतिपय आदिमजातियो मे अपने परम्परागत मूल्यो के प्रति फिर से आकर्षण होने लगा। असन्तोष एवं अविश्वास से सन्तप्त मानसिक दशाओ में मार्गदर्शन की आवश्यकता अत्यन्त तीव्र हो उठी। ऐसी ही दशाओं में इन आदिवासियों में नेतृत्व ने जन्म लिया और जन-साधारण को आन्दोलित किया।

मुंडा विद्रोह

मुंडा बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र की एक महत्वपूर्ण आदिमजाति है। परम्परा के अनुसार मुंडा लोगों मे भूमि का स्वामित्व सामुदायिक हुआ करता था। कुछ समय पश्चात् उनके सरदार अधिक शक्तिशाली हो गये और राजा

बन गये । कुछ स्थानों पर मुडा लोग हिन्दू राजाओ के आधीन हो गये । उनके सरदार अपने को हिन्दू राजाओ के समकक्ष प्रभावशाली दर्शाने के लोभ से हिन्दू सस्कृति की ओर आकर्षित होने लगे । उन्होने अपने यहाँ हिन्दू पुजारियों को रखना शुरू किया । इसके परिणामस्वरूप हिन्दू सस्कृति के तत्व धीरे धीरे मुडा समाज मे व्याप्त होने लगे । उनके सरदार हिन्दू पुजारियो एव राज कर्मचारियो को गाँव के गाव तथा बडे बड भूखण्ड दान मे देने लगे और सामान्य आदिवासी उनके अधीनस्थ कृषको के रूप मे कार्य करने लगे और उन्हे उनकी भूमि पर कृषि के लिए लगान देना पडता था । परन्तु जैसे जैसे भूमि की माँग बढती गई वे लगान बढाते गये और लगान न अदा कर पाने की अवस्था मे उनसे बेगार लेने लगे थे । आवश्यकता पडने पर ये आदिवासी साहूकारो से ऊची दरो पर कर्ज लेने लगे । परिणामस्वरूप उनकी आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय होने लगी । सभी बाह्य तत्व किसी न किसी रूप मे उनका आर्थिक शोषण कर रहे थे । इसलिए इन सभी के प्रति द्वेष की भावना मुडा लोगो मे तीव्र होती रही । यहा तक कि डीकू शब्द सभी बाह्य तत्वो के सम्बोधन का प्रतीक बन गया और मुडा सस्कृति मे घृणा एव विद्वेष का प्रतीक बन गया । जब ब्रिटिश प्रशासन ने इन क्षेत्रो पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया तो हिन्दुओ द्वारा चलाई जाने वाली भूमि व्यवस्था को मान्यता प्रदान की तथा अपने आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए उन्हे पूर्ण रूप से प्रश्रय दिया । सन 1806 मे प्रभावशाली प्रशासन की स्थापना के लिए उन्होने जमीदारो को पुलिस अधिकार प्रदान किये—जिनका वे लोग दुरुपयोग करने लगे । प्रशासन के सभी नियम जमीदारो के अनुकूल साबित हुये—उनमे आदिवासियों की समस्याओ एव कठिनाइयो की ओर कोई ध्यान नही दिया गया । परिणाम स्वरूप ब्रिटिश प्रशासन के अन्तगत प्रश्रय प्राप्त करके बाह्य तत्व इन आदि वासियो का आर्थिक शोषण करने के लिए और भी सशक्त हो चुके थे । धीरे धीरे यह शोषण अपनी चरम सीमा पर पहुचने लगा तथा घृणा ने विरोध एव विद्रोह का रूप ले लिया तथा आन्तरिक असन्तोष उग्र सघर्षों मे परिवर्तित होने लगा । उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक दशको मे मुडा क्षेत्रो मे यदा-कदा हिसात्मक सघर्ष होने लगे थे । अपने परम्परागत अधिकारो के प्रति वे जागरूक होने लगे । सन 1811 से 1832 के मध्य मे सात स्थानो पर जमींदारो के विरुद्ध सघर्ष हुये । ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इन सभी सघर्षों का दमन किया । परिणामस्वरूप उनकी दशा और भी दयनीय हो गई । सन् 1857 के लगभग बडी सख्या मे मुडा लोग जर्मनी के लुथेरियन मिशन की ओर आकर्षित हुये

और ईसाई बन गये। इन मिशनरियों ने उन्हें असन्तोष और दरिद्रता को दूर करने के आश्वासन दिये और ईसाई बना लिया। किन्तु धर्म परिवर्तन से उनकी आर्थिक कठिनाइयो मे कोई विशेष अन्तर नहीं आ पाया। मिशनरियों के आश्वासन झूठे साबित होने लगे। स्थान स्थान पर ईसाई मुंडा लोग भी हिंसात्मक उपद्रव करने लगे, जिनमे मिशनरियो ने उन्हे सहयोग नहीं दिया। मुंडा लोग इन मिशनरियों का भी विरोध करने लगे जिन्होंने उन्हें धोखा दिया था। हजारो की संख्या मे संगठित होकर उन्होने मिशनरियो का विरोध किया। इनमे से मिशनरियो द्वारा शिक्षित व्यक्तियों के भी समूह थे जिन्होंने न्याय प्राप्त करने तथा अपनी कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिए सगठित प्रयास प्रारम्भ कर दिये। शिक्षित व्यक्तियो का यह वर्ग वास्तव में क्रान्ति का प्रणेता बना। किन्तु नेतृत्व के अभाव मे काफी समय तक क्रांति का अवसर प्राप्त न हो सका। शिक्षित वर्गों का यह आन्दोलन—सरदारी लड़ाई—के नाम से प्रसिद्ध है। इनका उद्देश्य मुंडा जाति को सगठित करके बाह्य तत्वो को निष्कासित करना तथा पूर्णरूप से मुंडा लोगो के अधिकारों को पुन स्थापित करना था। शिक्षित होने के कारण इन लोगो ने ब्रिटिश सरकार के समक्ष अपने लिखित ज्ञापन प्रस्तुत किये। किन्तु यह आन्दोलन सफल न हो सका। प्रभावशाली नेतृत्व का अभाव इसे क्रान्ति का रूप न दे सका।

सन 1885 मे चालकाद नामक गाँव का निवासी बिरसा नामक एक मुंडा इस अभाव की पूर्ति करने मे सफल हुआ। उसने लुथेरियन मिशन मे प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की थी और लगभग बीस वर्ष का नवयुवक था। मिशन मे प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त वह कुछ समय तक एक हिन्दू साधू के ससर्ग में रहा और तत्पश्चात कुछ समय तक एक वैष्णव साधू के साथ भी रहा। उसने यह अफवाह फैला दी कि उसे ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त हो चुकी है और ईसामसीह की भाँति भगवान ने उसे मुंडा जाति के उद्धार तथा डीकू से मुक्ति प्राप्त कराने के लिए नियुक्त किया है। अपने कुछ साथियो को उसने इस अफवाह का साक्षी बनाया जो कि निरंतर उसकी अलौकिक शक्ति एवं प्रतिभा का प्रसार करने लगे। शीघ्र ही काफी संख्या में लोग उसके अनुगामी हो गये। उसकी शिक्षायें धर्म एव राजनीति का सम्मिश्रण थी। एक ओर तो उसने पवित्र जीवन के हिन्दू आदर्शों को प्रतिपादित किया तथा दूसरी ओर प्रशासन एव उसके कर्मचारियों का विरोध करने के लिए प्रोत्साहित किया। मुंडा धर्म के परम्परागत देवी-देवताओं की उपासना वर्जित की। केवल एक ईश्वर की उपासना पर बल दिया। यह धर्म मुंडा लोगों को

अनुकूल जान पडा क्योकि अपने अनेक देवी-देवताओ को बलि देने के खर्चीले क्रम से वे ऊब चुके थे ।

इस धर्म सिद्धात मे ईश्वर की उपासना कोई विशेष सस्कारिक पद्धति नही थी । उसने लुथेरिन मिशनरियो की भाति प्रार्थना सभायें सगठित करके लोगों को उपदेश देना आरम्भ किया । गुरुवार उसका जन्म दिवस था । उसी दिन को उसने सामूहिक प्राथनाओ के आयोजन का दिन निश्चित किया । उच्च जाति के हिन्दुओ के समान अपने अनुयायियो के लिए यज्ञोपवीत पहनना अनिवार्य कर दिया । लगभग सभी मुडा लोग उच्च जाति के हिन्दुओं के समान सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिये लालायित थे । अत इस अनिवार्यता से उसके प्रति लोगो की श्रद्धा मे अभिवद्धि हुई । लोगो के नैतिक व्यवहारो के लिये ईसाइयो के दस निर्देशो की भाति उसने भी निर्देश जारी किये जिनमे चोरी, बेईमानी हत्या मद्यपान तथा एक से अधिक विवाह करने को अनैतिक घोषित किया । सुअर तथा मुर्गी पालना निषिद्ध कर दिया । धीरे धीरे अधिक से अधिक सख्या मे लोगो का विश्वास एव सहयोग प्राप्त करने के दृष्टिकोण से उसने अपनी शिक्षाओ को राजनतिक मोड देना शुरू किया । सभी बाह्य तत्वो तथा शोषको के प्रति घृणा की भावना को उत्तेजित करने लगा । लोगो को शोषको के विरुद्ध हिंसात्मक कायवाही करने के आदेश दिये । उसने लोगो को यह समझाया कि वे पुलिस की गोलियो से भयभीत न हो । उसकी दैवी शक्ति के प्रभाव से पुलिस की गोलिया पानी के समान द्रवित होकर अप्रभावशाली हो जायगी । उसने लोगो को यह कहकर भी बहकाना शुरू कर दिया कि यदि सिपाही लोग उसे बन्दी बना लेंगे तो भी उन्हें घबडाने की कोई आवश्यकता नही क्योकि वह अपनी दविक शक्ति के प्रताप से जेल से निकल कर फिर उनके समक्ष आ जायेगा । स्पष्ट है, बिरसा मे एक सफल नेतृत्व के सभी गुण मौजूद थे । पहले धम सिद्धात एवं लोगो की इच्छा के अनुकूल नैतिक आदर्शो का प्रतिपादन करके उसने उनका अटूट विश्वास अर्जित किया । जब उसे यह विश्वास हो गया कि लोग उसकी अलौकिक दैवी शक्ति मे आस्था रखने लगे हैं और ऐसे लोगो की सख्या काफी बढ़ चुकी है, तब उसने अपने राजनैतिक उद्देश्यो की पूर्ति के दृष्टिकोण से लोगो के साहस मे वद्धि करने के लिए मिथ्या तथा असंभव वादे करने शुरू किये ।

बिरसा पहाडी उसकी गतिविधियो का मुख्य केन्द्र स्थल था । धीरे-धीरे लगभग छै हजार मुडा सन् 1895 मे सगठित रूप से एकत्र होकर क्रांति के

पथ पर अग्रसर हो गये । उनका प्रमुख उद्देश्य ब्रिटिश शासन का विरोध, सभी बाह्य तत्वों का अपने क्षेत्र से निष्कासन एवं स्वतन्त्र मुंडा राज्य की स्थापना था । बिरसा तथा उसके अनुयायियों द्वारा लक्षित राजपूत राजा तथा जमींदार लोगों ने ब्रिटिश प्रशासन को सहयोग दिया । स्थान-स्थान पर सशस्त्र संघर्ष होने शुरू हो गये थे । नियोजित ढंग से जमींदारों, मिशनरियों तथा सभी प्रकार के बाह्य तत्वो का सफाया किया जा रहा था । जमींदारों तथा साहूकारो की सहायता से बिरसा बन्दी बना लिया गया और उसे दाई वर्षों का कठोर कारावास देकर रांची जेल मे लाया गया । उसके पन्द्रह अन्य निकट सहयोगियो को भी बन्दी बना लिया गया । परन्तु बिरसा के जेल में होते हुये भी लोगो के उत्साह मे कमी नही आई । लोगों ने बिरसा को बिरसा भगवान कहना शुरू कर दिया था ।

सन 1897 मे ही बिरसा को जेल से छोड दिया गया । कुछ ही समय बाद वह फिर से सक्रिय हो गया । वह अधिक संख्या मे लोगो से मिला, तथा अकाल पीडितो की सहायता की और इस प्रकार एक बार फिर उसने लोगों के हृदय मे क्रांति की ज्वाला प्रज्वलित कर दी । उसकी गिरफ्तारी के आदेश फिर से जारी कर दिये गये । उसने भूमिगत होकर अपना कार्य करना शुरू कर दिया । उसने तलवार चलाने तथा तीर चलाने में समर्थ प्रशिक्षित मुंडा सिपाहियों की आवश्यकता महसूस की । यह कार्य उसने अपने एक अंतरग सहयोगी गया मुडा को सौंप दिया । बडी संख्या में हथियार बनाने का कार्य भी संगठित किया गया । अपने सहयोगियों से बिरसा छिपे तौर पर मिला करता था तथा रात मे घने जगलो मे अपनी सभायें किया करता था । सन् 1897 के क्रिसमस के दिन को क्रांति का शुभारम्भ करने का दिन निश्चित किया गया । उसी दिन प्रार्थना करते हुये लोगों पर ईसाई मिशनो पर आक्रमण किया गया । पुलिस स्टेशनों तथा ईसाई मुडा लोगों के घरो मे आग लगाई गई । परिणामस्वरूप रांची से सशस्त्र सेनायें क्रांति का दमन करने के लिये भेजी गइ । काफी संख्या मे मुडा विद्रोहियों को अपने प्राणों की आहुति देनी पडी । किन्तु बिरसा तथा गया मुंडा छिपे तौर पर कार्य करते रहे । मुडा विद्रोहियो को बिरसा पर सदेह होने लगा । क्योंकि उसके आश्वासन झूठे साबित हो रहे थे । उनके तीर कमान सेना की गोलियो के समक्ष टिक नहीं पा रहे थे । । बिरसा भगवान की अलौकिक शक्ति की बातें झूठी पड़ गई थीं । उन्होंने अपने हथियार छोड़ दिये तथा जगलो मे भागने लगे । अन्त में सन् 1900 मे बडी कठिनाई से गया मुंडा तथा बिरसा को पकड़ लिया

गया । रांची जेल में आने के कुछ ही समय बाद उसे हैजा हो गया और उसकी मृत्यु हो गई ।

बिरसा की मृत्यु के समाचार पाकर मुंडा लोगो का साहस टूट गया तथा सदैव के लिए अपना राज्य स्थापित करने की उनकी आशायें समाप्त हो गई । किन्तु बिरसा द्वारा प्रतिपादित धम मुडा समाज मे काफी दिनो तक रहा, यहा तक कि आज भी म डा लोगो मे बिरसा द्वारा चलाये गये धर्म के अनुयायियो का एक वग पाया जाता है । बिरसा मे एक सफल नेतत्व के सभी गुण थे । वर्षों से व्याप्त असंतोष एव मानसिक उत्पीडन की भूमिका मे उसका सफल नेतृत्व इस क्राति को ज म दे सका । परन्तु उसमे म डा राज्य का राजा बनने की महत्वाकाक्षा थी । उसके प्रारम्भिक जीवन के अनुभव भी बहुत कुछ उसके यक्तित्व के लिये उत्तरदायी थे । बिरसा ने अपनी शक्ति का वास्तविकता से अधिक मूल्याकन किया था । परन्तु यह बिरसा आदोलन छोटा नागपुर क्षेत्र के अ य आदिवासियो का पथ प्रदशक बना । ओराव तथा सथाल लोगो ने भी आदोलन से प्ररणा प्राप्त की । ब्रिटिश प्रशासन को आदिवासियो की शक्ति का आभास हुआ । बिरसा म डा आदिवासियो का प्रथम नेता था जिसने छोटा नागपुर क्षेत्र मे मुडा लोगो के अस्तित्व को बनाये रखने मे महत्वपूण योगदान दिया । अग्रेजी सरकार ने उन परिस्थितियो को महसूस किया जिनके परिणामस्वरूप यह क्राति हुई थी । परिणामस्वरूप सन 1903 मे *टेनेन्सी ऐमेडमेट ऐक्ट तथा 1908 मे छोटा नागपुर टेनेंसी ऐक्ट के अन्तगत* भूमि व्यवस्था की याजना बनाई गई । धार्मिक-सामाजिक तथा आर्थिक स्वरूपो मे बिरसा आँदोलन सरकारी आदोलन का प्रसार मात्र ही था । दोनो आदोलनो का सूत्रपात बाह्य तत्वो के आर्थिक शोषण एव कृषि सम्बन्धी समस्याओ से उत्पन्न असन्तोष से ही हुआ । बिरसा की ख्याति एव उसके नेतृत्व ने इस आदोलन को शक्ति एव हिंसात्मक रूप प्रदान किया । इस आदोलन के व्यापक सामाजिक प्रभाव भी म डा समाज मे परिलक्षित हुये । बिरसा द्वारा चलाया गया धर्म हिन्दू सस्कृति एव ईसाई धर्म का समन्वयमात्र था । इस नये धम को अपनाकर मुडा लोगो ने अपनी परम्परागत सस्कृति के मूल्यो मे महत्वपूण परिवतन किये ।

ताना भगत आन्दोलन

छोटा नागपुर क्षेत्र के ही निवासी ओराव लोग मुडा लोगों के निकट सपर्क में ही रहते हैं । म डा लोगो के विपरीत ये लोग द्रविड भाषा परिवार

की एक भाषा बोलते हैं। इनकी भी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति मुंडा लोगों के ही समान है। सन् 1885 से 1900 तक का ही वह समय था जब मुंडा आदिवासियों में बिरसा आंदोलन चल रहा था। इसी समय में ओरांव लोगों में एक के बाद एक कई धर्म प्रवर्तक नेता अथवा भगत उत्पन्न हुये। इन सभी ने एक नये धर्म की ओट में अपने आर्थिक एवं राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति के प्रयास किये। उन्होंने ओरांव लोगो को सभी प्रकार के कष्टो से मुक्ति दिलाने के आश्वासन दिये। सभी ने बाह्य तत्वो के विरुद्ध जनमत तैयार करने के प्रयास किये। सभी ने उन्हे ये आश्वासन भी दिये कि उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म के अनुसरण से उनका भी सामाजिक सांस्कृतिक स्तर ईसाई मिशनरियो तथा हिन्दुओं के समकक्ष हो जायेगा।

इस नये आदोलन के सभी प्रणेता हिन्दुओ के भक्तिवाद तथा ईसाई धर्म से प्रभावित थे। उन्होने परम्परागत आदिमजातीय देवी-देवताओ का बहिष्कार करने की शिक्षा दी और लोगो को यह समझाया कि उन देवी देवताओ मे विश्वास ही उनकी हीन सामाजिक दशा एवं आर्थिक दैन्य का कारण है। सन 1914 मे इसी प्रकार के एक धार्मिक प्रणेता जात्रा ओरांव ने ओराव जनजीवन को आदोलित किया। उसमे एक उच्चकोटि के धार्मिक नेतृत्व की आकांक्षाय थीं। उसने लोगो को धर्मेस नामक ईश्वर की बात बताई जिससे उसने (कथित) प्रेरणा ग्रहण की थी। उसने सभी लोगो से मद्यपान त्यागने परम्परागत धर्म मे अविश्वास करने मास न खाने तथा बैल का हल मे न प्रयोग करने की शिक्षा दी क्योकि बैल गाय के वशज होते हैं। शीघ्र ही उसके अनुयायियो की सख्या लगभग दो हजार हो गई और उसने यह कह कर लोगो को डरवाना शुरू किया कि जो लोग उसके धर्म मे विश्वास नही करेंगे, वे दैविक प्रकोप के कारण गूगे हो जायेंगे। काफी संख्या मे अनुयायी हो जाने के उपरात उसने जमींदारो मिशनरियो तथा ब्रिटिश प्रशासन का विरोध करना भी शुरू किया। जात्रा भगत की ख्याति को देखकर ओराव समाज मे इसी प्रकार के स्थानीय सुधारवादी आंदोलन होने लगे तथा जात्रा ओरांव की भांति अनेक धार्मिक नेता क्रम से सामने आने लगे जिनके विचारो मे कुछ थोडे बहुत नाममात्र के अंतरो के अतिरिक्त लगभग समानता थी। यह भगत आंदोलन अंत तक ओरांव आदिमजाति तक ही सीमित रहा किंतु इसने पूरी आदिमजाति को काफी समय तक आंदोलित रखा।

सन् 1915 तक इन सभी स्थानीय आन्दोलनों ने लगभग एकरूपता ग्रहण की और जात्रा ओरांव के नेतृत्व में पूरी ओराव आदिमजाति में व्यापक

स्तर पर एक शक्तिशाली आन्दोलन ताना भगत आन्दोलन का उदय हुआ।

जात्रा ओरांव अपने कुछ सहयोगियो के साथ जिनमें एक स्त्री भी थी, सम्पूर्ण ओरांव प्रदेश मे घूमने लगा। ये लोग देशभक्ति भावना से परिपूर्ण गीत गाते थे तथा अपनी दैविक प्रेरणा का प्रचार करते थे। इन गीतों मे बाह्य तत्वो एव अग्रेजी प्रशासन के प्रति घृणा की भावना निहित हुआ करती थी। मुंडा लोगो के बिरसा भगवान की शिक्षाओ के अनुरूप ही इन लोगो ने भी प्रेतात्माओ मे विश्वास, मास-मछली खाने तथा मदिरापान का विरोध किया। गऊ पूजा का प्रसार किया गया। सूअर मुर्गी तथा बकरी पालने को वर्जित माना गया। पूर्ण रूप मे शाकाहारी खान-पान को प्रोत्साहन दिया गया। अपने हाथ से बुने हुए कपडो को पहनने पर जोर दिया गया। मूर्ति पूजा का विरोध किया। एक ईश्वर मे विश्वास का प्रचार किया गया। सभी प्रकार के बलिदानो को पाप माना गया। हिन्दुओ के अनुसार दूध, घी फल आदि अर्पण करके पूजा करने का प्रचार किया जाने लगा। इस आन्दोलन के सदेश को तानो कहा गया। तथा इस नये धम को मानने वाले अपने को ताना भगत कहने लगे। लोगो को विश्वास दिलाया गया कि धर्मेस भगवान के आदेशानुसार शीघ्र ही उनके बीच बिरसा की भाति एक अवतार जन्म लेगा जो उनके सभी कष्टो को दूर कर देगा तथा ईसाई मिशनरियो जमीदारो तथा अग्रेजो आदि सभी बाह्य तत्वो को ओराव प्रदेश से बाहर निकाल देगा। तब ओराव लोगो का अपना शासन होगा और उनका स्वर्णिम युग फिर से वापस आ जायेगा।

इन आश्वासनो से प्रभावित होकर स्थान-स्थान पर ओरांव लोगो ने खेतो का लगान देना तथा अन्य सभी प्रकार के करो का देना बन्द कर दिया। बाह्य तत्वो के प्रति घणा की भावना इतनी उग्र हो चुकी थी कि कहीं-कहीं पर उनपर हिंसात्मक आक्रमण होने लगे थे। सन् 1921 मे महात्मा गांधी के अवज्ञा आन्दोलन का भी प्रभाव इस आन्दोलन पर पडा जिसने इसके धार्मिक स्वरूप को रूपान्तरित करके राजनैतिक स्वरूप प्रदान किया। अपने हाथ से बुना हुआ कपड़ा पहनने तथा मिल के बने कपडो का बहिष्कार गांधीजी के अवज्ञा आन्दोलन का ही स्पष्ट प्रभाव था। सन् 1921 में ही जात्रा भगत को गिरफ्तार कर लिया गया। परिणामस्वरूप विद्रोह एवं हिंसा की घटनायें तीव्र हो गईं। इस प्रकार एक विशुद्ध धार्मिक एव नैतिक सुधारवादी आन्दोलन की परिणति राजनैतिक क्राति मे हुई। जब हिंसात्मक आक्रमणो की घटनाओं मे वृद्धि होने लगी तो प्रशासन ने सैनिक कार्यवाही से दमन

किया। आन्दोलन की उग्रता समाप्त हो गई। किन्तु भगत कथा प्रभावित वर्ग क्रियाशील रहे यहाँ तक कि द्वितीय विश्व युद्ध के समय चल रहे स्वतंत्रता आन्दोलन में भी ताना भगत समूहों ने कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को सक्रिय सहयोग दिया। स्वतंत्रता संग्राम में ताना भगत आन्दोलन के योगदान को ध्यान मे रखते हुए अक्टूबर सन् 1972 में बोकारो इस्पात कारखाने की प्रथम भटठी के उद्घाटन के अवसर पर प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने ताना भगत सम्प्रदाय के लोगो को सम्बोधित करते हुये उनकी प्रशंसा की।

सन्थाल विद्रोह

सन्थाल आदिवासियो का क्षेत्र भी मुंडा क्षेत्र का निकटवर्ती क्षेत्र है। वे लोग भी मुंडारी भाषा का प्रयोग करते हैं। सन्थाल परगना का क्षेत्र ही इन लोगो का केन्द्र है। अपनी भाषा एव संस्कृति पर इन्हें अत्यधिक गर्व है तथा इसी आधार पर इनमे सर्दैव राजनैतिक एकता रही है। धर्म परिवर्तन का भी सास्कृतिक प्रभाव इनकी राजनैतिक एकता को विछिन्न नहीं कर सका।

सन 1855 मे घटित सन्थाल विद्रोह आदिवासी आन्दोलनो मे प्रमुख है। बाह्य तत्वो द्वारा आर्थिक शोषण अन्य आन्दोलनो की भाँति इस आन्दोलन का भी प्रमुख कारण था। सन्थाल आदिमजाति की परम्परा के अनुसार कृषि भूमि तथा जगलो पर सामुदायिक रूप से पूरे गाव का स्वामित्व होता है परन्तु 1793 मे ईस्ट इडिया कम्पनी ने तत्कालीन बगाल प्रदेश मे स्थाई बंदोबस्त लागू करके जमींदारो के वर्ग को जन्म दिया। ये जमींदार ही नये ब्रिटिश कानून के आधार पर भूमि के स्वामी माने गये। अठारवी शताब्दी के उत्तरार्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अन्य क्षेत्रो से सन्थाल प्रवासी इस क्षेत्र में आकर बसने लगे थे तथा अपनी कर्मठता एव कठोर परिश्रम से इस विशाल जगली क्षेत्र को कृषि योग्य बना दिया था। तत्कालीन वाइसराय लार्ड विलियम बेंटिंग ने उनके इस परिश्रम की अत्यंत सराहना की। उस समय इन लोगों को सामूहिक रूप से 2000 रु० वार्षिक कर के रूप में कम्पनी को देना पडता था, परन्तु सन 1851 मे इस धनराशि को बढ़ा कर 4300 रु० कर दिया गया। कृषि योग्य भूमि के लालच मे धीरे धीरे अन्य बाह्य तत्व भी यहां आकर बसने लगे। यह बढ़ी हुई धनराशि उनकी आर्थिक क्षमता से कहीं अधिक थी। बाह्य तत्वों ने रुपया कर्ज देकर कुछ समय तक उन्हें राहत पहुचाई, किन्तु कर्ज अदा न कर पाने की दशा में धीरे-धीरे उनकी जमीनें बाह्य तत्वों के हाथ में जाने लगी। इस

प्रकार उनमे व्याप्त असतोष का मुख्य कारण जमींदारो एवं महाजनों द्वारा किया जाने वाला आर्थिक शोषण ही था, जिन्हें सरकारी अफसरो का सहयोग प्राप्त था। परिणामस्वरूप महाजनो जमींदारो, व्यापारियो, सरकारी अफसरो तथा न्यायालयो के प्रति इनमे क्षोभ व्याप्त हो गया। पहले इन सभी का विरोध करने के लिये उन्होने अन्य शातिपूर्ण उपाय अपनाये। परन्तु उनका कोई प्रभाव नही पड़ा। असतोष दिन प्रति दिन बढ़ता गया तथा एक प्रभावशाली नेतृत्व की आवश्यकता महसूस होने लगी। कान्हू तथा सिद्धू दो भाइयो ने यह नेतृत्व प्रदान किया तथा अन्य दो भाई चाद तथा भैरव उनके सहायक हुये।

इस विद्रोह के प्रमुख रूप से चार कारण बताये गये हैं—

1 महाजनो एव जमीदारो द्वारा आर्थिक शोषण
2 व्यक्तिगत तथा वशागत कडी बधकता
3 पुलिस एव अन्य सरकारी कमचारियो द्वारा अत्याचार तथा महाजनो एव जमीदारो को सहयोग।
4 न्यायालयो के पक्षपातपूण निणय जो कि सदैव सन्थालियो के विरुद्ध होते थे।

कतिपय लेखको ने वधानिक अथवा अवैधानिक रूप से छीनी जा रही भूमि को ही विद्रोह का प्रमुख कारण माना है।

सन् 1855 मे 30 जून को सिद्धू तथा कान्हू के नेतृत्व मे लगभग 10 000 सन्थाल एकत्र हुये और उन्होने शोषक जमीदारो महाजनो एव ब्रिटिश सरकार की सत्ता से अपने को स्वतत्र करा लेने का सकल्प किया। सरकारी कमचारियो जमीदारो मजिस्ट्रटो तथा क्षेत्र मे बसने वाले बगालियो को धमकियो से भरे पत्र लिखे गये। इन पत्रो मे उन्हे सन्थाल क्षेत्र को छोड़कर भाग जाने की चेतावनी दी गई। उन्होने गुप्त रूप से संघष की पूरी तैयारी कर ली थी। उन्होने अपना सक्रिय सघष अचानक ही नही शुरू किया। पहले भिन्न भिन्न सरकारी स्तरो पर प्राथना पत्र प्रेषित किये गये। अन्त मे वे इस निष्कष पर पहुचे कि राजनतिक आधिपत्य के बिना उनके कष्टो का निवारण सम्भव नही है। विजय को सुनिश्चित करने के लिये उन्होने अपने देवी-देवताओं की आराधना करना शुरू किया। इससे लोगों के आत्म विश्वास मे वद्धि हुई तथा उनमे ब्रिटिश सरकार की अपार शक्ति का विरोध कर सकने का साहस उत्पन्न हुआ। मुडा जाति के प्रणेता बिरसा भगवान की भाँति उनके नेता सिद्धू तथा कान्हू ने भी लोगों को अपनी दैविक

बल्कि एक अफसरों का परिचय देना शुरू किया। यद्यपि विद्रोह का प्रमुख केन्द्र सन्थाल परगना का ही क्षेत्र रहा किन्तु उसका प्रभाव भागलपुर, बीरभूम तथा बंगाल के कुछ भागों तक पहुंचा। सन् 1855 में हिंसात्मक विद्रोह का शुभारम्भ होते ही सबसे पहले पांच महाजनों तथा एक पुलिस दरोगा की हत्या की गई। बाद में अपने विषाक्त तीरो, तलवारो तथा भालो से लैस होकर हजारों की संख्या में दूर-दूर पहुंच कर बाजारों तथा व्यापारियो की लूटपाट की जाने लगी। आन्दोलन के तीव्र होते ही डाक-व्यवस्था अस्त-व्यस्त कर दी गई। स्थान-स्थान पर पुलिस अधिकारी अपनी चौकियो को छोड छोड कर भागने लगे। प्रशासन ने फौजो को सन्थालियो को समझा बुझा कर न्यायिक सरक्षण तथा अन्य सुविधायें प्रदान करने का आश्वासन देने के आदेश दिये। किन्तु बढते हुये विद्रोह की उग्रता को देखकर कमिश्नर ने शीघ्र ही बंगाल सरकार से कठोर दमनात्मक कदम उठाने की आज्ञा मागी। परिणाम-स्वरूप फौजो ने अपना दमन काय शुरू कर दिया। कई स्थलो पर सेना को हार खानी पडी। काफी सख्या मे यूरोपियन स्त्री-पुरुषो तथा बच्चो की हत्या की गई। सिद्धू तथा कान्हू को पकडने के लिये प्रशासन की ओर से 10 000 रुपये का इनाम घोषित किया गया। अन्त मे पाकुर नामक एक स्थान पर 4000 सन्थालियो का सेना से सघष हुआ, जिसमे अन्य नेताओ सहित सिद्धू तथा कान्हू गोलियो से घायल हुये। इसके बाद सेना ने सन्थालियो को आतकित करने के उद्देश्य से अधाधुंध लूटपाट शुरू कर दी। इस समय भी लगभग 30 000 सन्थाली सक्रिय थे। आन्दोलन की गतिविधिया सम्पूर्ण सन्थाल प्रदेश मे फैल चुकी थी। ब्रिटिश सरकार ने आन्दोलन को समाप्त करना अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। सिद्धू तथा कान्हू को गिरफ्तार कर लिया गया। सन् 1856 के अन्त तक धीरे धीरे आन्दोलन समाप्त प्राय हो गया।

इस ऐतिहासिक क्रान्ति के बावजूद भी सन्थाली अपनी स्वतन्त्रता न प्राप्त कर सके। किन्तु ब्रिटिश सरकार ने इस आन्दोलन को भविष्य के लिए एक चुनौती के रूप मे स्वीकार किया। सन्थालियो को सन्तुष्ट करने के लिए कुछ नये प्रशासनिक कदम उठाये गये। सन्थाल परगना क्षेत्र के लिए विशेष कानून बनाया गया। पुलिस नियमों में परिवर्तन करके सन्थालियो के पर-गनाध्यक्षो को उत्तरदायित्वपूर्ण अधिकार दिये गये। सन्थालियो तथा सरकार के मध्य किसी भी प्रकार की मध्यस्थता को अमान्य कर दिया गया। जुर्म करने वालो को अदालतो में दण्ड देने मे भी सन्थालियों का सहयोग लिया

आने लगा। इस प्रकार से इस क्रान्ति सन्थालियों की उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने भी अपनी अनेक कविताओं के माध्यम से इस महाक्रान्ति के योद्धाओं को श्रद्धांजलि अर्पित की है। आन्दोलन में विनाश एवं विध्वंस क उपरान्त सन्थालियो को नैतिक बल मिला। उनके नेताओ ने जिस अदम्य साहस एव वीरता से अपना बलिदान दिया था, वह आने वाली पीढ़ियो के लिए गौरव तथा नैतिक आदर्श के उदाहरण बने। प्रत्येक क्रान्ति मे विनाश, विध्वस एव विषाद के अन्तरतम में उज्ज्वल भविष्य की क्षीण अभिलाषा के स्रोत ज म लते हैं। सन्थाल क्रान्ति इस सामान्य नियम का अपवाद नही थी।

मध्य प्रदेश

बिहार के समान, मध्य प्रदेश मे भी आदिवासियो की संख्या अधिक है। यद्यपि बिहार के समान अधिक सख्या मे आदिवासी आ दोलन इस प्रदेश मे नही हुये फिर भी बिहार के आदिवासियो के समान वे सभी परिस्थितियां मध्य प्रदेश के आदिवासियो के समक्ष भी रही जि होने बिहार मे समय समय पर अशा त वातावरण उत्पन्न किया। बाह्य तत्वो के द्वारा आर्थिक शोषण एव कृषि अपहरण के काय बैगा लोगो मे इस सीमा तक पहुच चुके थे कि एल्विन ने प्रशासन का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। हिन्दू सम्पर्कों के सांस्कृतिक प्रभावो ने मध्य प्रदेश क आदिवासियो को सर्वाधिक प्रभा वित किया।

बस्तर आन्दोलन

पूर्वी मध्य प्रदेश के लगभग 30 लाख गोड आदिवासी मध्य प्रदेश के आदिवासियो मे प्रमुख हैं। इस सारे देश को गोडवाना प्रदेश कहा जाता है। बस्तर गोडवाना क्षेत्र का प्रमुख प्रशासनिक के द्र है। हिन्दू कृषकों, जमींदारो एव साहूकारो द्वारा भूमि का अतिक्रमण गोड लोगो की भी एक प्रमुख समस्या रही है। किन्तु इन समस्याओ ने कभी भी बिहार की आदिमजातियों की भाँति उग्र रूप नही धारण किया। विशेष रूप से हिन्दू सस्कृति से प्रभावित सुधारवादी मसीही आन्दोलन अधिक महत्वपूर्ण रहे। उनमे अभाव के प्रति असन्तोष सदैव बना रहा। आर्थिक अभाव की पूर्ति के सन्दर्भ मे उनकी एक काल्पनिक अवतार की आशा को कई सुधारवादी धार्मिक नेताओं ने अपने नेतृत्व को सफल बनाने का आधार बनाया। सभी सुधारवादियों ने हिन्दू

सांस्कृतिक परम्पराओं को अपनाकर आर्थिक उन्नति करने की शिक्षा दी। उनके द्वारा प्रतिपादित हिन्दू नैतिक आदर्श परम्परागत एवं रूढ़िवादी हिन्दू नैतिक आदर्शों के अनुरूप थे, यद्यपि उस क्षेत्र के तत्कालीन हिन्दू निवासी उन आदर्शों को लगभग त्याग चुके थे।

गोंड आदिवासियो की कई उपजातियों मे आज भी एक आदर्श गोंड संस्कृति की कल्पना साकार है तथा भिन्न-भिन्न नामो से वे एक ऐसे सांस्कृतिक प्रणेता के प्रति चिर-आशान्वित हैं, जो उनके आदर्श सांस्कृतिक जीवन को फिर से ला देगा तथा उनके आर्थिक अभाव तथा कष्टो को दूर कर देगा। यह एक ध्यान देने योग्य बात है तथा विचारणीय प्रश्न है कि जहाँ बाह्य तत्वों के रूप मे हिन्दू महाजन, व्यापारी तथा कृषक आदि बिहार के आदिवासियों की दृष्टि मे घृणा के पात्र बन गये वहाँ मध्य प्रदेश में सदव उनकी संस्कृति आदिवासियो के आकर्षण का केन्द्र बनी रही यद्यपि यहाँ भी इन सभी ने आदिवासियो का आर्थिक शोषण समान रूप से किया। राज गोंड—गोंड आदिवासियो का एक बहुत बडा वर्ग है जो पूर्ण रूप से हिन्दू संस्कृति अपना चुके हैं तथा पिछले पचास वर्षों मे अधिकांश सुधारवादी आन्दोलनो का सूत्रपात राजगोंडो के द्वारा ही हुआ। इन अधिकांश सुधारवादी आन्दोलनो का प्रारम्भ सन 1920 के उपरान्त ही हुआ।

एल्विन ने राजगोंड मे क्षत्रिय सूर्यवंशी महासभा नामक इसी प्रकार के एक महत्वपूर्ण सुधारवादी संगठन की चर्चा की है। इस संगठन का सांस्कृतिक उन्नयन का कार्यक्रम पूर्ण रूप से निषेधात्मक था। इस संगठन द्वारा गोंड स्त्रियो को नृत्यो में भाग लेना भी वर्जित किया गया। इसके प्रवर्तक पुरातन गोंड संस्कृति को हेय दृष्टि से देखते थे। हिन्दू देवता शिव की पूजा पर अधिक जोर दिया गया। पवित्र गऊ की सन्तति को हल मे जोतना निषिद्ध किया गया। हिन्दू द्विजो की भाँति यज्ञोपवीत पहनना अनिवार्य किया गया। यह सुधारवादी आन्दोलन मांडला जिले मे अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। कुछ समय तक गोंड लोगो ने इन नये नैतिक आदर्शों का पालन बड़ी कठोरता से किया। किन्तु शीघ्र ही उन्हें यह आभास होने लगा कि इस प्रकार का जीवन उन लोगो के लिए नही है। स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्धों का विरोध होने लगा। उनका आर्थिक जीवन भी अत्यन्त कठिन हो गया, क्योंकि अब स्त्रियाँ आर्थिक कार्यों मे अपना योगदान नहीं दे पाती थीं। साथ ही खान-पान पर प्रतिबन्ध भी उन्हें असह्य होने लगे। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि इन समस्त नैतिक आदर्शों का पालन करते हुये भी उनकी सामाजिक स्थिति में

कोई परिवर्तन न हो सका । इसी प्रकार का एक आन्दोलन उत्तरी ओडकाना के सरगुजा जिले मे एक अशिक्षित गोड स्त्री राजमोहनी देवी द्वारा चलाया गया । परन्तु ये सभी आन्दोलन स्थानीय थे तथा केवल कुछ समय के लिए सीमित क्षेत्रो मे इनके प्रभाव परिलक्षित हुये । फिर भी इन आन्दोलनो क व्यापक साँस्कृतिक प्रभाव हुये और धीरे धीरे गोड संस्कृति मे हिन्दू साँस्कृतिक तत्वो का प्रवेश होता गया ।

बस्तर के हिन्दू राजा का गोड लोगो पर अत्याधिक प्रभाव रहा है । उन्नीसवीं शताब्दी से लगातार बस्तर का राजा गोड लोगो का राजा माना जाता रहा । समय समय पर उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगडो मे राज्य कर्मचारी उत्तराधिकारियो का पक्षपात करते हुये आदिवासियो पर तरह-तरह के अत्याचार करते रहे । इन अत्याचारो के परिणाम-स्वरूप गोड लोगो मे सदैव असन्तोष व्याप्त रहता था । सन 1910 मे बस्तर मे हुई क्रान्ति की पृष्ठभूमि मे यही एक महत्वपूण कारक था । यहाँ तक कि सन 1876 मे भी बस्तर राजमहल मे उत्तराधिकार के झगडे को लेकर ही आन्दोलन हुआ था । उस समय 20 000 आदिवासियो ने जगदलपुर मे राजमहल को घेर लिया था । सन 1910 मे हुये इसी प्रकार के आन्दोलन को शान्त करने मे ब्रिटिश अधिकारियो ने 37 गोड लोगो की हत्या की तथा सैकडो को कैद कर लिया था । यह आन्दोलन मुख्य रूप से हिन्दू प्रवासिया के गोड क्षत्र मे बसने तथा जगलो सम्बन्धी सरकारी नियमो के विरुद्ध था । तत्कालीन राजा को हटाने की राजनतिक पृष्ठभूमि भी इसमे सम्बन्धित थी । ब्रिटिश अधिकारियो ने राजकीय कमचारियो के अत्याचारो की कोई सुनवाई नही की । विवश होकर गोड लोगो को विद्रोह करना पडा । इस विद्रोह मे अधिकाधिक सख्या मे गोड आदिवासियो का सहयोग प्राप्त करने के लिए बडे ही सुसगठित ढग से प्रतीक रूप मे दूर दूर तक भाले तीर कमान आम के पेड की शाखा आदि को भेजकर क्रान्ति का सन्देश भेजा गया ।

सन् 1910 से 1965 तक का समय लगभग शान्तिमय समय व्यतीत हुआ । सन 1951 से 1965 तक राष्ट्रीय सरकार की तीन पचवर्षीय योजनायें पूण हो चुकी थी । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद योजना के विकास कार्यक्रम भलीभांति चल रहे ते । सन 1947 में बस्तर राज्य के अन्तिम राजा प्रवीन चन्द्र ने राज्य सभाला । वे केवल 18 वष के नवयुवक थे । एक वष के बाद सन् 1948 मे भारत सरकार के निश्चय के अनुरूप उन्हें बस्तर राज्य को भारतीय गण राज्य मे मिला देना पडा । प्रारम्भ से ही प्रवीन चन्द्र अपने को महाराजा

के समान समझता था तथा लोगों मे इस धारणा का प्रचार किया करता था कि ईश्वर के बाद उसी की स्थिति आती है, जिससे गोंड आदिवासियों को अपनी ओर आकर्षित कर सके। उसने अपने को हिन्दू अवतारों राम एवं कृष्ण के समतुल्य घोषित करना शुरू कर दिया। सन् 1951 मे उसने कुछ हिन्दू गुरुओं से तन्त्र विद्या की शिक्षा ग्रहण की। आदिवासियों में अपने को लोकप्रिय बनाने के लिए उसने सौ रुपये के नोट बाँटना शुरू किया। एक बार एक रिक्शे वाला जब सौ रुपये का नोट प्राप्त करने गया तो उसने उसका हाथ काट दिया। उसने बस्तर राज्य के भारतीय संघ में विलयन का विरोध करना शुरू किया। उसने यह अनुभव किया कि विलयन से उसका महाराजा का पद सीमित हो गया था और वह केवल सरकारी अधिकारियो के हाथ का एक खिलौनामात्र रह गया था। उसे अपने ऊपर आदिवासियो की श्रद्धा का पूर्ण भरोसा था। उसने कलेक्टर को पत्र लिखकर यह सूचित किया कि यदि उसके राजकीय अधिकार पुन उसे न दिये गये तो आदिवासियो के विद्रोह की सम्भावना हो सकती है। माच 1953 मे तत्कालीन भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद जगदलपुर गये। राजा प्रवीन चन्द्र ने उनसे न मिलकर उनका अनादर किया। चूँकि वह राज्यकोष का दुरुपयोग कर रहा था इसलिए सन् 1953 में उसकी सारी सम्पत्ति कोर्ट आफ वार्डस् के द्वारा ले ली गई। क्षुब्ध होकर वह सम्पूर्ण गोड प्रदेश मे घूम घूम कर आदिवासियो से क्रान्ति के लिए तैयार होने के लिए कहने लगा। इस काय के लिए मध्य प्रदेश सरकार ने उसे कई चेतावनियाँ भी दी। फिर भी वह भारत सरकार का विरोध करता रहा आदिवासियों को आन्दोलन के लिए प्रेरित करता रहा तथा भारत सरकार के विरोध मे देश के अन्य युवराजो को संगठित करने की योजना बनाई। जगदल पुर जिले का मुख्यालय था। अत उसने अपने कल्पित गोड राज्य का मुख्यालय अबूझमाड मे बनाने का विचार किया।

31 माच 1961 के दिन लगभग 10 000 बस्तर के आदिवासी लोहिंडि गुडा मे एकत्रित हुये। पुलिस को उन्हे तितर बितर करने के लिए गोली चलानी पड़ी, जिसमें 12 आदिवासियों की मृत्यु हो गई। प्रवीन चन्द्र ने विधान सभा के चुनाव मे अपने प्रत्याशी खड़े करके कुछ सीटें प्राप्त कर लीं। आन्दोलन को उत्तेजित करने के लिए वह आदिवासियों को अपनी दैविक शक्ति का विश्वास दिलाता रहा। आन्दोलन में साथ न देने पर दन्तेश्वरी देवी के प्रकोप का भय दिखाया। विशेषकर आदिवासियो पर इस युक्ति का प्रभाव अधिक पड़ा। परिणामस्वरूप अक्सर आठ हजार से दस हजार तक

आदिवासी स्त्रियाँ सामूहिक रूप से जगदलपुर मुख्यालय पर धरना देने लगीं। इन घटनाक्रमों के परिणामस्वरूप 10 मार्च सन् 1966 को उसके अनुयायी पुलिस से मुठभेड कर बैठे, जिसमे प्रवीन चन्द्र एव कई आदिवासियों की मृत्यु हुई।

बस्तर की यह क्राति प्रमुख रूप से प्रवीन चन्द्र के पागलपन का ही परिणाम थी तथा इसका प्रभाव क्षेत्र केवल मारिया तथा मुरिया गोड लोगो तक ही सीमित था। वैसे इसे किन्ही अर्थों मे राजनैतिक क्रान्ति कहा जा सकता है किन्तु किसी भी आधार पर बिहार एव असम के आदिवासियो मे हुये आन्दोलनो से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। प्रवीन चन्द्र ने आन्दोलन के जो भी प्रयास किये वे व्यक्तिगत स्वार्थ से पूर्ण थे अत बिरसा मुडा सिद्धू सन्थाल तथा श्रीराम राजु आदि आदिवासी क्रान्तियो के प्रणेताओं के समकक्ष उन्हे नही माना जा सकता।

असम

बिहार की भाँति असम प्रदेश भी आदिवासी विद्रोहो एव क्रांतियो का प्रमुख केन्द्र रहा है। ब्रिटिश प्रशासन को असम प्रदेश मे अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए निरन्तर काफी समय तक आदिवासी प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। एल्विन द्वारा सम्पादित पुस्तक Nagas in the 19th Century के अध्ययन से ही पता चलता है कि केवल नागा आदिवासियो से ही ब्रिटिश प्रशासन को पूरी शताब्दी भर सघषरत रहना पड़ा। सन् 1852 से 57 के मध्य गारो आदिवासियो का विद्रोह हुआ। लुशाई तथा कुकी लोगो ने निरन्तर 1892 तक विद्रोह जारी रखा। असम के पर्वतीय प्रदेशो पर ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना के बाद से ही ईसाई मिशनरी इन क्षेत्रो मे व्यवस्थित रूप से सक्रिय हो गये। जहाँ एक ओर मिशनरियो ने युगो से उपेक्षित इन क्षेत्रो मे शिक्षा एव चिकित्सकीय सुविधाओ का प्रसार किया वहाँ दूसरी ओर वे उनके सास्कृतिक जीवन मे भी हस्तक्षेप करने लगे। हम पहले ही यह बता चुके हैं कि असम की आदिमजातीयो मे स्वतन्त्र निरकुश जीवन व्यतीत करने की भावना अत्यन्त तीव्र रही है। अत किसी भी रूप मे राजनैतिक हस्तक्षेप साधारणतया उनके आन्दोलनों का प्रमुख कारण रहा है। मिशनरियो की उपस्थिति के कारण शिक्षित वर्गों की वृद्धि होती गई किन्तु शिक्षा के प्रसार से उनके स्वतन्त्र राजनैतिक दृष्टिकोण में कोई परिवतन नहीं आया। देश के स्वतन्त्र होने के बाद कुछ विशेष वर्ग

मिशनरियों ने आदिवासियों के दृष्टिकोण को समर्थन प्रदान किया। परिणाम स्वरूप भारत स्वतंत्रता प्राप्ति के अट्ठाइस वर्षों के उपरान्त भी असम आदिवासी अशान्ति का केन्द्र बना हुआ है। इस सन्दर्भ में मिजो एवं नागा आदि वासियों की आन्दोलनात्मक गतिविधियाँ अधिक महत्वपूर्ण रही हैं।

मिजो विद्रोह

लुशाई अपने निवास क्षेत्र को मिजोराम कहते हैं और मिजोराम के निवासी ही मिजो आदिवासी कहे जाते हैं। लुशाई पहाड़ियां दक्षिण तथा दक्षिणपूर्व में बंगला देश तथा बर्मा की सीमाओं से मिली हुई हैं। इन पहाड़ियों मे समय-समय पर चीन के उत्तर पश्चिम की ओर से प्रवासी आकर बसते गये। आज इस पर्वतीय प्रदेश के निवासियों की एक भाषा तथा संस्कृति है। सन् 1880 तक मिजो आदिवासी एक सुसंगठित समाज एवं संस्कृति मे अपने वर्तमान स्वरूप मे आ चुके थे। समय-समय पर मिजो लोग तत्कालीन ब्रिटिश राज्य के अन्तगत भारतीय भू भाग पर आक्रमण किया करते थे। परन्तु कभी भी इन आक्रमणो के राजनैतिक उद्देश्य नही रहे। परन्तु समय समय पर इन आक्रमणों से त्रस्त होकर ब्रिटिश सरकार ने सैनिक कार्यवाही की और सन् 1890 तक लुशाई पहाड़ियो का क्षेत्र ब्रिटिश प्रशासन के अन्तर्गत आ गया। मिजो आतंक पर नियन्त्रण पाने के लिए ब्रिटिश सरकार को बर्मा सरकार का सहयोग भी लेना पड़ा था। ब्रिटिश प्रशासन की स्थापना होते ही ईसाई मिशनरियो की गतिविधियां आरम्भ हो गई। शिक्षा एवं चिकित्सकीय सुविधायें प्राप्त होने लगीं। उन्हें यह आश्वासन दिया जाने लगा कि मिश-नरियो द्वारा दी जाने वाली शिक्षा प्राप्त कर लेने तथा ईसाई धर्म अपना लेने पर उन्हें सरकारी सुविधायें दी जायेंगी और इस प्रकार उन्हें शारीरिक श्रम से छुटकारा मिल जायगा। इस सबका परिणाम यह हुआ कि सन् 1942 में जापानी सेनाओ द्वारा असम पर जब आक्रमण किया गया तो लगभग 300 मिजो सरदारो ने ब्रिटिश सरकार को संगठित रूप से सहयोग दिया।

नागा एवं मिजो विद्रोह देश के अन्य भागों के आदिवासी विद्रोहों से सर्वथा भिन्न हैं। अन्य क्षेत्रों के विद्रोह सामान्यतः बाह्य तत्वों के रूप में आर्थिक शोषकों के विरुद्ध हुए जिन्हें अंग्रेजी सरकार का प्रश्रय था। इसलिये उन्होंने अंग्रेजों के प्रशासन का भी विरोध किया। किन्तु मिजो तथा नागा

आदिवासी विद्रोह विशुद्ध राजनैतिक कारकों के परिणाम थे। सदियों से स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर रहे इन आदिवासियों को किसी भी प्रकार का राजनैतिक हस्तक्षेप असह्य हो गया। निरन्तर सघर्षों की परम्पराओं में पले इन आदिवासियो मे आत्म सम्मान की भावना अत्यन्त तीव्र थी। अत किंचित मात्र आत्म-सम्मान पर आघात होते ही युद्ध एव सघष इनकी सस्कृतियो की विशेषता रही है। घने जगलो एव दुगम पहाडी क्षेत्रो ने इनकी युद्ध प्रवृत्तियो को और भी प्रोत्साहित किया। क्योकि इन क्षेत्रो से चिर परिचित होने के कारण दुश्मन की सेनाओ से बचते रहना सरल हो जाता है। सन 1947 मे देश के स्वतन्त्र हो जाने के उपरान्त नागा तथा मिजो आदिवासियो मे राज नैतिक अशान्ति का एक प्रमुख कारण भारत के विरोधी चीन तथा तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान का सक्रिय सहयोग रहा है। स्वतत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार द्वारा अत्यधिक परिमाण मे कल्याणकारी कार्यक्रमो के सचालन एव आर्थिक सहायता के बावजूद भी इन्हे शान्त न किया जा सका। भारत सरकार ने इन आदिमजातियो को तरह-तरह की वधानिक सुविधाये प्रदान की प्रजातत्रात्मक प्रणाली के गठन का प्रयास किया—किन्तु इन सारे प्रयासो के बावजूद भी इनके विद्रोह चलते रहे।

प्रारम्भिक अवस्था मे कुछ वर्षों तक तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान और बर्मा के निकटवर्ती क्षत्र मिजो लोगो के सघष मे सहायक रहे जहाँ आतकवादी अराजक तत्व सरलता से शरण ले लेते थे। किन्तु भारत सरकार के सतर्कता पूण व्यवहार से देश भक्त मिजो लोग इन आतकवादियों से अपने को मुक्त अनुभव करने लगे। उन्होने भारतीय सुरक्षा सेनाओ की सहायता करना शुरू किया। देश भक्त मिजो लोगो को घने जगलो मे स्थित स्थानो से हटाकर सडको के किनारे नियोजित ढग मे विशेष रूप मे विकसित स्थानो मे रहने की सुविधा प्रदान की गई। इन उपनिवेशो मे उनकी सुरक्षा तथा देख रेख सरलता से की जा सकती थी। अपने को मिजो आदिवासियो का नेता मानने वाले (कथित प्रेसिडन्ट) लाल डेंगा की आकांक्षाओ एव आशाओ के अनुरूप मिजो विद्रोह सफल न हो सका तथा उन्हे स्वय अपनी रक्षा जगलो में छिप कर करनी पडी। परिणाम-स्वरूप शिलांग, गौहाटी तथा कलकत्ता विश्वविद्यालयो मे शिक्षित व्यक्तियो के द्वारा जनित एक स्वतत्र प्रभुसत्तापूर्ण अस्तित्व वाले मिजोराम की कल्पना अधिकाश मिजो लोगो को आकर्षित न कर सकी। अधिकाश मिजो समुदायो के बडे-बूढे परम्परागत नेता अपने अतीत के विद्रोहो एव क्रान्तियो के अनुभवो को अभी भूले नहीं थे। अत इस स्वप्न के

साकार होने की उन्हें किंचित मात्र भी आशा नही थी। प्रारम्भ में लगभग 320 मील लम्बाई मे फैले 8134 वर्गमील के मिजोराम क्षेत्र में भारतीय सुरक्षा सेनाओं का कोई भी सहायक नहीं था। इस क्षेत्र के एकमात्र 196 मील लम्बे ऐजल-लुंगलेह मार्ग पर निरन्तर आक्रमण होते रहते थे। यह मार्ग घने जंगलों तथा घुमावदार पहाड़ो से होकर गुजरता है। इन्हीं जंगलों में विद्रोहियो ने अपने अड्डे बना रखे थे जो कि चीन में गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके थे। इस युद्ध में उन्हें विद्रोही नागाओं से भी सहायता प्राप्त होती रहती थी। विद्रोही मिजो लोगों के अध्यक्ष लाल डेंगा ने अपनी अनधिकृत मिजोराम सरकार का केन्द्र इसी क्षेत्र में बना रखा था।

भारतीय सुरक्षा सेनाओं के सतत प्रयत्नों तथा कालान्तर मे देशभक्त मिजो लोगो की सहायता से विद्रोहियो का आतंक तथा उनकी शक्ति धीरे धीरे समाप्त होने लगी तथा शीघ्र ही उनके प्रभाव से ऐजल लुंगलेह डेमागिरी आदि कई महत्वपूर्ण केन्द्रो को मुक्त करा लिया गया। सुरक्षा सेनाओं द्वारा मिजो क्षेत्र मे शान्ति एवं सुरक्षा की दिशा में किये गये प्रयास अत्यन्त सराहनीय हैं। घने जंगलो मे बसे छोटे छोटे गावो से लोगो को हटाकर संचार सुविधाओ से युक्त बडी-बडी बस्तियो मे बसाने का कार्य अत्यन्त कठिन था, किन्तु इस कार्य के अच्छे परिणाम प्राप्त हुये। यदि ये विद्रोही चीनी अथवा पाकिस्तानियो की भाँति विदेशी शत्रु होते तो सेना का कार्य अत्यन्त सरल हो जाता। इस छोटे से क्षेत्र में हमारी सुरक्षा सेनाओ को इतना अधिक समय लगा इसी से स्पष्ट हो जाता है कि सेनाओं को अपना कार्य कितनी सावधानी से करना पड़ा। अपने देश के ही नागरिको के विरुद्ध क्रूर व्यवहार भारत सरकार की नीतियो के विरुद्ध था। अभी हाल मे ही पूर्वी पाकिस्तान के स्थान पर बंगला देश की स्थापना ने हमारे कार्य को और भी सरल बना दिया है। विद्रोहियो के स्वप्न साकार होने की सम्भावना समाप्तप्राय हो चली है। आज मिजो जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप मिजोराम भारतीय गणतन्त्र के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र प्रान्त है और देश के अन्य भागो की भाँति सुनियोजित विकास कार्यक्रम वहाँ भी चल रहे हैं। लगभग 105 छोटे-छोटे गाँवों को समाप्त करके 12 हजार परिवारों मे रहने वाले लगभग 60,000 मिजो लोगों को 18 उपनिवेशों मे बसाया जा चुका है, जहाँ उन्हें सभ्य एवं आधुनिक जीवन की सभी सुविधायें प्राप्त हैं।

नागा विद्रोह

सामान्यत नागा आदिवासी गरीब किन्तु गौरवशाली लोग हैं। आर्थिक दृष्टि से गरीब होते हुये भी उनका नैतिक स्तर उच्च कोटि का है। नागा पर्वतीय प्रदेश जिसे अब नागालण्ड नाम दिया जा चुका है, बर्मा की सीमाओ से सलग्न भारत का उत्तरी–पूर्वी सीमांत प्रदेश है। आवागमन के दुगम साधनों वाला यह प्रदेश जगली एव पहाडी प्रदेश है जहाँ अत्यधिक परिमाण मे वर्षा होती है। जगलो मे झूम कृषि ही उनका एकमात्र महत्वपूर्ण आर्थिक आधार है।

उन्नीसवी शताब्दी मे असम के उपजाऊ मैदानी क्षेत्रो से आकर्षित होकर आहोम राजाओ ने धीरे धीरे नागा क्षेत्र तथा आसपास के अन्य आदिवासी क्षेत्रो पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। पिछले सौ वर्षों के समय मे तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने घोर सघर्षों के उपरात अधिकार करने के बाद इस क्षेत्र के विकास की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया। अग्रेजों के सरक्षण मे ईसाई मिशनरी शिक्षा एव चिकित्सकीय सुविधाओ का प्रसार करके धर्म परिवर्तन का कार्य करते रहे। मिशनरियो के प्रभाव के कारण ही साढे तीन लाख की जन-सख्या वाले इस प्रदेश मे लगभग 14 46 प्रतिशत साक्षरता है। नरमुड–शिकार जहा इनके सस्कारो का एक अग था वही सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक भी था। निरन्तर पीढियो तक चलने वाली वैमनस्यता, पारस्परिक सघष एव युद्ध नागा सास्कृतिक परम्परा के अग बन चुके हैं। इनके सामान्य जीवन मे जहाँ सौदय–पूण रुचिया है वही सदियो से युद्ध एवं सघष की परम्परा ने इनका स्वभाव क्रूर बना दिया है। इनकी ग्राम परिषदें प्रशासन बधानिक एव न्यायिक इकाइयो के रूप मे काय करती हैं तथा परम्परायें ही उनका कानून होती है।

सन 1885 मे सर्व प्रथम ब्रिटिश सरकार ने आओ नागाओ पर अधिकार स्थापित किया। स्वतत्रता स्वाभिमान एव स्वेच्छाचारिता, आम नागाओ की स्वाभिविक विशेषताय है। सर्वदा अशात रहने वाले नागा किसी प्रभुता के समक्ष सिर झुकाने में अपमान एव निरस्कार का अनुभव करते हैं। अपने से अत्यधिक शक्तिशाली विरोधी से बिना युद्ध किये हार मान लेना उनके स्वभाव के प्रतिकूल है। ब्रिटिश सरकार से पूर्व अपनी स्वतत्रता मे हस्तक्षेप करने पर मुगलो एव आहोम राजाओं से भी इन्होने व्यापक स्तर पर युद्ध किये। ब्रिटिश सरकार से निरन्तर सौ वर्षों तक सघर्ष होते रहे। इन

संघर्षों में अपने परम्परागत हथियारों के साथ साथ ब्रिटिश सैनिकों की भांति नागाओं ने भी बंदूकों आदि का प्रयोग किया। जंगलों तथा पहाड़ों की पृष्ठ भूमि में अक्सर उनकी गुरिल्ला युद्ध ब्रिटिश सेनाओं के लिये एक कठिन समस्या बन जाया करता था।

द्वितीय महायुद्ध के समय कुछ समय तक के लिये जापानी सेनाओं ने कोहिमा को घेर लिया था। सारे नागा क्षेत्र मे काफी सख्या में जापानी सैनिक फैल गये थे। इनके संपर्क में आकर इन लोगो ने आधुनिक युद्ध प्रणाली का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था तथा बाद मे भागती हुई जापानी सेनाओं ने अपार युद्ध सामग्री इस क्षेत्र में छोड दी थी। आज विद्रोही नागाओं के रूप मे क्रियाशील समूह द्वितीय महायुद्ध काल के युद्ध कला के अनुभवी नागाओं की विरासत हैं। यही कारण है कि आज वे देश के शत्रुओ से भी हथियार एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने में जरा भी नही हिचकते।

देश के स्वतत्र हो जाने के पश्चात आज भी नागालैण्ड अशांत है। मिजो-राम की ही भांति नागालैण्ड मे विद्रोही तथा देशभक्त नागाओं के वर्ग हैं। इस मे कोई संदेह नही कि विद्रोह की लहर कुछ थोडे से ही नागाओं में व्याप्त है। अधिकांश नागा आज हमारी प्रजातांत्रिक प्रणाली पर आधारित शासन व्यवस्था में सक्रिय सहयोग दे रहे है। किन्तु कुछ थोडे से विरोधियो का समूह भारत सरकार के समक्ष एक राजनैतिक समस्या बना हुआ है। पिछले दस वर्षों के समय मे इनकी राष्ट्र विरोधी गतिविधियाँ अधिक सक्रिय हुई हैं तथा हमारे पडोसी शत्रुओ ने इन्हे प्रोत्साहित करने मे पूरा सहयोग दिया है। अत्यत उग्र विद्रोहो के बावजूद भी भारत सरकार ने अत्यंत सहिष्णुता एवं सहनशीलता का परिचय दिया है। उनके सशस्त्र आक्रमणों, तोड फोड तथा लूटमार की गतिविधियो के बावजूद भी भारत सरकार ने परस्पर बात चीत तथा सपर्क के आधार पर समस्या का समाधान करने के प्रयत्न किये हैं। विद्रोही नागा नेता फीजो इस समय इगलैंड मे रह रहे हैं और इन्हें कुछ मिशनरियो का सहयोग प्राप्त है। नागा जाति के स्वतत्र अस्तित्व के संबंध में फीजो के विचार अत्यत विस्फोटक हैं। उन्हीं के निर्देशों के आधार पर विद्रोही नागाओं ने अपनी एक अवैधानिक सरकार बना ली है। इस अवैधानिक सरकार का एक मुख्यालय भी है तथा अपनी सेना भी है। विदेशियों से आर्थिक सहायता प्राप्त करके तथा देशभक्त नागाओ की लूट पाट करके वे अपनी कथित नागालैण्ड संघात्मक सरकार चला रहे हैं जिसकी अपनी संसद है, तथा प्रेसीडेंट, वाइस प्रेसिडेंट तथा सुप्रीमकोर्ट आदि हैं। यह भी सम्भव है

कि नागालैंड विकास योजना के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित बीस करोड़ रुपयो की धनराशि का एक अश अवैधानिक रूप से राष्ट्र विरोधी तत्वों के माध्यम से इनके पास पहुच गया हो। पिछले आठ वर्षों मे भारत सरकार ने इस अवैधानिक रूप से गठित तथा कथित भूमिगत सरकार से युद्ध विराम संधि के एक पक्षीय वादे का निर्वाह किया। इस बीच भारतीय सेनाओ की गतिविधियाँ केवल सुरक्षात्मक ही रही हैं। किन्तु सन् 1972 के मध्य में नागालैंड मे नई सरकार के चुनाव हो जाने के उपरान्त भूमिगत नागा विद्रोहियो की हिंसात्मक गतिविधियो मे तीव्रता आ गई और यहा तक कि उन्होंने नव निर्वाचित मुख्यमत्री पर घातक आक्रमण करने की भी चेष्टा की। भारत सरकार इन घटनाओ के प्रति जागरूक थी। परिणाम स्वरूप सन् 1972 के सितम्बर मास मे युद्ध विराम सन्धि को समाप्त कर दिया गया। विद्रोही नागाओ से सम्पर्क रखने वाले सभी राजनैतिक दलो को अवैधानिक घोषित किया जा चुका है तथा छिपे हुए विद्रोहियो के ठिकानो पर सैनिक कायवाही करने के आदेश दिये जा चुके है। इन आदेशो के अच्छे परिणाम दिखाई दिये। अक्टूबर मास मे भी लगभग 590 विद्रोही नागाओ ने आत्मसमपण किया तथा उनसे प्राप्त सूचनाओ के आधार पर नागालड के भूतपूर्व प्रधान मत्री श्री टी० एन० अगामी को उक्त हिंसात्मक गतिविधियो के सन्दभ मे गिरफ्तार कर लिया गया।

नागा समस्या एक राजनतिक समस्या अवश्य है किन्तु इस समस्या का राजनतिक अथवा सनिक समाधान सम्भव नही है। वास्तव मे सदियो से अशान्ति असुरक्षा एव पारस्परिक वमनस्यता के वातावरण मे रहते रहते नागा आदिवासियो का जीवन दशन कुछ विचित्र सा हो गया है। इनकी समस्या के समाधान के लिए उदारतापूण दृष्टिकोण होना अत्यन्त आवश्यक है। देश के स्वतन्त्र हाने स पूव कभी किसी ने इनकी समस्याओ को समझने का प्रयास नही किया। इन्हे सदा उपेक्षित रखकर बर्मी शासको, असमियो तथा ब्रिटिश प्रशासको ने क्रम से केवल अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा की तथा कठिनाई पडने पर युद्धो एव सघर्षों से उनका स्वागत किया। जब पूर्वी पाकिस्तान की स्थापना हुई तथा एशिया मे एक महान शक्ति के रूप मे हमारी सीमाओ से सलग्न कम्युनिस्ट चीन का अभ्युदय हुआ तभी इनका राजनैतिक महत्व उभर कर सामने आया। इस समय तक उन्हें केवल ईसाई मिशनरियो की सहानुभूति प्राप्त हो पाई थी जिनकी सुविधायें केवल धर्म परिवतन एव सास्कृतिक बलिदान पर ही प्राप्त हो सकती थी। ईसाई मिश

नरियों का दृष्टिकोण भले ही संकुचित रहा हो, किन्तु अपने जीवन को खतरे में डालकर मानवीय दृष्टिकोण अपनाते हुए इस बीहड़ क्षेत्र में रहकर वे डेढ़ सौ वर्षों तक धैर्य एव साहस से कार्य करते रहे तथा शिक्षा एवं चिकित्सकीय सुविधायें प्रदान की उनके इस कार्य की सराहना किये बिना नहीं रहा जा सकता। हमारे पास तथ्य नहीं हैं, किन्तु हम यह जानते हैं कि कितने ही मिशन-रियो को अपने जीवन से हाथ धोना पडा। यद्यपि बाइबिल के सिद्धान्तो, गिरजाघरो की घटियो तथा मोमबत्तियों के धूमिल प्रकाश ने शान्ति की भूमिका स्थापित करने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा मिशनरियों के मानवीय दृष्टिकोण ने किसी सीमा तक इनकी क्रूरता का शमन करने मे सहायता दी फिर भी उनके स्वभाव मे अपेक्षित परिवर्तन नही आ सके। अग्रेजो के भारत छोडने के उपरान्त ईसाई मिशनरियो को धर्म निरपेक्ष भारत मे अपने धर्म परिवतन के कार्यों के चलते रहने पर सन्देह हुआ। परिणामस्वरूप कुछ मिशनरियो ने भारतीय नियत्रण के विरुद्ध उन्हे भडकाने का कार्य शुरू किया। मिशनरी माइकेल स्काट की गतिविधियाँ इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय हैं। भारत एव नागालैड के भविष्य मे सम्बन्धो के बारे मे स्काट की यह धारणा रही है कि नागालैड की स्थिति नेपाल एव भूटान के समान होनी चाहिए। कुछ ही समय पूर्व नागा विशेषज्ञ हटन ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि नागा समस्या का समाधान नागालैड के स्वतन्त्र अस्तित्व मे नहीं है—ऐसा राष्ट्र एक निश्चित असम्भाविता है। नागा समस्या के समाधान मे भारत सरकार ने जिस उदारता का परिचय दिया है वह किसी भी राष्ट्र के इतिहास मे अद्वितीय है।

वास्तव मे असन्तुष्ट विद्रोही नागाओ की अपनी कोई समस्या नही है, अत समाधान का प्रश्न ही नही उठता। नागालैंड के विद्रोही नागाओ के छोटे से वर्ग का व्यवहार भारत सरकार के लिए एक समस्या है। इन व्यवहारो के कारक आन्तरिक न होकर बाह्य हैं तथा सांस्कृतिक न होकर राजनैतिक है। यही समस्या का महत्वपूर्ण पक्ष है। स्वतत्र भारत के अन्तर्गत नागालैड भी प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। नई पीढ़ी के समक्ष जीवन का जो स्वरूप उभर कर सामने आ रहा है वह उनके जीवन दर्शन को परिवर्तित किये बिना नही रह सकता। यही इस समस्या का समाधान होगा।

आदिवासी विद्रोहों एव क्रान्तियों का इतिहास सामाजिक अन्याय एवं आर्थिक शोषण के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं का ही इतिहास है। भारत के

संविधान में हमने इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए उनके अधिकारों एवं कल्याण के प्रति अपनी जागरूकता का परिचय दिया है। देश के अन्य नाग-रिकों की भाँति उन्हे भी मताधिकार प्रदान करके देश के नव निर्माण में उनके प्रयोजन का अनुभव किया है। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर आज भी निहित स्वार्थ अपने परिवर्तित स्वरूपो मे हमारे प्रयासो को विफल कर रहे हैं। यह एक चिन्ता का विषय है। यदि अतीत के अनुभवो से हम कोई भी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं तो हमे इस तथ्य को ध्यान मे रखना होगा।

● ●

7

आदिवासी धर्म

विश्वासो का जगत मनुष्य की आकांक्षाओ एवं अपूर्ण तथा अतृप्त अभिलाषाओ को मूर्तिमान करता है। मनुष्य का विकसित मानसिक क्षेत्र ही विश्वासो को जन्म देता है। हमारे आदिवासी अरस्तू एवं सुकरात की भांति भले ही चिंतन न कर सकते हो, किन्तु जीवन की वास्तविकताओ से विक्षुब्ध होने पर उनके मानस में भी चिंतन का स्रोत उमड़ता है और विश्वासो को जन्म देता है। इन्हीं विश्वासो के सहारे उनकी कल्पनायें साकार होती हैं। कुछ पा लेना धर्म का उद्देश्य नहीं होता है। कुछ पा लेने की आशा में अभाव को भुला देना ही धर्म की परम उपलब्धि है। इस अध्याय में हम आदिवासियों के मानस के इसी पक्ष की विवेचना करेंगे जिसे 'आदिवासी धर्म' की संज्ञा दी गई है।

उन्नीसवी शताब्दी मे आदिवासी धम पर अपने विचार प्रकट करते हुये टाइलर ने सब प्रथम आदिम समाजो में भी धार्मिक प्रवृत्तियो की विद्यमानता स्वीकार की थी। इससे पूर्व साधारणतया धम को सभ्य समाजो की ही विशेषता माना जाता था। धर्म शब्द की परिभाषा क्या हो इस सम्बन्ध मे अनेक मत हैं। इस शब्द की विभिन्न परिभाषाओं मे अन्तर धर्म के मूल तत्व के सम्बन्ध मे न होकर धर्म के उद्देश्य एव काय व्यापक अथवा संकुचित क्षेत्र आदि तक ही सीमित हैं। धम का सम्बन्ध विश्वासो के जगत से होने के कारण यह मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियो का परिणाम है और प्रत्येक स्तर की सस्कृति का अभिन्न अग है। यही तथ्य मानव जीवन से इसके घनिष्ट सम्बन्ध को स्पष्ट कर देता है। विज्ञान एव प्रौद्योगिकी के सहारे निर्मित प्रत्यक्ष एव दृश्य जगत मनुष्य की क्षमताओ से सीमित होता है किन्तु विश्वासो का जगत असीम होता है। वास्तविक जीवन की सीमायें जब मनुष्य की आकाक्षाओ एव अभिलाषाओ को अवरोधित करती हैं ता विश्वासो का विशाल जगत उसे सरक्षण प्रदान करता है। यह सरक्षण केवल मानसिक होता है और इसके परिणाम मनोवैज्ञानिक एव व्यावहारिक होते हैं।

दृश्य जगत से परे किसी जगत की कल्पना तथा किसी पारलौकिक सर्वशक्तिमान चमत्कारिक शक्तियो में विश्वास प्रत्येक धर्म की आधारशिला है। वास्तविकताओ से परे कल्पनाओ का यह जगत मनुष्य के मानस की एक आदर्श व्यवस्था के रूप मे कार्य करता है जिससे मनुष्य प्ररणा लेता है। सभी धर्मों मे इस आदश व्यवस्था तक पहुचने का एक विधान होता है। अधि प्राकृतिक सवशक्तिमान शक्तियो मे आस्था व्यक्त करके मनुष्य अपनी सभी अपूण मनोकामनाओ की पूर्ति की आशा करता है। इन शक्तियो में विश्वास के साथ ही साथ कर्मकाडो एव अनुष्ठानो का एक विधान भी जुडा होता है जिनके माध्यम से मनुष्य इन शक्तियो का आवाहन करके उनका ध्यान कर के उनको अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करता है। केवल विश्वास धर्म को एक सक्रिय एव उपयोगितावादी रूप नही दे पाते। अनुष्ठानो का विधान धम को व्यावहारिक रूप प्रदान करता है। अत अदृश्य आध्यात्मिक एव पारलौकिक विधान ही धम कहलाता है।

मानव सस्कृति के एक विश्वव्यापी तत्व के रूप मे धर्म सभी संस्कृतियों मे पाया जाता है। जब हम सभ्य एव आदिम समाजों एवं सस्कृतियों के धर्म मे अन्तर स्थापित करते हुए आधुनिक धर्म एव 'आदिम धर्म शब्दो का प्रयोग करते हैं तो यह अन्तर गुणात्मक आधार पर नहीं होता। धम की

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार सभी धर्मों में विश्वासों एवं उनसे सम्बन्धित अनुष्ठानों के तत्व समान रूप से पाये जाते हैं। विश्वास मानसिक कल्पना का परिणाम है। जैसे-जैसे हम आदिम समुदायों से सभ्य समुदायों की ओर आते हैं ज्ञान विज्ञान, तर्क आदि बौद्धिक क्षमताओं में अन्तरों के परिणामस्वरूप उन पारलौकिक शक्तियों एवं मान्यताओं के स्वरूपों में अन्तर आते जाते हैं, जिनके प्रति लोग अपनी आस्थायें व्यक्त करते हैं। अपेक्षाकृत प्रबुद्ध लोगों की मान्यताओं में दार्शनिकता का पुट होता है। आदिम लोगों का कल्पना क्षेत्र उनके वास्तविक पर्यावरण से सीमित होता है। चिंतन के अभाव के कारण यह क्षेत्र उतना व्यापक नहीं होता जितना प्रबुद्ध वर्ग के सभ्य समुदायों मे होता है। यही पर दोनो की मान्यताओं मे स्वरूपात्मक अन्तर आ जाते हैं। किंतु गुणात्मक आधार पर दोनों के विश्वासों का उद्‌भव समान मानवीय प्रवृत्तियो से ही होता है। इसके साथ ही साथ विश्वासो को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का अनुष्ठानिक विधान क्या हो यह भी एक अन्तर का विषय है। यहाँ अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अधिक महत्वपूर्ण होती है। दूसरे शब्दो में आदिम एव सभ्य समाजों के धर्म धम की दो जातियाँ नही मानी जा सकती जो एक दूसरे से भिन्न हो।

आदिम समुदायो के धर्म स्वरूप की व्याख्या अनेक मानववैज्ञानिकों ने अपने-अपने अनुभवो के आधार पर की है। जहाँ एक ओर टाईलर ने आत्मा एव प्रेतात्माओ के रूप मे पारलौकिक शक्तियो मे विश्वास को आदिम धर्म की विशेषता माना है वही कार्डिंगटन, मैरेट तथा एन्ड्रयू लैंग आदि अनेक मानव वैज्ञानिको ने एक निराकार सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापी शक्ति मे विश्वास को धर्म का आदि स्वरूप माना है। विभिन्न आदिम संस्कृतियो में पारलौकिक शक्तियो के स्वरूप में भिन्नतायें पाई जाती हैं। स्वरूपात्मक अन्तरो के साथ ही साथ इन शक्तियो के स्वभाव भिन्न होते हैं। अत किसी एक प्रकार के विश्वासो के आधार पर सभी आदिम धर्मों को किसी एक नाम से नामांकित अथवा किसी एक धर्म में वर्गीकृत नही किया जा सकता।

भारतवर्ष मे आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व तक धर्म के आधार पर आदिम संस्कृतियो को सभ्य समुदायो से अलग करते हुए प्रेतात्मावादी (animist) कहा गया। उनके धर्म की इसी विशेषता के आधार पर जन-गणना प्रतिवेदनों मे उन्हें सभ्य संस्कृतियों के बहुसंख्यक हिन्दुओ एवं अन्य धर्मावलम्बियों से पृथक रूप में वर्गीकृत किया गया। आदिमजातीय धर्म को प्रेतात्मावादी सम्बोधित करते हुये यह माना गया कि उनके धार्मिक विश्वासो

मे जादू का कुछ अधिक होता है। ऐसे विश्वासों मे मनुष्य को अनेक प्रकार की प्रेतात्माओं के ससर्ग मे अपना जीवन व्यतीत करना होता है और इन्हें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का नियंत्रक माना जाता है। इनके प्रभाव क्षेत्रों में आनेवाली विपत्तियो से मुक्ति पाने के लिए आदिमजातीय समुदायों में पूजा, अर्चना, बलिदान आदि से उन्हे प्रसन्न रखने की चेष्टा भी की जाती है। कुछ प्रेतात्माओ को कृषि मे उत्पादन के लिए उत्तरदायी माना जाता है। अत नाना प्रकार के विघ्नो एव बाधाओ से फसल की रक्षा के लिए उत्पादन मे वृद्धि के लिए, समय समय पर इन प्रेतात्माओ की पूजा आदि की जाती है। किसी पडोसी आदिमजाति अथवा किसी भी अन्य समुदायो की प्रेतात्मायें जीवन मे कोई व्यतिक्रम न उत्पन्न कर सकें, इसके लिए भी लोग समय समय पर सक्रिय रूप से धार्मिक अनुष्ठानो मे भाग लेते हैं। धर्म की इन्ही सामान्य विशेषताओ पर भारतीय आदिमजातियो को प्रेतात्मावादी कहा गया है। परन्तु धर्म के आधार पर सभ्य एव आदिम समुदायो के इस अन्तर के प्रति यसम समय पर आपत्तिया भी उठाई गई हैं। सन् 1891 के जनगणना आयुक्त जे० ए० बेस ने हिन्दू धम अपना लेने वाली आदिमजातियो एवं परम्परागत धम का पालन करने वाली आदिमजातियो की धार्मिक गतिविधियो मे अन्तर स्थापित करना निरथक समझा। सन् 1901 मे तत्कालीन बम्बई प्रान के जनगणना अधीक्षक एन्थोवेन ने प्रेतात्मावादी कहे जाने वाले आदिम समुदायो एव सभ्य हिन्दुओ मे धम के आधार पर अन्तर स्थापित कर सकना कठिन एव अव्यावहारिक माना। सर हर्बट रिजले ने हिन्दू धर्म एव प्रेतात्मावाद की अव्यावहारिक सीमा रेखा की विवेचना करते हुये कहा कि दार्शनिकता द्वारा रूपांतरित प्रेतात्मावाद ही हिन्दू धर्म है। आदिमजातीय धम मे जादू के अतिशय महत्व को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि जब आदिम धम मे जादू का स्थान तत्व ज्ञान लेने लगता है तो वह रूपातरित हो कर हिन्दू धर्म हो जाता है। इन कथनो से यह स्पष्ट है कि आदिमजातियो एव सभ्य समाजों समुदायो मे वर्गीकृत किये जाने वाले हिन्दुओ के धर्म मे गुणात्मक आधार पर स्पष्ट रूप से अन्तर स्थापित कर पाना कठिन है। वस्तुत भारतीय आदिम जातियो मे पडोसी बहुसख्यक हिन्दू सस्कृति सम्पर्कों के परिणामस्वरूप सबसे पहले उनका धम ही सस्कृतीकरण के प्रभाव क्षेत्र मे आया। इसके अन्य कारण भी हो सकते है किन्तु एक प्रमुख कारण यह भी रहा है कि दोनों के धर्मों मे कोई मूलभूत अन्तर नही है। यहाँ तक कि सन् 1911 मे तत्कालीन बम्बई प्रात के जनगणना अधीक्षक सेम्बिक ने यह सुझाव दिया कि प्रेतात्मावादी

सम्य द्वारा सम्बोधित एवं वर्गीकृत किये जाने वाले आदिमजातीय समुदायों को हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही माना जाये। इन्हीं आपत्तियों एवं सुझावों से प्रेरित होकर 1921 के जनगणना आयुक्त जे० टी० मार्टिन ने धर्म ही कहना अधिक उचित समझा। सन 1931 के जनगणना आयुक्त जे० एच० हट्टन ने हिन्दू धर्म एवं आदिमजातीय धर्म के अन्तरों पर प्रकाश डालते हुये कहा कि आदिमजातीय धर्म उस अतिरिक्त सामग्री के समान है जिसका प्रयोग हिन्दू धर्म रूपी मंदिर को गढ़ने में अभी भी नहीं किया जा सका है।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्य कहे जाने वाले अन्य भारतीय समुदायों के धर्म से आदिमजातीय धर्म को विभेदित करने के लिए ही जनगणना अधिकारियों ने प्रेतात्मावाद शब्द का प्रयोग किया। वास्तव मे देश के सभी भौगोलिक क्षेत्रों मे स्थित आदिमजातियों मे एक ऐसे वर्ग का पाया जाना, एक अत्यंत सामान्य दशा है, जो कि हिन्दू धर्म अपना चुका है। ओराव एवं सथाल आदिमजातियों के प्रसिद्ध सुधारवादी आन्दोलन में उनके सचेतक हिंदू धर्म की आस्थाओ से अभिप्रेरित थे। अत परम्परागत आदिम-जातीय धर्म को मानने वाले वे ही आदिमजातीय वर्ग हैं जो कि या तो हिन्दुओ के सम्पर्क में नहीं आ सके अथवा वे जो हिन्दू सामाजिक व्यवस्था मे सन्निहित नहीं हो सके। घुरये ने इसी दृष्टिकोण को अधिक महत्व देते हुये आदिवासियों को पिछड़े हुए हिंदू कहना अधिक उचित समझा।

भारतीय आदिमजातीय धर्म के सम्बन्ध मे उपर्युक्त विचारो से हिन्दू धर्म एव आदिवासी धर्म के घनिष्ठ सम्पर्क का आभास होता है। अन्य सम्य समुदायों के धर्म के प्रभाव लगभग नगण्य रहे हैं। अनेक आदिमजातीय क्षेत्रों मे ईसाई मिशनरी लगभग पिछले सौ वर्षों से भी अधिक समय से सक्रिय रहे हैं। अपने धर्म का प्रचार एवं प्रसार करना ही उनका प्रमुख उद्देश्य रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने आदिवासियों की उपेक्षा एव उनकी आर्थिक विपन्नता का लाभ उठाया। शिक्षा एवं चिकित्सा सेवा के प्रसार के माध्यम से उन्होंने ईसाई धर्म के विश्वासों एव व्यवहारों का प्रसार आदि-वासियों में किया। परिणामस्वरूप देश के सभी भागों में विशेषकर असम बिहार एवं मध्य प्रदेश में अनेक आदिमजातियों में धर्म परिवर्तित ईसाइयों की संख्या में वृद्धि हुई। आधुनिक जीवन की कुछ सुख सुविधाओं, पाश्चात्य शिक्षा के आधार पर संचालित शिक्षण संस्थाओं एवं आधुनिक चिकित्सा सुविधाओं के बदले लाखों की संख्या में आदिवासियों ने एक नवीन नैतिकता, नये प्रकार के विश्वासों एवं धर्मों के अधिकारियों के रूप में 'एक नये पुरोहित

धर्म से परिचय प्राप्त किया। समय समय पर व्यक्त किये गये विभिन्न मानववैज्ञानिकों के विचारों से हमें विदित है कि आदिवासियों के सांस्कृतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में इस धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया के कितने व्यापक परिणाम हुए। किन्तु हिंदू धर्म की तुलना में यह ऐसा धर्म था जो कि आदिवासी धार्मिक तत्वों से सर्वथा भिन्न था। इन दो धर्मों के अतिरिक्त भारतीय आदिमजातियो के धार्मिक जीवन पर सभ्य समाज के किसी अन्य धर्म का प्रभाव लगभग नगण्य ही रहा है। आदिवासी क्षेत्रों में ब्रिटिश प्रशासन के प्रसार के साथ ही मिशनरियों की गतिविधियां आरम्भ हुई, जब कि हिन्दू धर्म से सम्पर्क की प्रतिक्रिया बहुत पहले से ही चलती रही है तथा ब्रिटिश प्रशासन काल मे इन क्षेत्रो मे आवागमन के साधनों की सुविधाओ के प्रसार के साथ ही साथ यह प्रक्रिया और भी तीव्र हुई।

आदिवासियो मे मिशनरियों की गतिविधियों के परिणामो की अकसर तीव्र आलोचना की गई। यहाँ तक कि प्रारम्भ मे एलविन को भी एक मिशनरी कह कर ही आदिवासियो मे उनके निवास एवं सेवा कार्य की आलोचना की गई। इस सम्बन्ध में अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए एलविन ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि जब वे सर्वप्रथम मध्य प्रदेश मे करजिया मे गोंड लोगो के मध्य रहने के लिए गये थे तो उनका व्यक्तिगत जीवन निश्चित रूप से एक आदर्श ईसाई का जीवन था किंतु कभी भी उनमे अपने धम के प्रचार की अभिलाषा नही रही। उन्हे सभी धर्मों मे समान रूप से आस्था थी। अपने जीवन के अतिम काल मे असम एव नेपाल क्षेत्र मे कुछ समय तक जीवन व्यतीत करने के उपरात वे बौद्ध धम के प्रति विशेष रूप से आकर्षित हुये। किसी अन्य रूप मे भी सभ्य संस्कृतियों द्वारा परम्परागत आदिवासी संस्कृतियो के अतिक्रमण के वे कट्टर विरोधी थे। यहाँ तक कि उन्होने लिखा है कि सीधे सादे परम्परागत जीवन व्यतीत करते हुये आदिवासियो को धम परिवतन के लिए विवश करना एक चुपचाप शात बैठी हुई चिडिया को गोली मारने के समान है।

आदिवासियो के सामाजिक सास्कृतिक जीवन एवं उनके धार्मिक विश्वासो पर ईसाई मिशनरियों की गतिविधियो के जो भी परिणाम हुये उनकी विवेचना आवश्यक है। आदिवासियो में अपने धर्म के प्रति निष्ठा के प्रमाण इसी तथ्य से मिल जाते हैं कि लगभग सभी आदिवासी आंदोलनों में सभ्यता के प्रतीक जमींदारो, ठेकेदारो, सरकारी एवं अर्द्धसरकारी कर्मचारियो के शोषण एव अत्याचारों के विरुद्ध उनके नेतृत्व ने जनमत को उभारने

में उनकी धार्मिक भावनाओं को ही उत्तेजित किया। सभ्यता के प्रसार एवं प्रहार के विरोध में उन्होंने अधिकांशतः अपने धर्म को सुरक्षित रखने के प्रयास किये। जहां कहीं हिन्दू धर्म के व्यापक प्रभावों के परिणामस्वरूप उनके सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में आमूल परिवर्तन आ चुके हैं वहां धर्म के क्षेत्र में दोनों धर्मों का एक विचित्र समन्वय हुआ है जिसमें उनके अपने परम्परागत धर्म की मौलिकता प्रायः अविच्छिन्न ही रही है। इस परिस्थिति के कारण हिंदू प्रभावों के परिणामस्वरूप उनका नैतिक पतन नहीं होने पाया। यही नहीं बल्कि एक श्रेष्ठ संस्कृति के सपर्क मे आकर अपने देवी देवताओं एवं धार्मिक रीति रिवाजों को अपनाते हुये हिंदू देवी देवताओं को भी अपनाकर उनमें अपने देवी देवताओं को अपमानित करने की भावना ने जन्म नही लिया।

प्रत्येक धर्म की अपनी एक नैतिकता होती है। जहां धर्म परिवर्तन द्वारा एक नये धर्म एव नई नैतिकता के आदर्शों के माध्यम से एक सस्कृति दूसरी सस्कृति पर हावी होने लगती है वहां पुरातन एव नवीन नैतिकता एवं आदर्शों का संघर्ष मानसिक विकृतियो को जन्म देता है। मिशनरियो द्वारा संचालित पाश्चात्य शिक्षा पद्धति चिकित्सा सेवा एव ईसाई धर्म के माध्यम से लाये गये नवीन मापदडों ने उनके परपरागत धार्मिक विश्वासो को दुर्बल बनाया तथा उन्हें अपने देवी देवता अपमानित होते जान पडने लगे। यद्यपि आदिवासियो के आर्थिक हितो की रक्षा के उद्देश्य से ब्रिटिश प्रशासन ने बाह्य तत्वो का आदिवासी क्षेत्रों मे पहुचना वर्जित कर दिया था फिर भी ईसाई मिशनरियो को इस ऐक्ट की अनुशंसाओ से अप्रभावित रखा गया। मिशनरियो का धर्म प्रचार का कार्य सदैव राजनीति से ओतप्रोत रहा है। सुदूर जगलो में बसे यह ब्रिटिश राजतंत्र को प्रतिष्ठित करने मे सहायक सिद्ध हुआ। असम में किन्हीं किन्हीं आदिमजातियो मे 95 से 98 प्रतिशत तक आदिवासी धर्म परिवर्तित करके ईसाई हो गये। आदिवासियो की दयनीय अवस्था और उनके अभावों आदि का लाभ उठाते हुये धर्म परिवर्तन के द्वारा मिशनरियो ने उन्हें सम्पन्नता का प्रलोभन दिया जिसे वे कभी पूरा नहीं कर सके। इसके विपरीत उन्होंने आदिवासियों में ऐसी नयी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं को जन्म दिया जिन्हें पूरा करने की आर्थिक क्षमता उनमें नहीं थी। स्वर्णिम भविष्य की आशाओं में नवीन आस्थाओं को अपना लेने से ही वे अपनी सदियो पुरानी परंपराओं से अपने को एकदम अलग भी नहीं कर सके। प्रत्येक आदिमजाति में धर्म परिवर्तित एवं परंपरागत धर्मावलम्बियों के दो ऐसे वर्ग बन

गये जो कल तक एक सा ही जीवन व्यतीत करते थे । नये धार्मिक विश्वासों के साथ नैतिकता के नये आदर्शों ने अपने परंपरागत आदर्शों के प्रति उनमें घृणा को उत्पन्न कर दी किंतु नये आदर्शों को वे ठीक प्रकार से अपना न सके । ऊँच नीच की भावनाओं ने दोनों वर्गों में निरन्तर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर दी । सन 1947 से आज तक छब्बीस वर्षों के अथक परिश्रम के बाद भी भारत के उत्तर पूर्वी सीमांत प्रदेश के आदिवासियों में राजनैतिक स्थिरता नही आ सकी । इस स्थिति का बहुत कुछ उत्तरदायित्व मिशनरियों के सदियो से किये जाने वाले कार्य कलापो पर ही है । धर्म प्रचार के नाम पर निरीह आदिवासियो की संस्कृति में हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप सभ्यता का जो रूप उनके समक्ष प्रस्तुत किया जाता रहा है उससे उनमे पारस्परिक घृणा एवं द्वेष भाव को ही आश्रय मिला है । इसमें कोई सदेह नही कि इन सबके साथ उन्होने आदिवासियो की जो सेवायें की हैं वे सराहनीय हैं । किंतु मानवतावादी एवं सेवा भाव के दृष्टिकोण की आड में जो कुछ भी किया गया वह अवाछनीय हस्तक्षेप की दूषित भावना से ही किया गया ।

जैसा कि हम कह चुके हैं आदिवासी धर्म एक ही प्रकार के विश्वासो एव विचारों का एक वर्ग नही है । जैसे सभ्य समुदायों में अनेक प्रकार के विश्वासो एव व्यवहारो के आधार पर हम विभिन्न धर्मों की चर्चा करते हैं वैसे ही भारत के विभिन्न क्षेत्रो के निवासी आदिवासियो मे भी एक समान विश्वास एव उनसे सम्बन्धित व्यवहार नही पाये जाते । जन्म मृत्यु देवी देवताओ के स्वरूप उनके निवास स्थलो आदि को लेकर अनेक विषमतायें पाई जाती हैं । फिर भी एक ही प्रकार के कुछ विश्वासो को ध्यान में रखते हुए कुछ विशेष प्रकार की धार्मिक प्रवत्तियो की चर्चा अवश्य की जा सकती है । धर्म का आदि स्वरूप क्या रहा होगा इस सम्बन्ध मे विभिन्न मानव वैज्ञानिको ने अपने निरीक्षणो एव अनुभवो के आधार पर भिन्न भिन्न सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं और आदिवासियों के धार्मिक व्यवहारो के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आदिवासी धर्म को उस स्थिति के अधिक निकट दर्शाने के प्रयास भी किये हैं । यहाँ पर हम उन सिद्धातो की व्याख्या न करके यह बताना अधिक श्रेयस्कर समझेंगे कि भारतीय आदिवासियो में भिन्न भिन्न क्षेत्रों मे कौन सी धार्मिक प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं ।

विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियो मे अंतरों एवं समानताओं का आधार अधिप्राकृतिक शक्तियों के वे विभिन्न स्वरूप ही हैं जिनमें आदिवासी विश्वास करते हैं । इस दृष्टिकोण से भारतीय आदिवासियों में दो प्रकार की प्रमुख

शक्तियों को जन्म भी दी जा सकती है। अनेक आदिवासियों में इस शक्ति को अशरीरी, सर्वशक्तिमान, निराकार स्वरूप में माना गया है। इस स्वरूपात्मक अंतर के साथ ही साथ इन शक्तियों के स्वभाव, उनकी क्षमताओं एवं मनुष्य से उनके सम्बन्धों के बारे में भी मान्यताओं में अंतर पाये जाते हैं। दक्षिणी प्रशान्त महासागरीय क्षेत्रों में इस शक्ति को 'माना' नाम से सम्बोधित किया जाता है। भारत के अनेक क्षेत्रों के आदिवासियों में भी अलौकिक, अतिप्राकृतिक, सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापी शक्ति में विश्वास पाया जाता है। विभिन्न आदिमजातियो मे अपनी अपनी भाषा के शब्दों से इस शक्ति को सम्बोधित किया जाता है। उदाहरण के लिए नागा आदिमजातियों मे कुछ विशेष प्रकार के पत्थरों मे ऐसी अलौकिक शक्ति की विद्यमानता मानी जाती है। किन्हीं पत्थरो में खेतों की उपज बढ़ाने की क्षमता तथा किन्ही में शिकार आदि को सफल बनाने की क्षमता पाई जाती है। इन पत्थरों को बहुमूल्य एवं पवित्र माना जाता है तथा उन्हे सुरक्षित स्थानो मे रखा जाता है। समय समय पर सुअर की चर्बी से उन्हे चिकनाया भी जाता है। विभिन्न प्रकार के पत्थरो मे विलक्षण शक्ति भिन्न भिन्न परिमाण मे मानी जाती है। नागा लोग इस शक्ति के लिए 'अरेन' शब्द का प्रयोग करते हैं।

बिहार के छोटा नागपुर प्रदेश के निवासी हो आदिमजाति मे भी इसी प्रकार के विश्वास पाये जाते हैं। उनके धार्मिक विश्वासों की विवेचना प्रस्तुत करते हुये मजूमदार ने लिखा है कि हो समाज में आध्यात्मिकता के प्रमाण इसी रूप मे पाये जाते हैं। इस शक्ति को हो आदिमजाति मे 'बोंगा' कहा जाता है। लोगों का विश्वास है कि इस शक्ति के प्रभाव मनुष्य के हित मे भी हो सकते हैं तथा वे मनुष्य का अहित भी कर सकते हैं। यह शक्ति भिन्न-भिन्न परिमाण मे सभी व्यक्तियों एवं सभी वस्तुओ में पाई जाती है। कोई भी अद्भुत शक्ति जिसे वे किसी अन्य प्रकार से समझ नही पाते उसे बोंगा कह देते हैं। सर्वव्यापकता इसकी विशेषता मानी जाती है। बोंगा एक ऐसी अशरीरी शक्ति है जो कि स्वप्नो के माध्यम से भविष्य के अनिष्टों अथवा सफलताओ की सूचना भी देती है। जब इन आदिमजातियों का परिचय साइकिल, रेलवे इन्जिन, वायुयान आदि विलक्षण शक्तिशाली मशीनों से हुआ तो उन्हें भी बोंगा कहा जाने लगा। सभी व्यक्तियों की क्षमताओं, उनकी प्रतिष्ठा एवं कौशल मे अन्तर भी बोंगा के कम अथवा अधिक परिमाण में होने के कारण माने जाते हैं। जीवन की बाधायें अथवा असफलतायें, जीवन क्रम में कोई व्यतिक्रम भी बोंगा के ही कारण माना जाता है। इस प्रकार के

विश्वास छोटा नागपुर क्षेत्र में हो आदिमजाति के अतिरिक्त मुंडा तथा आस-पास की अन्य आदिमजातियों में भी कुछ थोडे बहुत अन्तरों के साथ पाये जाते हैं। मुंडा लोगों का सम्पूर्ण जनजीवन एक प्रकार के बोंगावाद से परिपूर्ण है। ओरॉव आदिमजाति के लोग अपने पडोसी लोगो की बोंगा शक्ति के प्रभावों से अपनी रक्षा एक विशेष सस्कार से करते हैं जिसे सरहुल' कहते हैं। इस सस्कार का आयोजन प्रत्येक गाँव मे किया जाता है। कोई ओरॉव लड़की जब किसी ऐसे गाँव मे ब्याही जाती है जहाँ इस सस्कार का आयोजन न किया गया हो तो उसे अनिष्टकारी बोगा से प्रभावित माना जाता है। इसीलिए जब वह लौट कर फिर अपने पिता के गाँव मे आती है तो सरहुल सस्कार के बाद ही उसे अपने घर मे प्रवेश करने दिया जाता है।

दूसरी प्रकार की एक अन्य धार्मिक प्रवृत्ति मे जिसके प्रमाण अनेक आदिवासियो में मिलते है मानव जीवन का सचालन व्यक्तिगत शरीरी एव अलौकिक शक्तियो के माध्यम से माना जाता है। जिन्हें आत्मा एव प्रेतात्माओ के रूप मे मानते हैं। यह आध्यात्मिक शक्तियाँ शरीरी मानी जाती हैं जिनकी कुछ निश्चित क्षमताएँ होती हैं और वे अदृश्य होती हैं। लोगों का ऐसा विश्वास है कि वे किसी अदृश्य काल्पनिक जगत मे निवास करती हैं तथा अक्सर मनुष्य के बीच उपस्थिति होकर उसके कार्य-कलापो को प्रभावित करती हैं। कुछ विशेष श्रद्धावान एव सच्चरित्र धार्मिक जीवन व्यतीत करने वाले लोगो को उनके दर्शन भी होते हैं। वे निरन्तर मानव जीवन मे हस्तक्षेप करती रहती हैं। इन वैयक्तिक मान्यताओ मे कुछ को अन्यों की अपेक्षा अधिक अथवा कम क्षमता वाली शक्तियाँ माना जाता है। मनुष्य समय समय पर इन शक्तियो की कृपादृष्टि तथा अपनी सुख समृद्धि एव शान्ति से जीवन यापन की कामना से इन शक्तियो की आराधना पूजा अर्चना आदि करता रहता है। इस प्रकार के विश्वासो मे मृत्यु के उपरान्त व्यक्ति की आत्मा प्रेतात्मा मे परिणित हो जाती है। ये प्रेतात्मायें काल्पनिक स्थानो मे रहती हुई मनुष्य के सामान्य जीवन को प्रभावित करती हैं। जन्म मत्यु गर्भधारण, विवाह, कृषि आदि सामान्य जीवन के सभी क्षेत्रो मे इन वैयक्तिक शक्तियो का हस्त-क्षेप माना जाता है। जीवन मे सभी प्रकार की असफलताओं, निराशाओं, बीमारियो आदि को प्रकृति के नियमानुसार न मानकर अनिष्टकारी आध्या-त्मिक शक्तियों के हस्तक्षेप का परिणाम माना जाता है। श्रीलंका की वेड्डा आदिमजाति के लोग ऐसी ही शक्तियो के कुप्रभाव के कारण ही उस झोपडी को त्याग देते हैं जिसमें किसी की मृत्यु हो गयी है। राजस्थान एवं गुजरात

के भील लोग बिल्कुल अकेले में बने हुए मकानों में रहते हैं और अक्सर किसी की मृत्यु हो जाने पर उस क्षेत्र को छोड़ कर अन्यत्र रहने लगते हैं। इन शक्तियों की निरन्तर पूजा आदि करते रहने पर वे अपने को सुरक्षित समझने लगते हैं।

जैसा कि टायलर ने मत व्यक्त किया था, आत्मा की विद्यमानता का आभास आदिवासियों को स्वप्नों, छाया एवं गूँज आदि से उत्पन्न भ्रान्तियों से हुआ होगा। मृत्यु के उपरान्त यह आत्मा जब शरीर को छोड़ कर बाहरी जगत में आ जाती है तो वह प्रेतात्मा हो जाती है और उसमें असाधारण शक्ति एवं क्षमतायें आ जाती हैं। सम्भवत इसी विश्वास के कारण पूर्वजों की पूजा आदि का विधान अधिकांश आदिमजातियो में पाया जाता है। भारतवर्ष में कोई भी आदिमजाति ऐसी नहीं है जिसमें मृत्यु के उपरान्त आत्मा के ऐसी आध्यात्मिक शक्ति के रूप मे परिवर्तित हो जाने से सम्बन्धित विश्वास न पाये जाते हो। ऐसा विश्वास है कि इन प्रेतात्माओं का सम्पर्क अपने निकट सम्बन्धियो से सदैव बना रहता है। इसीलिए किसी सम्भावित अनिष्ट के भय से वे पूर्वजो की प्रेतात्माओ की पूजा करते हैं। कुछ मानववैज्ञानिको का तो यहाँ तक कथन है कि मानव संस्कृति के इतिहास मे पूर्वज पूजा ही धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप रहा होगा तथा समाधियाँ ही मनुष्य के सर्वप्रथम मंदिर रहे होगे। भारतीय आदिमजातियों में दक्षिण भारत के टोडा तथा छोटानागपुर के हो लोग आज भी दो प्रकार की अंत्येष्टि क्रियायें इसी भावना से प्रेरित होकर करते हैं। मानववैज्ञानिकों ने प्रथम को कच्ची अन्त्येष्टि तथा द्वितीय को पक्की अन्त्येष्टि कहा है। छोटानागपुर की हो आदिमजाति में द्वितीय अन्त्येष्टि को 'जगटोपा' कहा जाता है। किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद लोगों को यह सन्देह बना रहता है कि सम्भवत शरीर से आत्मा का विलगीकरण क्षणिक ही है। अत इस आशा से कि आत्मा पुन शरीर मे प्रवेश कर जायेगी, वे मृतक के शरीर को कुछ सामान्य संस्कारों के उपरान्त गाँव के निकट ही कुछ समय तक रखा रहने देते हैं। किन्तु कुछ समय के बाद जब उन्हें पूर्ण विश्वास हो जाता है कि आत्मा का बहिर्गमन स्थाई रूप से हो चुका है तब वे यह मान लेते हैं कि उसकी आत्मा वृहद् आध्यात्मिक शक्ति में लीन हो चुकी है, अत गाँव से दूर ले जाकर द्वितीय अन्त्येष्टि क्रिया का समापन कर देते हैं। नीलगिरि की टोडा आदिमजाति में द्वितीय अन्त्येष्टि के उपरान्त लौटते समय वे लोग रास्ते में काँटे बिछाते हुये आते हैं जिससे मृतक की प्रेतात्मा गाँव तक वापस न आ सके। अनेक आदिमजातियों में प्रेतात्माओं के [illegible]

में परिवर्तित होकर उनके पुर्नजन्म में भी विश्वास पाये जाते हैं। निर्जीव पदार्थ मे किसी प्रकार की आत्मा की विद्यमानता स्वीकार नहीं की जाती। पेड़-पौधों को सजीव मानते हुए उनकी पूजा की जाती है। उन्हें उत्पादन का प्रतीक माना जाता है।

लगभग सभी आदिमजातियों मे मृत्यु को जीवन का प्राकृतिक अन्त न मानकर, मृत्यु के उपरान्त किसी न किसी रूप मे उसकी विद्यमानता में आस्था पायी जाती है। आत्माओ एव प्रेतात्माओ में विश्वासो के आधार पर ही आदिम मनुष्य के मानसिक दृष्टिकोण मे इस आस्था को तर्कसिद्ध करने के प्रयास किये जाते हैं। मृतको की अशरीरी विद्यमानता के परिणामस्वरूप प्रेतात्माओ एवं पूर्वजों की पूजा के प्रमाण पाये जाते हैं। छोटानागपुर की ओरांव आदिमजाति मे ऐसा विश्वास किया जाता है कि पूर्वजों की प्रेतात्मायें बीमारी आदि में उनके पास आकर अन्य अनिष्टकारी प्रेतात्माओ से उनकी रक्षा करती हैं। जब किसी व्यक्ति को बीमारी की दशा मे कोई सुधार नही होता तो पूर्वजो की प्रेतात्माओ का आवाहन किया जाता है। मृत पूर्वजों को जीवित सदस्यो की ही भाँति परिवार अथवा गण का सदस्य माना जाता है। लोगो का ऐसा विश्वास है कि सपनो में दर्शन के माध्यम से वे परिवार के सदस्यो से अपनी इच्छा भी व्यक्त करते हैं तथा प्रभावित सदस्य की सुरक्षा के उपाय भी बताते हैं। छत्तीसगढ़ की आदिमजातियो मे यहाँ तक विश्वास पाया जाता है कि वे लोग विशेष पूजन आदि के आयोजन के द्वारा अपनी इच्छानुसार समय समय पर अपने पूर्वजों की प्रेतात्माओ को अपने बीच बुला भी सकते हैं। ये प्रेतात्मायें एक विशेष चबूतरे पर अथवा मिटटी के बने हुए एक विशेष बरतन मे प्रवेश करती हैं जो कि उनके आने के निश्चित स्थान होते हैं। इससे सम्बन्धित सस्कार को 'जीवपानी' सस्कार कहा जाता है। दुबे ने कमार आदिमजाति के वृतान्त में इस सस्कार का वर्णन प्रस्तुत किया है। आदिमजातियो में ऐसे सस्कारो के भी प्रमाण मिलते हैं जिनके द्वारा पूर्वजो की आत्मायें पुनः उसी परिवार मे जन्म लेने वाले सदस्यो मे आ जाती हैं। बिहार के सन्थाल, उड़ीसा के गडबा एव अन्य अनेक आदिमजातियो में भिन्न-भिन्न प्रकार के सस्कारों का आयोजन इसी उद्देश्य से किया जाता है।

अशरीरी आध्यात्मिक शक्तियों की श्रेणी में ही कुछ अन्य प्रकार के विश्वासो की भी गणना की जा सकती है जिनमे ऐसी शक्तियों मे व्यक्तित्व की तुलना में शक्ति का पुट कुछ अधिक माना जाता है। ऐसे विश्वासों को वस्तुपूजावाद (Fetishism) कहा जाता है। जब किसी वस्तु में किसी प्रकार

पूजावाद' शब्द का प्रयोग ऐसे विश्वासों के लिए लिया जाता है जिनमें कुछ विशेष वस्तुओं में अधिष्ठित वाले देवी देवताओं की आध्यात्मिक शक्ति का प्रवास मानते हुए उनकी पूजा की जाती है। विशेषकर मध्य भारत की आदिमजातियों में ऐसे विश्वास प्रचुरता से पाये जाते हैं। किन्तु एक विशेषता यह है कि ऐसी वस्तुओं की पूजा में उनमें निहित आध्यात्मिक शक्ति को सक्रिय बनाने में सदैव जादूगरो का सहारा लिया जाता है।

अनेक आदिवासियो मे पशुओं, पक्षियों, पेड पौधो एव भौतिक पदार्थों आदि से कभी कभी एक विशेष प्रकार के रहस्यमय सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं, जिसे टोटमवाद' कहा गया है। ये रहस्यमय सम्बन्ध आत्मा एवं प्रेतात्मा वाद की सीमाओं से अधिक विस्तृत और व्यापक माने जाते हैं। भारत के आदिवासियों में, विशेषकर मध्य क्षेत्र के आदिवासियो मे ऐसे विश्वास अधिक प्रचलित हैं। वैसे सर्वप्रथम अमेरिका के कुछ रेड इण्डियन आदिवासियों में इन विश्वासो का पता चला था जिनका उल्लेख मेकलेनन् ने अपने वृतान्तों में किया है। बाद मे दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया के आदिवासियो मे ऐसे विश्वासों को अत्यन्त प्रभावशाली रूप में पाया। इन आदिवासियो मे इन विश्वासों का अध्ययन करने के उपरान्त वे यहाँ तक प्रभावित हुये कि उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि सम्भवत मानवजाति के साँस्कृतिक विकास में टोटमवाद से सम्बन्धित विश्वास ही धर्म का अतिप्राचीन एवं प्रारम्भिक स्वरूप रहा होगा।

अधिकाँश टोटमी आदिवासियो की आर्थिक व्यवस्था मे पशुओं एव पेड पौधो को महत्वपूर्ण पाया जाता है क्योकि वे संकलन एव अत्यन्त पिछड़े हुए तरीको से पेडो को काट कर एव जला कर खेती करते हैं। शिकार आदि पर भी उनकी पर्याप्त निर्भरता होती है। इन विश्वासो के अनुसार बहुधा वे किसी विशेष पेड पौधे अथवा पशु की जाति को अपना टोटम मान लेते हैं। वे समय समय पर उस पेड-पौधे अथवा पशु को पूजा आदि का आयोजन करते हैं तथा कभी उसे क्षति नही पहुचाते हैं। इनका खाद्य रूप मे प्रयोग भी वर्जित मानते हैं। किन्ही आदिमजातियो मे कुछ विशेष अवसरो पर ही पूजा आदि के उपरान्त प्रसाद रूप में ही उसका आहार करते हैं। अपने टोटम के कलात्मक चित्रो से घरों की दीवालो को सजाते हैं तथा शरीर पर भिन्न भिन्न स्थलों पर उसके चित्र को गुदवा लेते हैं। एक ही टोटम के मानने वाले सभी सदस्य एक दूसरे को रक्त सम्बन्धी मानते हैं और उनमे परस्पर विवाह एवं यौन सम्बन्ध वर्जित माने जाते हैं। टोटम को आदि पूर्वज का प्रतीक भी मानते हैं। प्रत्येक

आदिमजातीय विभिन्न गणों के अपने टोटम होते हैं और टोटम गणों की विशेषता बन जाते हैं। एक टोटम वाले गण के सदस्य अपनी विशिष्टता अपने टोटम से निर्धारित करने लगते हैं। किन्ही-किन्हीं आदिमजातियों में पूरे पशु, पेड़ पौधे आदि को टोटम न मान कर उसके किसी अंश को ही टोटम मान लिया जाता है। छोटा नागपुर क्षेत्र के आदिवासियों में यह प्रथा अधिक प्रचलित है। सम्भवत एक गण के आकार में अत्यधिक वृद्धि के उपरान्त पूरे पशु अथवा वृक्ष के भिन्न भिन्न अंशो को टोटम रूप में मानते हुये एक गण के सदस्य अनेक गणों में विभक्त हो जाते हैं। परन्तु सभी टोटमी आदिमजातियों में अन्य सभी देवी देवताओं, आत्मा, प्रेतात्मा आदि मे विश्वास भी चलते रहते हैं। छोटा नागपुर क्षेत्र के ही सन्थाल लोगों में पशुओ, पौधों एवं भौतिक पदार्थों के नाम पर उनके एक सौ से अधिक गणों के नाम हैं। इसी प्रकार से भील, कतकरी, खड़िया आदि आदिमजातियाँ भी टोटम को मानती हैं।

टोटमवाद आदिवासी धर्म का ही एक स्वरूप मात्र है, यह कथन किन्हीं अंशो तक विवादास्पद माना जाता है यद्यपि दुर्खीम ने आदिम मानव की प्रकृति पर निर्भरता एवं उसके जीवन पर प्रकृति के नियंत्रण आदि तथ्यो पर विशेष ध्यान देते हुए टोटम को समूह का प्रतीक मान कर उसकी पूजा करना धर्म का आदि स्वरूप माना है। दुर्खीम के अनुसार समूह एवं संगठन का आदि मानव के जीवन में महत्व एवं पशुओ पेड़ पौधो आदि पर उसकी निर्भरता ये दो ऐसे प्रमुख कारक रहे होंगे जिन्होने आदि मानव को संगठन एवं अपने समूह के प्रतीक के रूप में इनकी पूजा करने पर विवश किया। कुछ मानववैज्ञानिको ने विशुद्ध आर्थिक अथवा मनोवैज्ञानिक आधार पर ऐसे विश्वासों एवं व्यवहारो की विवेचना की है। इन विश्वासो की उत्पत्ति क्यों कर हुई यह एक जटिल प्रश्न है। अतीत के मूक रहने वाले प्रमाण इसका उत्तर नही दे पाते और कल्पना एवं तर्क के माध्यम से ही हम कोई तर्क संगत युक्ति देने का प्रयास कर पाते हैं। इससे अधिक सार्थक प्रश्न यह है कि टोटमवाद आदि धर्म का ही एक स्वरूप है अथवा नही। इस प्रश्न का उत्तर बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि टोटम शब्द का प्रयोग कितना व्यापक अथवा संकीर्ण है। यदि पेड़ पौधों, पशुओं एवं पक्षियो के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान की भावना को ही हम टोटमवाद मान लें तो इसे केवल आदिवासी धर्म तक ही सीमित रखना एक बड़ी भूल होगी क्योंकि ऐसी भावनाएँ अनेक सभ्य धर्मों में भी पाई जाती हैं। यदि हम टोटमवाद से संलग्न सामाजिक प्रतिबन्धों आदि की ओर भी ध्यान देते हैं तो ऐसा प्रतीत

होता है कि टोटम की मान्यता केवल कुछ सामाजिक प्रतिबंधों के लिए आधार मात्र है। कोई भी टोटमी आदिमजाति ऐसी नहीं है जहाँ धर्म के रूप के टोटम सम्बन्धी विश्वासों एवं व्यवहारों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विश्वास न पाये जाते हो। किन्हीं दशाओं मे इन समाजो में पशुओं, पेड़ पौधों आदि के महत्व को ध्यान में रखते हुए इन्हे धार्मिक सस्कारों से संबद्ध कर दिया गया है। हिन्दू धर्म मे भी गऊ को पवित्र ही नहीं वरन मोक्ष का साधन तक मान लिया गया है। गगा यमुना आदि नदियाँ हिन्दू धार्मिक सस्कारो का अग हैं। किन्तु हिन्दुओं को सामान्यत टोटमी नहीं माना जाता। दूसरी ओर टोटम से सम्बन्धित व्यवहारों मे विभिन्न क्षत्रो के आदिवासियों में इतनी विविधतायें हैं कि किसी एक प्रकार के व्यवहार को ही टोटमी व्यवहार नहीं माना जा सकता। फिर भी भारतवर्ष एव ससार के कुछ अन्य भौगोलिक क्षेत्रो मे जैसे उत्तरी अमेरिका, अफ्रीका एव आस्ट्रेलिया के आदिवासियो मे टोटम से सम्बन्धित व्यवहारों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी आदिवासियों मे टोटम एव उससे सम्बन्धित व्यवहार उनकी धार्मिक प्रक्रिया का अग बन चुके हैं। उनके सामाजिक एवं सास्कृतिक जीवन मे इन व्यवहारो की प्रमाणिकता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

भारतीय आदिवासियो मे सग्रहण पर आधारित अर्थव्यवस्था पर आश्रित आदिमजातियों मे हिन्दू धम के प्रभाव सबसे कम दृष्टिगत होते हैं। आज भी दक्षिण भारत मे कादार चेंचू मालपतरम आदि ऐसी कुछ आदिमजातियाँ हैं जो ऐसी ही अर्थव्यवस्था मे आती हैं। ये आदिमजातियां एक ऐसे सर्व शक्तिमान देवता मे विश्वास करती हैं जिसे वे परमशिव परमेश्वर आदि हिन्दू धम मे प्रचलित देवी देवताओ के नाम से सम्बोन्धित करते हैं। इन सभी आदिमजातियो मे प्रचलित एक सर्वशक्तिमान देवता की कल्पना बहुत कुछ हिन्दू देवता शिव के समान ही है। साधारणतया इनके ये देवता पर्वतो पर निवास करने वाले तथा घोड़े अथवा हाथी के वाहन पर सवार होकर प्रेतात्माओ से सघर्ष करते हुये दर्शाये जाते हैं। इसे वे लोग शिकार का देवता मानते हैं। किसी एक प्रस्तर शिला को दैविक शक्ति से युक्त मानते हुए उस शिला की पूजा की जाती है। पूजा किये जाने वाले देवता की प्रशंसा मे गीत गाते हैं। अक्सर गाने वालों में से कोई एक व्यक्ति दैविक शक्ति से उत्प्रेरित हो उठता है। ऐसी अवस्था मे अन्य व्यक्ति उससे प्रश्न पूछते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि ऐसी अवस्था मे वह व्यक्ति जो भी उत्तर देता है वह दिव्य-वाणी ही होती है। इस आर्थिक संवर्ग की आदिमजातियों में पूर्वजो की पूजा

का भी प्रचलन है। कभी कभी परम शक्तिशाली देवता को वे अपना आदि पूर्वज भी मान लेते हैं और इसीलिये बलिदान आदि देकर उस देवता की पूजा करते हैं। इन पर मदिरा, अफीम, तम्बाकू आदि चढ़ाई जाती है। किसी मुर्गे, बकरे, भेड आदि का बलिदान करके ढोल एवं तुरही आदि से देवता का आवाहन किया जाता है। देवियों की कल्पना भी पाई जाती है जिन्हें काली महाकाली, भद्रकाली आदि हिन्दू देवियों के नाम से ही सम्बोधित किया जाता है।

अपने जंगलों को काट कर एवं जला कर रिक्त किये गये स्थलो पर अत्यत अविकसित रूप मे खेती करने वाले आदिवासियो मे भी एक सर्व शक्तिमान देवता मे विश्वास पाया जाता है। हिन्दुओ के समान ये आदिम-जातियाँ भी अपने इस देवता को भगवान अथवा ईश्वर आदि शब्दों से सम्बोधित करती हैं। देवता के लिए किसी प्रकार के मन्दिर आदि की व्यवस्था नही की जाती है। बलिदान के द्वारा देवता को प्रसन्न करने के प्रयास किये जाते हैं। इस सर्वशक्तिमान महान देवता के अतिरिक्त ये लोग पर्वतो के देवता मे भी विश्वास करते हैं जिसका स्थान पर्वतो पर ही बताया जाता है। दक्षिण भारत की पुलियन आदिमजाति के लोग अपने पर्वतो को ही दैविक शक्ति में परिपूर्ण मानते हैं। अपने जगलो के एक भाग को प्रेतात्माओ के निवास के लिये सुरक्षित छोड देते हैं। जब कभी भी ये लोग अच्छी फसल की कामना से कोई बलिदान करते हैं तो पहले पूर्वजो की पूजा करके उनकी प्रेतात्माओ का आवाहन करते हैं। जगलों से सम्बन्धित कुछ प्रेतात्माओ में भी विश्वास पाये जाते हैं। समय समय पर उनकी पूजा करके भेंट चढाने के पश्चात जगली पशुओ से उन्हें किसी प्रकार का भय नही रहता।

कतिपय आदिमजातियो मे सूर्य एवं चन्द्रमा की पूजा भी की जाती है। उदाहरण के लिए कणिक्कर लोगो का विश्वास है कि सूर्य सृष्टिकर्ता है। शुक्रवार के दिन सूय की पूजा करते हैं। सूर्य को स्त्री एव चन्द्रमा को पुरुष मानते हैं। दक्षिण भारत की उराली आदिमजाति के लोग सूर्य को सम्पूर्ण सृष्टि का पिता एव चन्द्रमा को माता मानते हैं। मालआर्यान लोगो का विश्वास है कि सूर्य एवं चन्द्र एक ही देवी के शिशु हैं। इन सभी आदिमजातियो में अनिष्टकारी प्रेतात्माओं का भय सदैव बना रहता है। उसमें सभी प्रकार के रोगो से मुक्ति दिला सकने की क्षमता मानी जाती है।

हल एव बैल का प्रयोग करते हुये विकसित कृषि पर निर्भर करने वाली

आदिमजातियों मे भी एक सर्वशक्तिमान देवता की मान्यता पाई जाती है। ये लोग भी इस देवता को हिन्दुओ के देवताओ के नामों से सम्बोधित करते हैं। शिव, ईश्वर देवान भगवान आदि नाम अधिक प्रचलित हैं। अन्य पिछडे हुये कृषको के समान इन लोगो का भी विश्वास है कि इस देवता का निवास एक प्रस्तर शिला मे है। किसी वृक्ष के नीचे स्थापित इस प्रस्तर शिला के समक्ष ये लोग भी मुर्गों भेडो बकरो आदि का बलिदान करते हैं। हिन्दू देवियो क समान इन लोगो मे भी काली भगवती आदि देवियों की मान्यता पाई जाती है। किन्ही कि ही आदिमजातियो मे सर्वशक्तिमान देवता को भी स्त्रीलिंग मानते हुये देवी के रूप मे ही माना जाता है जिसे वे सम्पूर्ण आदिमजाति की आदि जननी के रूप मे मानते हैं। अकालमृत्यु चेचक, हैजा आदि महामारी क रोगो से सम्बन्धित देवियो की कल्पना भी पाई जाती है और इन रोगो स मुक्ति पाने क लिए ये आदिमजातियाँ समय समय पर उनकी पूजा आदि करती हैं तथा बलिदान चढाती हैं। इन कृषको मे ग्राम्य देवता की मान्यता इनके धम की एक विशेषता है। इनमे अपने इवी देवताओ क लिए मन्दिर बनाने की प्रथा पाई जाती हैं। इन मन्दिरो मे पूजा करने वाले पुरोहित सदव पुरुष ही होते हैं। लगभग इन सभी आदिमजातियो मे पूवजो की पूजा की जाती है। जादू अत्यधिक महत्वपूण होता है। विशेष कर कृषि उत्पादन एव रोग निवारण हेतु जादू का प्रयोग अधिक किया जाता है।

मध्य भारत की लगभग सभी आदिमजातियो मे एक सर्वशक्तिमान देवता तथा अनेक छोटे छोटे एव विशिष्ट क्षेत्रों से सम्बन्धित देवताओ मे विश्वास तथा जादू एव प्रेतात्मावाद महत्वपूण हैं। सर्वशक्तिमान देवता को ठाकुर देव बूढा दव बडा देव भगवान परमजीव, नारायण देव परमेश्वर परमात्मा आदि शब्दो से सम्बोधित किया जाता है। केवल मुडारी भाषा का प्रयोग करने वाली जैसे मुडा, हो भूमिज बिरहोर असुर आदि आदिम जातियो मे इस देवता को सिंगबोंगा कहा जाता है। सिंग' शब्द का प्रयोग सम्भवत सूर्य के लिए किया जाता है। सूर्योदय के समय ही इस परम शक्ति शाली देवता की आराधना की जाती है। सार्वजनिक बलिदान के अवसरो पर भी सर्वप्रथम इसी देवता की आराधना की जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि बलिदान मे इस देवता को श्वेत वर्ण का ही पशु अधिक रुचिकर होता है। बलिदान करते समय पशु का वध करने वाला व्यक्ति पूर्व दिशा के ओर टी मुख करके बलिदान करता है। मृतक संस्कारों में इस

देवता को जीवन एवं मरण का विधाता माना जाता है। जीवन के विशिष्ट क्षेत्रों से सम्बन्धित लघु श्रेणी के देवता कई प्रकार के माने जाते हैं। पर्वतों एवं वनों से सम्बन्धित देवता इसी श्रेणी के होते हैं। प्रत्येक गाँव में किसी वृक्ष की छाया में रक्खे एक प्रस्तर शिला खण्ड के रूप में इस देवता की पूजा की जाती है। विशेषकर फसल कटने के बाद बड़े ही आमोद प्रमोद से इस देवता की पूजा की जाती है।

एक तीसरी श्रेणी देवियो की भी पाई जाती है। इनमे पृथ्वी माता की पूजा अत्यंत महत्वपूर्ण है। चौथी श्रेणी मे परिवार एवं कुल से सम्बन्धित देवता माने जा सकते हैं। मृतकों की प्रेतात्माओ को ही कुल देवता माना जाता है। अपने मृतक सम्बन्धियों एव पारिवारिक सदस्यो के लिये ये लोग पत्थर अथवा लकडी के स्मारक स्तभ खड़े करते हैं। इन देवताओ को भी प्रसन्न रखने के लिए बलिदान किये जाते हैं। इस क्षेत्र की अधिकांश आदिमजातियाँ टोटमी हैं यद्यपि टोटम पूजा से सम्बन्धित सस्कार उतने व्यापक नही हैं जितना कि ससार के अन्य क्षेत्रो की टोटमी आदिमजातियो मे पाये जाते हैं। फिर भी ओरांव आदिमजाति मे स्थान स्थान पर टोटम स्थलों के प्रतीक रूप मे लकडी के स्तम्भ खड़े किये जाते है। समय-समय पर वहाँ पूजा की जाती है एव उपहार आदि चढाये जाते हैं।

मध्य क्षेत्र की आदिमजातियो मे यह एक सामान्य विश्वास है कि व्यक्ति की अनेक आत्मायें होती हैं। आत्माओ के पुनर्जन्म मे भी विश्वास किया जाता है। जिन प्रेतात्माओ के लिए विधिवत मृतक सस्कार नही किये जाते हैं उन्हें शाति नहीं मिलती और वे लोगो के लिए विभिन्न प्रकार की व्याधियो का कारण बन जाती हैं। ये आदिमजातियाँ कुछ ऐसी अशुभ प्रेतात्माओं मे भी विश्वास करती हैं जो कभी भी मानव रूप मे न रहीं हो। गमय समय पर उन्हे प्रसन्न रखने के लिए विधिवत् सस्कारों का आयोजन किया जाता है। जादूगर उनके स्वभाव से परिचित माने जाते हैं।

ऊपर वर्णित आदिमजातियो के विपरीत असम की आदिमजातियो मे सर्वशक्तिमान देवता के स्थान पर निम्न श्रेणी के देवी देवताओ को अधिक महत्व दिया जाता है। दिन प्रतिदिन के जीवन मे उनकी प्रभाविकता अधिक मानी जाती है। यह एक सामान्य धारणा है कि परमशक्तिमान देवता किसी का अनिष्ट नही करता जब कि निम्न श्रेणी के देवता अनिष्टकारी हो सकते हैं। इसीलिये इन लघुस्तरीय देवताओं को प्रसन्न रखने के लिए अवसर बलिदान आदि के आयोजन किये जाते हैं। फिर भी वे एक परम शक्तिमान

देवता में अपनी आस्था व्यक्त करते हैं और उसे लघुस्तरीय देवताओं की तुलना मे श्रेष्ठ मानते हैं। आओ नागाओं का विश्वास है कि परमशक्ति सम्पन्न देवता का निवास आकाश में है इसीलिये वे उसे सम्बोधित करने के लिए अपनी भाषा के एक ऐसे शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ वायुमंडल की प्रेतात्मा होता है। इस देवता की पूजा में कभी किसी प्रकार की भेंट नही चढ़ाई जाती। इस देवता को अपनी भाषा मे लुग की-जिबाबा कहते हैं। उनका विश्वास है कि पृथ्वी की उत्पत्ति इसी परमशक्तिमान देवता से हुई है। इस देवता के सम्बन्ध मे लोहटा नागा लोगो के विचार कुछ स्पष्ट नही हैं। किंतु मनीपुर के नागा भी पृथ्वी की उत्पत्ति इसी देवता से मानते हैं। वे भूचाल आदि के लिए भी इसी देवता को उत्तरदायी मानते हैं। कुकी आदिम जाति के लोग भी इस देवता को आकाश का देवता मानते हैं।

अरुणांचल प्रदेश की आदिमजातियो के धार्मिक विश्वासो के सम्बन्ध मे अत्यत न्यून सूचनायें प्राप्त हैं किन्तु उनमे भी किसी न किसी रूप मे एक परम शक्तिमान आध्यात्मिक सत्ता मे विश्वास पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए डाफला आदिमजाति मे इस सत्ता को देवी के रूप मे माना जाता है। इस देवता के अतिरिक्त असम की आदिमजातियो मे अनेक ऐसे लघुस्तरीय देवी देवताओ मे भी विश्वास पाये जाते हैं जिनके प्रति लोगो मे भय की भावना रहती है और इसीलिये वे लोग सदैव प्रार्थना एव बलिदान के माध्यम से उन्हे प्रसन्न रखने के लिए विविधि प्रकार के अनुष्ठान चलाते है।

असम की आदिमजातियो मे मरणोपरात व्यक्ति की आत्मा कहाँ जाती है इस सम्बन्ध मे कुछ विचित्र प्रकार के विश्वास पाये जाते हैं। कुछ आदिम जातियो मे स्वर्ग की कल्पना भी पाई जाती है। उदाहरण के लिए आओ नागा लोगो का विश्वास है कि सदाचारी व्यक्तियो की आत्मायें मृत्यु के पश्चात पूर्व दिशा की ओर जाती है तथा दुराचारियो की आत्मायें पश्चिम की ओर जाती है। अगामी नागाओ का विश्वास है कि केवल उन्ही व्यक्तियो की आत्मायें स्वर्ग मे जाती हैं जिन्होने अपने जीवनकाल में कुछ विशेष भोजों का आयोजन किया है तथा अपवित्र मांस का आहार नही किया है। अन्य व्यक्तियो की आत्मायें स्वर्ग तक नही पहुच पातीं और उन्हे फिर से सात बार जन्म लेना पड़ता है। लगभग सभी नागा आदिमजातियो में मनुष्ययोनि से कीड़े मकोड़ो के रूप मे आत्माओ के प्रत्यावर्तन के विश्वास पाये जाते हैं। यह भी एक सामान्य धारणा पाई जाती है कि स्वर्ग तक पहुचने के लिए आत्मा को कठिनाइयो का सामना करना पड़ा है तथा उसके जीवित सम्बन्धी

सोच ही उसे इन कठिनाईयों का सामना कर सकने में सहायक हो सकते हैं। सम्भवतः इसी धारणा के परिणामस्वरूप ही नागा लोग मृतक की समाधि में एक भाला भी रख देते हैं। डाफला लोगों का विश्वास है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा एक उच्चस्तरीय जीवन व्यतीत करने के लिए समृद्धि एवं सम्पन्नता के जगत में पहुंच जाती है।

विश्वासों की विविधताओं एवं विषमताओं ने आदिम धर्म के विवरणों को अत्यन्त जटिल बना दिया है। धर्म के साथ साथ जादू का अत्यधिक महत्व आदिम धर्म की विशेषता है। जादू एवं धर्म आदिवासियों मे आध्यात्मिकता के दो ऐसे स्वरूप पाये जाते हैं जिन्हें एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से दोनो एक दूसरे से भिन्न मान्यताओं पर आधारित होते हैं। धर्म एवं जादू दोनों का सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत मे स्थित काल्पनिक शक्तियो से होता है किन्तु इन शक्तियों के प्रति सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण ही उन्हें जादू अथवा धम की श्रेणी में ला देता है। विश्वासो पर आधारित आध्यात्मिक मनुष्य जब स्वय को इन शक्तियों के आधीन समझते हुये विनम्रता एवं समर्पण की भावना से अपने व्यवहार प्रदर्शित करता है तो उसके वे व्यवहार धर्म को जन्म देते हैं। किन्तु जब वह स्वय को इन शक्तियो से अधिक सक्षम समझते हुये अपने स्वार्थों के अनुकूल उनका सचालन, निर्देशन एव नियन्त्रण करने का प्रयास करता है तो उसके वे व्यवहार जादू की श्रेणी मे आते हैं। उपासना, आराधना आदि मनुष्य के द्वारा नि स्वार्थ भावना से किये गये ऐसे व्यवहार होते हैं जो कि सर्वशक्तिमान आध्यात्मिक शक्तियो के प्रति उसका समपण परिलक्षित करते हैं। इस समर्पण की पृष्ठभूमि मे इच्छित लक्ष्यो की पूर्ति की आशा एव आराध्य शक्तियो मे विश्वास ही उसके इन व्यवहारो को सार्थक बनाते हैं। किन्तु इसके बिल्कुल विपरीत जब मनुष्य अपने को आध्यात्मिक शक्तियो का नियन्त्रक एवं निर्देशक मानते हुये तन्त्र के सहारे उन्हे अपने उद्देश्य पूर्ति का साधन बना लेता है तो उसके ये व्यवहार जादू को जन्म देते हैं। ये शक्तियाँ अशरीरी होती हैं तथा यन्त्रवत कार्य करती हैं। व्यक्तित्व विहीन एव यन्त्रात्मक होने के कारण इनके प्रभाव शुभ एवं अशुभ, कल्याणकारी एव विनाशकारी दोनों ही प्रकार के होते हैं। इन्हें मनुष्य विविध अनुष्ठानो एवं कुछ मंत्रों के सहारे अपनी इच्छानुसार निर्देशित कर सकता है। जादू के क्षेत्र में मनुष्य की मानसिक प्रवृत्ति सबल होती है तथा आध्यात्मिक जगत के समक्ष वह अपने को एक सफल निर्देशक के रूप में प्रस्तुत करता है जहाँ सफलता की उसे आशा ही नहीं होती बल्कि उसे वह सुनिश्चित मानकर

चलता है। आदिवासियों के आध्यात्मिक जीवन मे इन दोनो प्रकार के व्यवहारों का ताल मेल ही उनकी आध्यात्मिकता की विशेषता है।

जादू सदैव उद्देश्यपूरक व्यवहारो का परिणाम होता है, अत उद्देश्यो के स्वभाव पर ही जादू का प्रकारान्तर किया जा सकता है। अनेक आदिम जातियो मे फसल बोने के पूर्व कुछ क्रियायें की जाती हैं। मंत्रो एवं इन क्रियाओ के माध्यम से उन शक्तियो का आवाहन किया जाता है जिन्हें अधिक उपज से सम्बन्धित मानते हैं। ऐसे जादू उत्पादन वृद्धि से सम्बन्धित होने के कारण उत्पादक जादू कहे जाते हैं। कृषि कार्य मछली पकडने का कार्य और शिकार आदि मे एक प्रकार की अनिश्चितता की भावना सदैव बनी रहती है तथा सफलता के लिए सघर्ष करना पडता है अत शिकार अथवा मत्स्य अभियान पर जाने से पूर्व किसी प्रकार के जादू का आयोजन आदिवासियो मे एक सामान्य सी बात पाई जाती है। इसी प्रकार जीवन के विविध सघर्षों मे सुरक्षा का प्रश्न भी उनकी जीवन परिस्थितियो मे अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। वे अपने पडोसियो से सम्पर्क स्थापित करने मे इसलिए हिचकते हैं कि कही उनका जादू उन्हे सकटग्रस्त परिस्थितियों मे न डाल दे। अत इस आशका के निवारण के लिए वे जादू का सहारा लेते हैं। बीमारी से छुटकारा पाने के लिए भी वे जादू का ही प्रयोग करते हैं। यद्यपि अपने जगलो मे प्राप्त जडी बूटियो आदि की उपयोगिता की जानकारी इन्हें कही अधिक है फिर भी विश्वासो का जगत वास्तविक अनुभव से कही अधिक महत्वपूण एव प्रभावशाली माना जाता है। किसी भी प्रकार की सुरक्षा के उद्देश्य से किये गये सभी जादू सुरक्षात्मक जादू के क्षेत्र मे आते हैं। उत्तर प्रदेश के उत्तर मे तराई क्षेत्र के निवासी थारू लोगो म भी जादू उनके जीवन का महत्वपूण अग है। थारू स्त्रियाँ जादू मे प्रवीण एव सिद्धहस्त समझी जाती हैं। जादू टोने आदि मे उनकी ख्याति इतनी अधिक है कि उनके पास पडोस के लोग थारू स्त्रियो के सम्पक मे आते हिचकते हैं। जहाँ एक ओर कोरवा लोग अन्य लोगो से अपने को दूर रखने का प्रयास करते हैं वही थारू लोगो से अन्य लोग स्वय दूर भागते हैं—यह एक अत्यन्त रोचक तथ्य है।

आदिम समाजो मे अपने पड़ोसियो एव सभी प्रकार के डीकू (बाह्य तत्वो), नाना प्रकार के विघ्न बाधाओं एव भविष्य की आशकाओं आदि से अपने को सुरक्षित रखने में जादू ही एक मात्र आधार होता है। राँची जिले के खडिया बाहर से आये हुये किसी व्यक्ति को बलिदान किये हुये मुर्गे के रक्त की एक बूंद को पत्ते पर रख कर चाटे बिना घर मे नही घुसने देते।

उन्हें यह आशंका बनी रहती है कि बाहरी लोगों के सम्पर्क में आकर वे अपवित्रता एवं अन्यों के जादू के प्रभाव अपने साथ लाते हैं अत घर में घुसने से पहले इस प्रकार किये गये जादू से पवित्र हो जाने के उपरान्त यह आशंका समाप्त हो जाती है। इसी आधार पर अधिकांश आदिवासी बाहरी व्यक्तियों से सम्पर्क निषेधित करते हैं। इस प्रकार जादू का सहारा लेकर आदिवासी समुदाय असुरक्षा के सभी सम्भावित स्रोतों को प्रभावहीन करके सुरक्षित एव निर्विघ्न जीवन व्यतीत करने की मनोकामना एवं आत्मविश्वास लेकर जीवन के असीम सघर्षों से जूझने के लिए प्रस्तुत रहता है। विपदायें, अकाल, अति वर्षण, महामारी आदि सभी प्रकार की बाधाएँ आती जाती रहती हैं किन्तु उनका आत्मविश्वास एवं आने वाले कल के प्रति आशायें बनी रहती हैं जो उनमे जीवन के प्रति मोह एवं सघर्ष के लिए साहस प्रदान करती रहती हैं।

आदिम समुदायों की तार्किक क्षमता का परिचय कुछ अन्य प्रकार के जादू टोनो से भी मिलता है। छोटा नागपुर के ओरॉव एव मुडा मे बिजली की कडकडाहट की आवाज को वर्षा का प्रतीक एवं कारण माना जाता है। अत अवर्षण से आने वाले अकाल की विभीषिका से डरे हुये मुडा लोग पहाडियो पर चढ कर पत्थर लुढकाने लगते हैं। विधिवत एक मुर्गी अथवा सुअर का बलिदान करने के बाद यह कार्य प्रारम्भ करते हैं। उनका विश्वास है कि पत्थर लुढ़काने से बिजली की कडकडाहट के समान ही आवाज उत्पन्न होने के कारण वर्षा होगी। इसी प्रकार छोटा नागपुर की ही हो आदिमजाति के लोग अवर्षण के समय चारो ओर घास फूस, लकडी पत्तो आदि को सुलगा कर धूम्रपुज उत्पन्न कर देते हैं जो कि ऊपर उठकर बादलों की भाँति आकाश में फैल जाता है। वे आशा करते हैं कि वर्षा के समय इसी प्रकार से आकाश मेघाच्छादित होता है अत वर्षा होगी। समान परिस्थितियाँ और समान कारक समान परिणामों को जन्म देते हैं यही वह तार्किक आधार है जिस पर उनके ये व्यवहार आधारित होते हैं।

व्यक्तियों को प्रभावित करने के लिए उनके सम्पर्क में आई वस्तुओ आदि पर ही जादू की क्रिया करके उन्हें प्रभावित किया जा सकता है। पहनने के कपड़े, केश, नाखून आदि सभी जादू की क्रिया के द्वारा प्रभावित किये जा सकते हैं और यह मान लिया जाता है कि ये प्रभाव उनके संसर्ग में आये व्यक्ति को प्रभावित करेंगे। आदिम तार्किक बुद्धि यह मान कर चलती है कि एक बार व्यक्ति के संसर्ग में आने के उपरान्त उससे अलग होने पर भी वस्तुओं को सम्पर्कविहीन नहीं समझा जा सकता। एक बार सम्पर्क स्थापित

हो जाने पर परोक्ष रूप से यह सम्पर्क सदैव बना रहता है। फ्रेजर के अनुसार इन्हीं निराधार तर्कों पर आधारित मान्यतायें इस प्रकार के जादू को जन्म देती हैं। प्रथम प्रकार के तर्क पर आधारित जादू को फ्रेजर ने होमियोपैथिक अथवा अनुकरणात्मक जादू कहा है तथा दूसरे प्रकार के तर्क पर आधारित जादू को स्पर्श या ससर्ग से सम्बन्धित होने क कारण सक्रामक जादू कहा है। इन दोनो प्रकार के जादुओ को फ्रेजर ने सम्मिलित रूप से सहानुभूति जादू कहा है।

मैलिनोस्की ने जादू के उद्देश्य के आधार पर दो प्रमुख प्रकार के जादू अर्थात सफेद एव काला जादू की चर्चा की है। कल्याणकारी एव सार्वजनिक हित के उद्देश्य से किये गये सभी जादू सफेद जादू की श्रेणी मे आते हैं जबकि विनाशकारी सदिग्ध एव असामाजिक उद्देश्यो की पूर्ति क लिए किये गये जादू को काला जादू कहा जाता है। काले जादू का प्रयोग बहुधा शत्रुता एव बदला लने की भावना से किया जाता है। मैलिनोस्की ने टोना टोटका तथा भूत प्रेतो की सिद्धि आदि को भी काल जादू मे ही सम्मिलित किया है।

सभ्य समाजो मे प्रचलित धार्मिक आस्थाओ एव विश्वासो के सन्दभ मे आदिम धम का मूल्यांकन करना ही उसे समझने मे सबसे बडी कठिनाई है। प्रत्येक समाज एव सस्कृति मे धम का स्वरूप उन परिस्थितियो से निर्धारित होता है जिन परिस्थितियो मे वे लोग रहते हैं। धम मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओ की उपज है तथा इसे कल्पना एव वास्तविक अनुभवो की अ तरक्रिया का परिणाम माना जा सकता है। आदिवासियो के पर्यावरण एव उनक अनुभवो क सीमित दायरे उनके विश्वासो के स्वरूप एव अनुष्ठानो के विधान निर्धारित करते हैं। हम सभ्य सस्कृतियो क लोग उन दायरो को तोड चुके हैं तथा हमारे अनुभवो का क्षत्र अधिक व्यापक एव कल्पनायें अधिक विस्तृत हो चुकी हैं। यही वे सन्दभ हैं जो कि आदिवासियो क धर्म को एक विशिष्ट श्रणी प्रदान करते हैं। तार्किक बुद्धि के विकास एव दार्शनिकता के प्रभाव मे सभ्य समाजो के धर्म को जादू के चगुल से मुक्त किया। आदिवासी धर्म जादू एव धम के मिश्रित रूप मे एक विशिष्ट प्रकार के विश्वासो का जगत प्रस्तुत करता है जहाँ व्यक्ति एक ओर आध्यात्मिक शक्तियो की आराधना करता है, स्वय को उनके आधीन मानता है तथा दूसरी ओर कुछ अन्य आध्यात्मिक शक्तियो को नियन्त्रित करके उन्हे अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करता है। धर्म और जादू का एक दूसरे से अलग विपरीत प्रकार की प्रवृत्तियो के रूप में विश्लेषण सभ्य समाजो मे प्रचलित धर्म मे ही सम्भव है।

आधुनिक सभ्य संस्कृतियों में अनिष्ट की कल्पना आध्यात्मिक मान्यताओं से जुड़ी हुई नहीं पाई जाती। आध्यात्मिकता शुभ एवं कल्याणकारी ही मानी जाती है। शुभ का अभाव ही अनिष्टकर हो सकता है। परन्तु आदिम धर्म में आध्यात्मिक मान्यताओं के दोहरे स्वरूप पाये जाते हैं। शुभ एवं अशुभ आध्यात्मिकता के दो पक्ष माने जाते हैं। शुभ का आवाहन एवं अनिष्ट से मुक्ति ही आदिम धार्मिकता का आधार है। आध्यात्मिकता के इन दोहरे स्वरूपों का तालमेल आदिम धर्म की एक प्रमुख विशेषता है। भारतीय आदिवासियों में सदियों से हिन्दुओं के सम्पर्क के प्रभावों ने उनके धर्म को एक निश्चित दिशा प्रदान की है यद्यपि उनके धर्म का व्यावहारिक पक्ष उतना प्रभावित नहीं हो सका तथापि विचारों एवं विश्वासों के क्षेत्र में ये प्रभाव अधिक सक्रिय हुये हैं। उनके खान पान एव नैतिकता के आदर्शों पर हिन्दू विचारधारा के व्यापक प्रभाव पड़े हैं फिर भी अधिकांश आदिवासी संस्कृतियों मे उनकी धार्मिक विशिष्टताएँ आज भी विद्यमान हैं।

8

आदिवासी समस्यायें एव कल्याण

प्रत्येक स्तर के जीवन की अपनी कुछ समस्यायें होती हैं। आधुनिक सभ्य मानव ने जहा एक ओर अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा से निरतर तकनीकी प्रगति करते हुये अपनी अनेक समस्याओ का समाधान किया है वही अपने इन्ही प्रयासो से उसने अनेक समस्याओं को भी जन्म दिया है। स्वत जनित समस्याओ का कुचक्र ही मुख्यत आज के सभ्य जीवन का अभिशाप बनता जा रहा है। इसके साथ ही साथ आदिवासियों की अधिकाश समस्यायें भी सभ्य समाजो की ही देन हैं। इस अध्याय में हमने भारतीय आदिवासी जीवन की प्रमुख समस्याओ की चर्चा करते हुये इस सन्दर्भ में समय समय पर किये गये कल्याणकारी कार्यों की समीक्षा भी की है।

पिछले अध्याय में आदिवासी आंदोलनों एवं क्रांतियों के संदर्भ में हमने उनकी पृष्ठभूमि में निहित कारकों की चर्चा की है। हमारा यह दृष्टिकोण रहा है कि किसी भी आंदोलन अथवा क्रांति की पृष्ठभूमि में कुछ ऐसे मूल कारण होते हैं जो असंतोष को जन्म देते हैं। सदैव किसी न किसी रूप में व्याप्त असतोष ने ही आदिवासी जनजीवन को आदोलित किया। वास्तव में आदिवासियों का जीवन दर्शन अपने मे एक विशिष्ट कोटि का जीवन दर्शन है, जिसमें असंतोष का कोई स्थान नहीं होता। अत्यन्त अभावग्रस्त अवस्थायें तथा कठोरतम सघर्ष उनके जीवन का एक अग बन जाते हैं जिनसे अपने सामाजिक मूल्यों, आस्थाओं एवं विश्वासों के सहारे समायोजन करना उनके जीवन का एक दृष्टिकोण बन जाता है। आदिवासियो की भी आकांक्षायें होती हैं, उनमें भी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा एव मानव स्वभाव जनित सभी प्रकार के सवेग होते हैं जो समय समय पर वैमनस्य, सघर्ष आदि को जन्म देते हैं। परन्तु इन सबके होते हुए भी जीवन के प्रति उपेक्षा अथवा ऊबा देने वाला मानसिक उत्पीडन का स्तर नही आने पाता जो कि आधुनिक सभ्य समाजों के जीवन का एक अग बन चुका है। आज हमारे देश में गरीबी सपूर्ण देश के जन-जीवन की एक प्रमुख समस्या है। परन्तु जिस गरीबी से हम सभ्य समाज के लोग परिचित हैं उससे कही अधिक निम्नकोटि का जीवन स्तर असख्य आदिवासियो का सामान्य जीवन है। किंतु आंशिक रूप से सभ्य समाजो से विलग होने के कारण तथा आंशिक रूप से अपनी सकुचित विश्व दृष्टि के तथा परपराओं पर आश्रित होने के कारण वे अधिकांशतः अपने अतीत के प्रसगों से जड़ित होते हैं। परिणामस्वरूप उनकी संस्कृतियो का एक विशिष्ट व्यक्तित्व उभर कर सामने आ जाता है और अक्सर उनमें व्यक्त एवं अव्यक्त रूप से अन्य सस्कृतियों से भिन्न मान्यतायें मनोवृत्तियां एवं प्रेरणायें जन्म लेती हैं। यही विशिष्टतायें साधारणतया उनके समक्ष सामाजिक, आर्थिक एव सामान्य सांस्कृतिक समायोजन सम्बन्धी समस्यायें उत्पन्न कर देती हैं।

आदिवासी सदियों से निम्नतम स्तर का जीवन व्यतीत करते आ रहे हैं और सामान्यत उन्हें अपने इस जीवन से उपेक्षा नहीं होती। परन्तु जब उनका परिचय एवं संपर्क ऐसी व्यवस्थाओ से होता है जहाँ जीवन अपेक्षाकृत अधिक सुविधापूर्ण हो, तब उनमे अपने जीवन के प्रति असतोष व्याप्त होने लगता है। अथवा एक नवीन किंतु अपरिचित जीवन परिपाटी से परिचय होने पर उन्हें अपना अभावपूर्ण जीवन असह्य हो उठता है। नये विश्वासो

से परिचय होने पर उनके अपने परम्परागत विश्वास एवं आस्थायें शिथिल पड़ने लगती हैं। यहीं पर उनकी अनेक समस्याओं का जन्म होता है। इससे पूर्व की स्थिति मे जो उनका सामान्य जीवन था जिससे उन्हें संतोष था वही जीवन नवीन सदर्भों में असह्य हो उठता है तथा असतोष एवं मानसिक उत्पीडन को जन्म देता है।

अत इसमे कोई सदेह नही कि हमारे देश के आदिवासियों के समक्ष अनेक समस्यायें है परन्तु यह भी सत्य है कि उनकी अधिकाश समस्याओं के लिये हम सभ्य समाज के लोग हो उत्तरदायी हैं। परम्पराओ ने उन्हे अभाव एव प्रकृति से संघर्षों के मध्य जीना सिखाया है। भौतिक समृद्धि उनके जीवन का आकर्षण कभी भी नही रही है। अपनी सस्कृतियो पर उन्हें गर्व है। उनकी सस्कृतियो का अपना व्यक्तित्व होता है तथा प्रत्येक आदिवासी सस्कृति परिस्थितियो एव जीवन की समस्याओ के मध्य एक विशिष्ट कोटि का अनुकूलन है। परिवतन प्रत्येक सस्कृति का एक स्वाभाविक लक्षण होता है, आदिवासी सस्कृतिया भी परिवर्तन के प्रति उदासीन नही होती। उनमें गत्यात्मकता है जिसके परिणामस्वरूप परिवर्तित परिवेशो मे सतत रूप से परिवर्तित समस्याओ का समाधान करने में वे सक्षम होती हैं। फिर भी आदिवासियो की कुछ ऐसी समस्यायें हैं जिनके स्रोत उनके सामाजिक सास्कृतिक जीवन की परिधि से बाहर हैं। वाह्य सदर्भों से प्राप्त इन समस्याओ के समाधान करने मे प्राय उनकी सस्कृतियाँ असफल होती हैं। बाह्य सदर्भों मे उत्पन्न कारक उनके सास्कृतिक सतुलन को भग कर देते हैं।

हमारे देश के आदिवासियो के निवास क्षत्रो भौगोलिक पर्यावरण एव सस्कृतियो मे विभिन्नताओ के अनुरूप ही उनकी समस्याओ के भी विभिन्न स्वरूप हैं। सभी आदिवासियो की समस्यायें एक समान नही हैं। धीरेन्द्र नाथ मजूमदार ने इसी दष्टिकोण से आदिवासियो के तीन वर्गों की चर्चा की है। एक तो वे आदिवासी जो कि अपने मूल निवास क्षेत्रो मे अपेक्षाकृत एकातरूप से रह रहे हैं तथा जिन पर सपर्कों के प्रभाव यूनतम हुये हैं। ऐसे आदिवासियो की सख्या अब बहुत कम रह गई है। विशेषकर दक्षिण भारत के घने जगलो मे बसने वाले कुछ आदिवासी तथा अडमान तथा निकोबार द्वीप समूह के कतिपय आदिवासी इस वर्ग मे महत्वपूर्ण हैं।

दूसरे वर्ग मे वे समुदाय आते हैं जिनका अन्य समुदायो से अत्यधिक संपर्क हुआ है और परिणामस्वरूप उनका सामाजिक सास्कृतिक एवं आर्थिक जीवन अत्यधिक प्रभावित हुआ है। आवागमन के साधनों के प्रसार, औद्योगीकरण

एवं अन्य विभिन्न कारणों से अन्य विभिन्न समुदायों से उनके संपर्क हुये हैं और उनका जीवन प्रभावित हुआ है। परिणामस्वरूप उनके जीवन में कुछ विशिष्ट समस्याओं ने जन्म लिया है। प्रमुख रूप से बिहार एवं मध्य प्रदेश के आदिवासी समुदाय इस वर्ग में आते हैं। खनिज संपदा से भरपूर बिहार आज औद्योगीकरण की ड्योढ़ी पर है। आदिवासी क्षेत्रों में औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना होती जा रही है। आदिवासी श्रमिक ही इन वृहद् औद्योगिक संस्थानो के मेरुदण्ड हैं। इन संस्थानों में सक्रिय श्रमिक संगठनों ने राजनैतिक स्तर पर उन्हें संगठित किया है। आज बिहार के आदिवासियों की समस्यायें प्रदेश की वृहद् राजनीति का एक अंग बनती जा रही हैं। जहाँ इसके पूर्व जमींदारों एवं महाजनो द्वारा भूमि अपहरण तथा मिशनरियो द्वारा सांस्कृतिक जीवन मे हस्तक्षेप उनकी प्रमुख समस्यायें थीं, जिन्होंने इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे आदोलनो एव क्रांतियो को प्रेरित किया, वहाँ आज बढते हुये औद्योगीकरण के सदर्भ मे उनकी समस्याओ ने केवल एक नया रूप ही नहीं ग्रहण किया अपितु उनमें वृद्धि भी हुई है। इस प्रकार विभिन्न आधारो पर बाह्य तत्वो से सपर्क एव उनके द्वारा आर्थिक शोषण ही इस वर्ग मे सम्मिलित किये जाने वाले आदिवासियो की प्रमुख समस्यायें हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विभिन्न राजनैतिक तत्वो ने इन परिस्थितियो का लाभ भी उठाया है। अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिये इन तत्वों ने उनमें परस्पर वैमनस्यता को जन्म दिया है।

तीसरे वर्ग मे वे आदिवासी समुदाय आते हैं जो कि औद्योगिक क्षेत्रो के समीप उभरते नगरो एव उपनगरो मे प्रवासित हो चुके हैं। औद्योगिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण उनके क्षेत्रो मे परिवहन एव सचार सुविधाओ में वृद्धि हुई है। परिणामस्वरूप तीव्र गति से हो रहे परिवर्तनो के मध्य वे अपनी परम्पराओ एव सांस्कृतिक मूल्यो की रक्षा नही कर पा रहे हैं और उनका जीवन नवीन एवं पुरातन के सघर्ष मे अनेक समस्याओ से घिरा हुआ है।

समस्याओ के दृष्टिकोण से देश के उत्तर पूर्व एव उत्तर पूर्वी सीमांत प्रदेश के आदिवासी अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। अन्य आदिवासी वर्गों की तुलना में यह वर्ग राजनैतिक अशांति का केंद्र रहा है। ब्रिटिश प्रशासन के दीर्घकाल में यह क्षेत्र ईसाई मिशनरियो का प्रमुख केन्द्र रहा है। मिशनरियो के सराहनीय सेवा कार्यों ने इस क्षेत्र के आदिवासियों में शिक्षा का अत्यधिक प्रसार किया। पाश्चात्य परिवेश मे प्रशिक्षित एवं अपनी परम्परा-

गत सांस्कृतिक आधारों से विमुख इन आदिवासियों में वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं राजनैतिक स्वतन्त्रता की चेतना अत्यधिक पाई जाती है। किसी भी रूप में बाह्य हस्तक्षेप इन्हें असह्य हो जाता है। परिणामस्वरूप निरन्तर पारस्परिक द्वन्द एवं संघर्ष उनके जीवन की सामान्य स्थिति बन चुकी है। यही इनकी समस्या है और इसी समस्या अर्थात् अपने स्वतन्त्र राजनैतिक अस्तित्व के लिये वे आज भी संघर्षरत हैं। इसमे कोई संदेह नही है कि उनकी इस समस्या का उदगम उनकी विशिष्ट मानसिक प्रवृत्ति मे है जिसके निर्माण मे मिशनरियो का ही योगदान अधिक रहा है। देश के उत्तरी पूर्वी सीमाओ के निवासी होने के कारण अन्य आदिवासियो की तुलना मे इनका राजनैतिक महत्व अधिक हो जाता है और इस सपूर्ण क्षेत्र में विदेशी मिशनरी इस महत्व को ध्यान मे रखते हुये सक्रिय रहे हैं। अपने प्रभाव मे आये हुये आदिवासियो मे इस दूषित मनोवृत्ति का प्रसार उन्ही के निरन्तर प्रयासो का परिणाम है। यह मनोवृत्ति जहाँ एक ओर आदिवासियो के लिये एक समस्या बन गई है वही देश की सरकार के लिये भी एक महत्वपूर्ण समस्या है। अत व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की उत्कट अभिलाषा ही इन आदिवासियो की एक प्रमुख समस्या है।

आदिवासी समस्याओ के विभिन्न रूप

उपर्युक्त विवरण मे हमने आदिवासियो की समस्याओ के ऐतिहासिक पक्ष को प्रस्तुत करते हुये समस्याओ के विभिन्न दृष्टिकोणो की चर्चा की है। विभिन्न क्षेत्रो के आदिवासियो की अनेक व्यक्तिगत समस्यायें भी हैं जिन्हे किसी सामान्य विवेचना की सीमाओ मे नही समझा जा सकता। फिर भी यदि हम देश के आदिवासी समुदायो पर अन्य सभ्य कहे जाने वाले समुदायो से अलग विचार करें तो इन समुदायो की कुछ सामान्य समस्याय हमारे सामने आती हैं जिनकी विवेचना तथा जिनका वैज्ञानिक अध्ययन उनके समाधान के प्रयासो की किसी योजना के लिये महत्वपूर्ण है। मानववैज्ञानिको ने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के आधार पर इन समस्याओ को सामान्य वर्गों मे वर्गीकृत करने की चेष्टा की है। अधिकाश मानववैज्ञानिको के अनुसार हम इन समस्याओ के तीन प्रमुख वर्गों की चर्चा कर सकते हैं। एक तो वे समस्यायें जो केवल आदिवासी समुदायों की ही समस्यायें है तथा अन्य समुदायो के अन्दर नही पाई जाती। दूसरी वे समस्यायें जिनका जन्म आदिवासी समुदायो मे ब्रिटिश प्रशासन की कानून एवं

भूमि व्यवस्थाओं के परिणाम स्वरूप हुआ। चूंकि ब्रिटिश प्रशासन द्वारा आरोपित कानून एवं भूमि व्यवस्था स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी यथावत् रही, अतः ये समस्यायें आज भी किसी सीमा तक यथावत उसी रूप में विद्यमान हैं। तीसरे वर्ग में वे अधिकांश समस्यायें आती हैं जो बाह्य संपर्कों के प्रभावों से उत्पन्न हुई हैं। इन संपर्कों के परिणामस्वरूप जहां एक ओर कुछ आदिमजातियों में नई प्रवृत्तियों का प्रवेश हुआ जिनके कुप्रभावों से वे पीड़ित हैं, वहीं दूसरी ओर उनके सांस्कृतिक जीवन का पतन भी हुआ है। यहाँ तक कि कहीं कहीं उनके आदिमजातीय सामाजिक स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो चुके हैं और उनका सामाजिक संगठन एक नवीन पद्धति पर संगठित हो चुका है।

एक अन्य दृष्टिकोण से कुछ मानववैज्ञानिकों ने आदिवासी समस्याओं का वर्गीकरण इस प्रकार से किया है—

1—व्यक्तिगत समस्यायें

2—बाह्य संपर्क से उत्पन्न समस्यायें

3—औद्योगीकरण से उत्पन्न समस्यायें

4—मिशनरी गतिविधियों से उत्पन्न समस्यायें

इन दोनो वर्गीकरणो पर विचार करने पर हम एक सामान्य निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं जिसके आधार पर ये समस्यायें निम्नलिखित हो सकती हैं—

1—समायोजन की समस्यायें–जिनका जन्म (अ) बाह्य सपर्कों, (ब) मिशनरी गतिविधियो के परिणामस्वरूप तथा (स) औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप हुआ है।

2—सांस्कृतिक-व्यक्तित्व से सम्बन्धित समस्यायें जिनका जन्म प्रधानतः (अ) परसंस्कृतीकरण की विभिन्न अवस्थाओं (ब) राजकीय कल्याणकारी कार्यक्रमो एव सामुदायिक विकास योजनाओ के प्रसार तथा (स) राजनैतिक कारणो से हुआ।

समायोजन की समस्यायें

बाह्य सम्पर्कों के प्रभाव जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, ब्रिटिश सरकार के समय में आदिवासी क्षेत्रों में भी राजनैतिक प्रभुत्व की स्थापना के उद्देश्य से आवागमन के साधनो का विकास हुआ। इसके परिणाम-स्वरूप धीरे धीरे बाह्य संस्कृतियों के लोग अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए इन

क्षेत्रों में आकर बसने लगे। ब्रिटिश शासन काल के पूर्व भी जिन्हीं क्षेत्रों में आदिवासियो के सम्पर्क अन्य संस्कृतियों के लोगों से होते रहे किन्तु वे सम्पर्क अधिकांशत अल्पकालिक थे तथा उनके सामाजिक सांस्कृतिक जीवन पर इन सम्पर्कों के कोई विशेष प्रभाव नहीं पडे। इन संस्कृतियो के प्रभावों से आदिवासियों मे कुछ व्यक्तिगत समस्याओं का जन्म भी हुआ। उदाहरण के लिये अधिकांश आदिवासी बहुत ही कम वस्त्रो का प्रयोग करते थे। सभ्य समाज के वर्गों के सम्पर्क मे आकर उन्होने अधिक परिमाण मे वस्त्रों का प्रयोग करके पूरे शरीर को वस्त्रो से ढकना शुरू कर दिया। किन्तु वस्त्रो के प्रयोग से सम्बन्धित स्वच्छता की आवश्यकताओ की पूर्ति वे नहीं कर सकते थे। सीमित साधन एव अज्ञानता दोनो ही कारण बाधक थे। परिणामस्वरूप मैले कुचैले वस्त्रो का निरन्तर प्रयोग करते रहने से वे नाना प्रकार के चर्म रोगों से रोग ग्रस्त होने लगे। कही कही इस समस्या ने भीषण रूप भी धारण कर लिया। इन अपरिचित रोगो का कोई निदान भी उनके पास नही था। इसी प्रकार से अधिकाश आदिवासी जगलो पर सदैव अपना एकाधिकार समझते रहे हैं। उनके आर्थिक जीवन का आधार उनके जगल ही थे। इन्हीं जगलो को काट कर एव जलाकर परपरागत विधि से खेती करते थे। किन्तु ब्रिटिश प्रशासन ने वन सम्पदा से आर्थिक लाभ उठाने के दृष्टिकोण से अधिकाश वनो के विस्तृत क्षेत्रो को आरक्षित घोषित कर दिया तथा इन क्षेत्रो में आदिवासियो का प्रवेश निषेधित कर दिया। उनके परम्परागत रूप से खेती करने पर रोक लगा दी। इसमे सन्देह नही कि उनकी खेती करने की यह विधि अत्यन्त अलाभकारी थी तथा अन्य अनेक दृष्टिकोणो म हानिकारक भी परन्तु इन प्रतिबन्धो को लगाने के साथ उन्हे कोई विकल्प नही प्रदान किया गया तथा उन्हे विषम आर्थिक कठिनाइयो से सघष करने के लिये छोड दिया गया। मिर्जापुर तथा बिहार के कोरवा तथा कुछ अन्य आदिवासियो मे परिस्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई तथा तीव्रगति से उनकी सख्या कम होने लगी। साथ ही वन विभाग के नियमो का उलघन करने की दशा मे दण्ड का भी विधान था। अत जिस जीवन पद्धति से वे सदियो से रहते चले आ रहे थे वही जीवन पद्धति उनके लिए दण्ड का कारण बनने लगी थी। साथ ही वन सम्पदा के एकत्रित करने का काय ठेकेदारो को सौंपा गया। इन ठेकेदारो ने सस्ते मूल्य पर तथा आवश्यकता पडने पर जबर्दस्ती उनके श्रम का प्रयोग किया और अनेक प्रकार से उनका आर्थिक शोषण किया। यह क्रम निरन्तर चलता रहा तथा ब्रिटिश सरकार ने कभी भी उनकी इन समस्याओ के निवारण की ओर ध्यान

नहीं दिया। एल्विन ने बैगा आदिमजाति पर अपनी पुस्तक के माध्यम से प्रशासन का ध्यान उनकी आर्थिक कठिनाइयों तथा बाह्य तत्वों के द्वारा उनके शोषण को समाप्त कराने की ओर आकर्षित किया, किन्तु उसका कोई विशेष लाभ न हो सका।

सम्पर्कों के परिणामस्वरूप भाषा की समस्या एक अन्य व्यक्तिगत समस्या थी, जिसने आदिवासियों के समक्ष अनेक कठिनाइयों को जन्म दिया। सभी आदिवासियों की अपनी एक भाषा होती है, जो कि सम्पर्क में आये सभ्य समुदायो की भाषाओं से भिन्न है। किन्तु दैनिक जीवन के व्यवहारो की आवश्यकताओं के कारण उन्हें सम्पर्क मे आये इन सभ्य वर्गों की भाषाओ को भी सीखना पडा। ईसाई मिशनरियों ने अपने धार्मिक विचारो के प्रचार की सुविधा की दृष्टि से आदिवासियों की ही भाषा को रोमन लिपि से व्यक्त करके उसे प्रचार का माध्यम बनाया। अत मिशनरियों के सम्पर्कों से उनमे रोमन लिपि का भी प्रसार हुआ। साथ ही अन्य लोगो के सम्पर्कों को कायम रखने के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग भी आवश्यक हो गया। इनके कारण आदिवासियो पर एक प्रकार का अनावश्यक भार पडा। साथ ही आदिवासियो मे शिक्षा प्रसार के कार्यक्रमो मे भी बाधा उत्पन्न हुई। शिक्षा में भाषा एव लिपि दोनो का स्थान महत्वपूर्ण होता है। लिपिहीन भाषा की सीमायें होती हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय एकता के दृष्टिकोण से भी लिपि का चयन एक महत्वपूर्ण पक्ष है। सम्पर्कों के प्रभाव मे आकर भाषाओ की विषमता ने जहाँ एक ओर राष्ट्रीय एकता को अवरोधित किया है वहाँ दूसरी ओर आदिवासियो मे शिक्षा प्रसार के कार्य में बाधा उत्पन्न की है। किन्हीं आदिमजातियो ने तो सम्पर्कों के प्रभाव मे अपनी मूल भाषा ही खो दी है और अब वे पूर्णरूप से अपने पडोसी सभ्य समाजों की भाषा अपना चुके हैं।

ब्रिटिश प्रशासन द्वारा लादी गई प्रशासनिक व्यवस्था भी आदिवासियों की एक प्रमुख समस्या रही है। प्रशासन तन्त्र के आधार पुलिस न्यायालय एव अन्य विभागो से सम्बन्धित अधिकारी वर्ग ने उसके प्रति सदैव, अमानवीय दृष्टिकोण ही अपनाया तथा अनेक प्रकार से उसका शोषण किया। आदिवासियों की अपनी राजनैतिक व्यवस्था का अवमूल्यन हुआ तथा नये कानूनों के अज्ञान एवं उनसे भावात्मक अनुकूलन न कर पाने के कारण उन्हें अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा। मुंडा तथा सन्थाल आदिवासियो मे हुई महान जनक्रान्तियो की पृष्ठभूमि में अन्य अनेक कारको के साथ साथ यह भी एक महत्वपूर्ण कारक था यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रशासनिक

दृष्टिकोण में अन्तर अवश्य आया है फिर भी हमारी प्रशासन प्रणाली लगभग ब्रिटिश प्रशासन प्रणाली के ही अनुरूप होने के कारण आदिवासियो की अधिकांश समस्यायें आज भी वैसी की वैसी ही बनी हुई हैं। आदिवासी क्षेत्रो के प्रशासन मे उनके परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यो की अवहेलना करने के कारण प्रशासन कल्याणकारी भावना के विपरीत रहा है। साथ ही इस विषमता के कारण आदिवासियो का अपना सामाजिक नियत्रण क्षीण हुआ है। समय समय पर कतिपय क्षेत्रो मे प्रशासनिक अमानुषिकता के विरुद्ध विद्रोह भी हुए हैं। अत स्वतत्रता प्राप्ति के बाद के पिछले पच्चीस वर्षों मे यद्यपि ऐसे बहुत से प्रशासनिक नियत्रण लगाये गये हैं, जिनसे सम्पन्न वर्गों द्वारा आदिवासियो का शोषण समाप्त किया जा सके, तथापि प्रशासनिक नियत्रणो के परिणामस्वरूप शोषण के अन्य माध्यमो का जन्म हुआ है। यहाँ तक कि आज यह समस्या केवल आदिवासियों तथा अन्य वर्गों के बीच की ही नही रह गई है बल्कि एक क्षेत्र की छोटी आदिमजातियो के शोषण उसी क्षत्र की प्रभावशाली आदिमजातियो द्वारा किया जाने लगा है।

आदिवासियो पर हिन्दू सस्कृति के प्रभाव

बाह्य सम्पर्कों के प्रभावो मे आदिवासियो पर हिन्दू सस्कृति के प्रभावो का महत्वपूण स्थान है। आदिवासियो के चारो ओर बसे हुए अन्य वर्गों मे हिन्दू लोग ही बहुसख्यक थे। अत अन्य वर्गों के सम्पर्क मे आने पर हिन्दुओ का सास्कृतिक जीवन उनकी दष्टि मे सर्वाधिक प्रतिष्ठापूण रहा है। इसीलिए हिन्दुओ के सास्कृतिक मूल्य तथा उनके नैतिक मानदण्ड आदिवासियो के आदश बन गये। सम्पर्कों के परिणामस्वरूप आदिमजातीय समाजो एवं हिन्दू समाजो के मध्य अन्तरक्रिया के विभिन्न प्रभाव हुए हैं। कभी कभी इस अन्तरक्रिया के परिणामस्वरूप दोनों वर्गों मे समायोजन मे वद्धि हुई तथा दोनो की सांस्कृतिक विषमताओ मे कमी हुई। इस प्रकार का सास्कृतिक समन्वयीकरण प्राय एक दोहरी प्रक्रिया का परिणाम रहा है जिसमे एक ओर तो आदिमजातीय सास्कृतिक जीवन का हिन्दूकरण हुआ तथा दूसरी ओर स्थानीय हिन्दू समाजो मे आदिवासी जीवन सस्कृति की छाप पडी। इस प्रकार के परसस्कृतीकरण मे 'स्तरीकृत सामाजिक व्यवस्था' के सन्दर्भ की सदैव एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है, क्योंकि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का ढांचा जाति-व्यवस्था के रूप मे एक स्तरीकृत सामाजिक व्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत करता रहा है। किन्तु सास्कृतिक समन्वयीकरण की प्रक्रिया में अवरोध या

तो सांस्कृतिक असंगति के कारण होता है अथवा प्रभावशाली वर्गों के द्वारा इनके प्रवेश पर प्रतिबन्धों के कारण होता है । अतः सांस्कृतिक विषमताओं के कम हो जाने के उपरान्त भी ऐसा सम्भव है कि सम्बन्धित आदिवासियों को अपने पड़ोसी हिन्दुओं की जाति व्यवस्था में कोई स्थान न भी मिले । सांस्कृतिक आधार पर प्रतिष्ठा की भावना से प्रेरित होकर आदिवासी अपने को हिन्दू सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था के निकट लाने का प्रयास करते हैं और अपने इस प्रयासों में हिन्दू जाति व्यवस्था में निम्नतम स्थान भी पा लेने पर अपने उद्देश्य की पूर्ति समझते हैं । हिन्दू सांस्कृतिक जीवन को अपना कर, बहुसंख्यक समुदाय मे प्रविष्ट होने की इच्छा उनमें सदैव बनी रही । इस प्रक्रिया को सरल बनाने के लिए उन्होंने अपनी उन सभी सांस्कृतिक परम्पराओ को त्यागना शुरू किया जो हिन्दू नैतिक आदर्शों के प्रतिकूल थी । उदाहरण के लिए मद्यपान मांसाहार, मुर्गी तथा सुअर पालने आदि की परम्पराओ को त्यागना शुरू किया । परोक्ष रूप से उन्होने हिन्दू विश्वासो देवी देवताओ की पूजा एवं उनके पर्वों मे अपनी आस्था रखना शुरू किया । कुछ क्षेत्रो मे आदिवासियों ने हिन्दू जाति व्यवस्था से मिलता जुलता एक सामाजिक स्तरीकरण भी विकसित कर लिया । इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर दोनो की सांस्कृतिक दूरी मे कमी आई वही आदिवासियो के लिए हिन्दू जाति व्यवस्था में प्रवेश भी एक सरल कार्य बन गया । यहा तक कि किन्ही क्षेत्रो में आदिवासी समुदायो का पूर्णरूप से हिन्दू समाज मे विलयन हो गया । धुरये ने सप्रमाण इस तथ्य की पुष्टि करते हुए यहाँ तक कहा है कि हिन्दू संस्कृति के प्रभाव मे कुछ आदिमजातियो का निजी सामाजिक सांस्कृतिक अस्तित्व ही समाप्त हो चुका है । जिन क्षेत्रो मे यह प्रभाव किस सीमा तक पड़ा है यह बहुत कुछ उस क्षेत्र मे सम्बन्धित आदिमजाति की प्रतिष्ठा तथा उनकी क्षमताओ पर निर्भर रहा है । सच्चिदानन्द ने पिछले दशक मे (1964) मुंडा तथा ओरांव आदिमजातियो पर हिन्दू प्रभावो की विवेचना करते हुये बताया है कि दोनो आदिमजातियो मे 'भगत –इधर उधर घूमने वाले सन्यासियो—एवं जमींदारो के प्रभावों से हिन्दू देवी देवताओ एवं धार्मिक विश्वासो का प्रवेश हुआ । रामनवमी तथा जगन्नाथपुरी के पर्वों पर बड़ी संख्या मे आदिवासी एकत्रित होकर श्रद्धा से भाग लेते हैं । इन दोनो आदिमजातियों मे 'ताना भगत' तथा विष्णु भगत सम्प्रदाय के लोगों ने हिन्दू धार्मिक व्यवहारो एवं नैतिकता के आदर्शों का अनुकरण करने मे अतिशयोक्ति कर दी ।

धुरये ने भारतवर्ष से ऐसे आदिवासियो के एक बहुत बड़े वर्ग की

चर्चा की है, जिन पर आंशिक रूप से हिन्दू संस्कृति के प्रभाव पड़े हैं और वे हिन्दुओं के सम्पर्क में आये हैं। समायोजन की समस्या के दृष्टिकोण से यही वर्ग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एलविन ने इस वर्ग के आदिवासियों पर अपना मत व्यक्त करते हुये कहा है कि इन्हीं आदिवासियों पर ही हिन्दू संपर्कों के दुष्प्रभाव सर्वाधिक हुये हैं। जहां एक ओर हिन्दू धर्म एव नैतिकता के आदर्शों के प्रभाव के परिणामस्वरूप अपने विश्वासो आदि के प्रति उनकी आस्था मे कमी आई तथा उनका मानसिक एव नैतिक पतन हुआ वही दूसरी ओर बहुसख्यक हिन्दुओ ने अत्यन्त श्रम एव सघर्ष से प्राप्त उनकी कृषि योग्य भूमि पर धीरे धीरे अधिकार करके उनके समक्ष आर्थिक कठिनाइया उत्पन्न कर दी। आदिवासियो का खान पान, उनकी आर्थिक क्रियायें आदि चारो ओर के वातावरण म प्राप्त साधनो पर ही निर्भर करती हैं। हिन्दू आदर्शों के प्रभाव मे आकर मासाहार मदिरापान सुअर एव मुर्गी आदि पालने का कार्य समाप्त कर देने से तथा साथ ही साथ हिन्दुओ के द्वारा उनकी कृषि योग्य भूमि छीन ली जाने से इस वग की अधिकाश आदिमजातियो के समक्ष एक विकट आर्थिक सकट उठ खडा हुआ। एलविन के मतानुसार इन परिणामो ने आदिवासियो मे एक विचित्र प्रकार की परिस्थिति को जन्म दिया जिससे उनके मनोबल आत्मविश्वास और साहस मे कमी आई। उन्होंने इस परिस्थिति को Loss of nerve से सम्बोधित किया है। एलविन के अनु सार आदिवासियो के हि दुओ से सपक के परिणामस्वरूप हिन्दू समाज से उनके एकीकरण की दो प्रकार की अवस्थाये प्राय दिखलाई पडती हैं। एक प्रकार की अवस्था को उ होने वास्तविक एवं दूसरी प्रकार की अवस्था को आभासी कहा है। उनके मतानुसार अधिकाशत यह एकीकरण आभासी ही होता है। कही कही पर जब वास्तविक एकीकरण हुआ है तो उसके परिणाम अच्छे हुये हैं। उससे आदिवासियों की आर्थिक प्रगति के साथ साथ उनका नैतिक उन्नयन भी हुआ है। किन्तु अधिकाशत आदिवासियो एव हि दुओ के सपर्कों से दोनो के मध्य सांस्कृतिक निकटता के द्वारा जो एक प्रकार का आभासी एकीकरण होता रहा है वही वास्तव मे अनेक समस्याओ का कारण रहा है और उसी के परिणामस्वरूप उपर्युक्त वर्णित Loss of nerve की परिस्थिति उत्पन्न हुई। रायबहादुर शरतचन्द्र राय ने मुडा एव ओरांव आदिवासियो मे हिन्दू धम के प्रभावो की चर्चा करते हुये यह बताया है कि ऐसे सपर्कों के परिणाम सदव अच्छे ही हुये हैं। विशेष रूप से मद्यपान से मुक्ति का उल्लेख करते हुये उन्होंने इसे हिन्दू सांस्कृतिक प्रभावों का

उल्लेखनीय परिणाम बताया है। साथ ही साथ हिन्दू संपर्कों के परिणामस्वरूप केवल आदिवासियो के समुन्नत वर्गों को ही लाभ नही हुआ, बल्कि अत्यन्त गरीब तथा निम्नवर्गों मे भी जीवन की दशाओ एवं आर्थिक उन्नति की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। सामाजिक स्तर पर हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में स्थान पाने का आकर्षण इस प्रवृत्ति के लिये उत्तरदायी रहा है। हिन्दू संपर्कों के इस आशावादी पक्ष की अवहेलना नही की जा सकती। अधिकांश आदिवासियो मे उन्नतिशील ढग से खेती करने का प्रारम्भ आस पास के हिन्दुओ के अनुकरण से ही हुआ। इसी आधार पर कुछ विचारशील प्रशासको ने समय समय पर यह मत व्यक्त किया कि आदिवासियो के आर्थिक पिछडेपन तथा उनके उन्नतिशील जीवन से सम्बन्धित उनकी समस्याओ के समाधान हिन्दू समाज मे उनके विलयन से ही सभव है। सन्थाल आदिवासियो का उदाहरण उक्त कथन की पुष्टि करता है। यद्यपि हिन्दुओ से उनके सम्बन्ध सदैव शात एव सुरुचिपूर्ण नही रहे हैं फिर भी अपने सपर्कों मे हिन्दू संस्कृति से ही अधिकतर प्रभावित हुये हैं और इसके परिणामस्वरूप खेती बाडी के क्षेत्र मे उन्होने अभूतपूर्व उन्नति की।

हिन्दुओ से आदिवासियो के सपर्कों का इतिहास अत्यन्त रोचक रहा है। एक दृष्टि से हम हिन्दू सपर्कों को दो श्रेणियो में विभाजित कर सकते हैं। एक श्रेणी मे वे आदिवासी आते हैं जिनके हिन्दुओ से सम्बन्ध ब्रिटिश प्रशासन के पूर्व अच्छे नही रहे तथा वैमनस्यतापूर्ण थे। दूसरी श्रेणी मे वे आदिवासी आते हैं जिनके मुखिया स्वय हिन्दू सस्कृति, आचार विचारो एव व्यवहारो से प्रभावित हुये तथा प्रारम्भ से हिन्दुओ के प्रति उनमे किसी प्रकार की वैमनस्यता की भावना नहीं रही। किन्तु कालान्तर मे ब्रिटिश प्रशासन की स्थापना के बाद नये नये प्रकार के अधिकारी, प्रशासक, जमींदार आदि वर्गों के बसने के बाद हिन्दुओ एव आदिवासियो के स्वार्थों मे विरोध उत्पन्न होने लगा, तथा कहीं कहीं पर यह विरोध अत्यन्त उग्र होकर क्रांति मे परिणित हो गया। इन वर्गों ने उनके बीच आकर अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु उनके समक्ष अनेक आर्थिक समस्यायें उत्पन्न कर दी। उनकी भूमि पर से उनके अधिकार छिन जाने से आर्थिक कठिनाइयों के साथ ही साथ उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्रभावित हुई और उनकी हैसियत श्रमिको के समान हो गई। किन्तु इस परिस्थिति के बावजूद भी हिन्दू सस्कृति के प्रति उनका आकर्षण समाप्त नही हुआ। सन् 1931 की जनगणना के अनुसार ओरांव आदिवासियो में 41 प्रतिशत को हिन्दू तथा 20 प्रतिशत को ईसाई बताया गया है। इसी

प्रकार सन् 1911 की जनगणना में 45 प्रतिशत गोंड आदिवासियों को हिन्दू कहा गया है। सन 1931 की ही जनगणना मे उत्तर प्रदेश, बिहार एवं उड़ीसा में स्थित अधिकांश गोंड आदिवासियों को हिन्दू बताया गया है। इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि हिन्दुओं से आदिवासियों के संपर्क से उन पर (आदिवासियो पर) बुरे प्रभाव पडे हैं तथा अनेक आर्थिक एव अन्य समस्यायें उनके समक्ष आयी हैं फिर भी हिन्दू सस्कृति अधिकांशत उनके आकर्षण का केन्द्र बनी रही। घुरये ने अनेक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते हुये बताया है कि हिन्दुओं से सपर्कों के परिणामस्वरूप अधिकांशत आदिवासियो की दशा मे सुधार हुआ है। उनमे नये धर्म एक नये सास्कृतिक जीवन शिक्षा आदि के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हुई है। इसमे कोई सदेह नहीं कि हिन्दू जाति व्यवस्था मे उच्च स्थान प्राप्त करने के प्रयासों मे तथा कुछ अवांछनीय तत्वो के स्वार्थपूर्ण व्यवहारो के कारण उनके समक्ष अनेक कठिनाइया उपस्थित हुई हैं किन्तु जीवन के प्रति एक नये दृष्टिकोण का जन्म अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इस प्रकार से हिन्दू सपर्कों के परिणामस्वरूप परिस्थिति उतनी शोचनीय एव निराशाजनक नही रही है जसाकि एलविन ने अपने लेखो मे व्यक्त किया है। वास्तव मे भूमि अपहरण से सम्बन्धित आर्थिक कठिनाइयां ब्रिटिश भूमि व्यवस्था एव राजस्व प्रणाली का परिणाम थीं। इन कठिनाइयो को हिन्दू सपर्कों का परिणाम मानना उचित नही है। भूमि व्यवस्था एव राजस्व की यह दोषपूर्ण प्रणाली कुछ इने गिने प्रशासको की सस्तुति पर लागू की गई थी। यद्यपि इस प्रणाली के दुष्परिणामो के प्रतिवेदन ब्रिटिश सरकार के समक्ष किये जाते रहे किन्तु क्रांति एव विद्रोह के बिना ब्रिटिश सरकार ने आदिवासियो की कठिनाइयो की ओर कभी भी ध्यान नही दिया।

ओ मैली ने आदिवासियो के हिन्दू सपर्कों के प्रति अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा है कि आदिवासियो का हिन्दुओ से सपर्क वास्तव मे एक सभ्य एव सौम्य जीवन व्यतीत करने की दिशा मे पहला कदम था। परन्तु साथ ही साथ उन्होने इन सपर्कों के कुछ दुष्परिणामो की भी चर्चा करते हुये कहा है कि सपर्कों के परिणामस्वरूप आदिवासियो की आदिमजातीय एकता विछिन्न हुई है। उनके समाज मे प्रचलित नैतिकता से सम्बन्धित मानदण्डों का हनन हुआ है तथा आदिवासियों की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा एव स्वतन्त्रता क्षीण हुई है। हिन्दू सपर्कों से रहित आदिवासियो में अपनी परम्पराओ एवं संस्कृति के प्रति हीनता की भावना नही आ पाती है और वे अपने को अधिक स्वतन्त्र महसूस करते हैं। परन्तु सपर्कों के होते ही एक श्रेष्ठ संस्कृति की कल्पना उनकी

स्वतन्त्रता एवं उनके स्वाभिमान को प्रभावित कर देती है। हिन्दू सांस्कृतिक स्तर की जाति व्यवस्था में प्रवेश के साथ ही छूआछूत की भावना का जन्म होता है, बाल विवाह की कुप्रथा प्रवेश करती है। साथ ही साथ हिन्दू नैतिकता के आदर्शों के परिणामस्वरूप स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में गिरावट आती है। आदिवासियों में स्त्रियों का पुरुषों के साथ बराबरी के स्तर पर आर्थिक क्रियाओं में योगदान देना, उनके साथ सांस्कृतिक अवसरों पर स्वतन्त्रतापूर्वक नृत्य एवं गान आदि में भाग लेना एक सामान्य स्थिति होती है। परन्तु हिन्दू संस्कृति में स्त्रियों की यह स्वतन्त्रता हेय दृष्टि से देखी जाती है। परिणामस्वरूप सपर्कों के पश्चात आदिवासियो में स्त्रियों का जीवन अत्यत नियत्रित होने लगता है जिसकी वे अभ्यस्त नही होती और उनमे एक प्रकार का मानसिक उत्पीडन व्याप्त होने लगता है। हिन्दू सपर्कों से प्रभावित होकर गोंड महासभा ने सामुदायिक नृत्यों मे पुरुषो के साथ स्त्रियों का नृत्य करना निषेधित कर दिया। एलविन एव मजूमदार ने स्पष्ट शब्दों मे इस परिस्थिति की विवेचना करते हुए कहा है कि इन निषेधो ने आदिवासियो मे स्त्रियों के जीवन को दु खमय बनाया तथा पुरुषों की तुलना मे उनकी सामाजिक स्थिति में क्षीणता आई है। इसी प्रकार से बाल विवाह की प्रथा भी हिन्दू सपर्कों का ही परिणाम रही है। आदिवासियो मे विवाह की अवधारणा यौन संबधो की नैतिकता के विचारो से मुक्त होती है। इसी कारण विवाह से पूर्व एव विवाह के उपरात वैवाहिक सम्बन्धो के अतिरिक्त यौन संपर्कों में स्वतन्त्रता होती है। परन्तु बाल विवाह की प्रथा के प्रवेश के साथ ही साथ यौन सपर्कों सम्बन्धी स्वतन्त्रतायें हिन्दू नैतिक आदर्शों का शिकार हो जाती हैं और विवाह की अवधारणा में ही आमूल परिवर्तन हो जाता है। यौन संपर्कों में स्वतन्त्रता आदिवासियो के विशिष्ट व्यक्तित्व के निर्माण का आधार होती है। इन पर प्रतिबन्ध उनके व्यक्तित्व के विकास को एक नया मोड दे देते हैं जो कि उनकी सांस्कृतिक अपेक्षाओ के प्रतिकूल होता है। आदिवासियो मे विवाह उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन का समारम्भ होता है तथा विवाह में व्यक्तिगत रुचियों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। बाल विवाह की प्रथा अपना लेने पर ये सभी बातें गौण हो जाती हैं।

आर्थिक समस्यायें

बाह्य संपर्कों के परिणामस्वरूप समायोजन की समस्याओं के संदर्भ में संपर्कों के आर्थिक परिणाम अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। आदिवासी क्षेत्रों में

आवागमन के साधनो के विकास होने के साथ ही साथ बाह्य समुदायों का प्रवेश होता है। एक नये व्यावसायिक क्षेत्र मे अधिक लाभ की अभिलाषा से व्यापारियो एवं साहूकारों का वर्ग सक्रिय हो जाता है। आदिवासियो की अशिक्षा उनका सरल स्वभाव एव दरिद्रता इन वर्गों के लाभ में सहायक होती है। जहाँ एक ओर वे आदिवासियो की भूमि हड़पने की चेष्टा में रहते हैं वहा भूमिहीन हो जाने की स्थिति मे उनकी आर्थिक शिथिलता से लाभ उठाने के लिये साहूकार तथा व्यवसायी ऊची दरो पर उन्हें सरलता से कर्ज देते हैं। कर्ज में लिया गया धन अन्ततोगत्वा उनके लिये अभिशाप बन जाता है और निरन्तर कई पीढियो तक बन्धक श्रमिकों के रूप मे कार्य करते रहने पर भी वे ऋणमुक्त नही हो पाते। अशिक्षा के कारण वे इन साहूकारो की कुचेष्टाओ को समझने मे असमर्थ होते है। स्वतत्रता प्राप्ति के बाद अनेक राजकीय नियमो के द्वारा इन गतिविधियो को प्रतिबन्धित करने के प्रयास किये गये हैं तथा सहकारी बैंको द्वारा आदिवासी क्षेत्रो एवं बाजारो मे उचित दरो पर ऋण की व्यवस्था की गई है। परन्तु निहित स्वार्थों के कुचक्र के कारण इन सुविधाओ का भी अपेक्षित लाभ उन्हें नही हो पा रहा है। यद्यपि आर्थिक शोषको के रूप मे ब्रिटिशकालीन जमीदारो का वर्ग समाप्त हो चुका है फिर भी मध्यस्थ वर्ग की सक्रियता मे वृद्धि हुई है और कानून की सीमाओ का अतिक्रमण करके वे आज भी परिवर्तित परिवेशो मे जमीदारो एवं साहूकारो की ही भूमिका अदा कर रहे हैं। जैसे जैसे आदिवासियो के सम्पर्क बढ़ते जा रहे है उनके जीवन मे नई प्रकार की आवश्यकतायें भी बढती जा रही हैं। परन्तु आवश्यकताओ के अनुरूप उनके साधनो मे वृद्धि नहीं हो रही है। यह अन्तर उनमे सदव ऋण लेने की प्रवृत्ति को जीवित रखता है।

जहा एक ओर सभ्य समुदायो से सपर्कों एव अवांछनीय तत्वो की सक्रियता ने आदिवासियो के समक्ष आर्थिक समस्यायें उत्पन्न की हैं, वही निजन स्थानो मे सम्पर्कविहीन विलगता भी कुछ आदिवासियो मे उनकी आर्थिक समस्याओ का मूल कारण रही है। ऐसी अधिकाश आदिमजातियो मे आर्थिक पिछडापन उनकी प्रगति को अवरोधित करता रहा है तथा उनके निम्नतम जीवन स्तर का एक प्रमुख कारण रहा है।

धार्मिक प्रभाव एव समस्यायें

किसी भी समुदाय के विश्वासो का जगत उसकी अपनी क्षेत्रीय व्यवस्थाओ से समायोजन के प्रयासो का एक महत्वपूर्ण अंग होता है। आदिम

जातीय धार्मिक विश्वास एवं उनकी धार्मिक व्यवस्थायें अपनी स्थानीय क्षेत्रीय परिस्थितियों से अनुकूलनीय योजनाओ का मुख्य आधार रही हैं। हिन्दू एवं ईसाई धर्म के प्रभावो ने जो दार्शनिकता उनको प्रदान की वह उनके बौद्धिक विकास की सीमाओ से परे थी तथा उनके जीवन की वास्तविकताओं से उनका कोई सम्बन्ध नही था। आदिवासी धर्म उनकी सामाजिक व्यवस्थाओं में एक सार्थक भूमिका अदा करते हैं, परन्तु सम्पर्कों के परिणामस्वरूप नवीन आस्थाओं के दबाव मे उनकी परम्परागत मान्यताओं का हनन हुआ है, तथा साथ ही परम्परागत सामाजिक सांस्कृतिक आदर्शों का अवमूल्यन हुआ है। नये धार्मिक विश्वासों ने आदिमजातीय सामाजिक विघटन को तो उत्प्रेरित किया किन्तु वे किसी नयी सामाजिक व्यवस्था को जन्म देने मे असफल रहे है। नये विश्वासों और नई आस्थाओ को उन्होने ऐसे सदर्भों से प्राप्त किया जिनका इन समाजो मे सर्वथा अभाव था।

धार्मिक प्रभावो के दृष्टिकोण से आदिवासियो पर ईसाई एव हिन्दू धर्म के प्रभावों ने ही अधिकांश समस्याओं को जन्म दिया। ब्रिटिश प्रशासन के नियत्रण मे आने के उपरात ईसाई मिशनरियो को धर्म प्रचार के कार्य में राजनैतिक प्रश्रय प्राप्त होने लगा। ईसाई मिशनरियो ने आदिवासियों में अपने धम प्रचार के कार्य को अधिक सुविधाजनक समझा। इसके कई कारण थे। इनमे प्रमुख कारण था आदिवासियो का आर्थिक पिछड़ापन। उन्नत जीवन तथा अन्य प्रकार की सुविधाओ के लोभ को आधार बना कर मिशनरियो को आदिवासियो मे धर्म परिवतन काय मे सुविधा हुई। शिक्षा एव चिकित्सा की सुविधायें प्रदान कर एव आर्थिक प्रलोभन देकर उन्होंने अपने धार्मिक विश्वासो का प्रचार करना शुरू किया। आदिवासियो के परम्परागत देवी देवताओं, उनके विश्वासों एव धार्मिक व्यवहारो की अवहेलना की तथा अपने धर्म की नैतिकता के नवीन आदर्शों को स्वय अपने द्वारा चलाई जा रही शिक्षा के माध्यम से उनके समक्ष प्रस्तुत किया। इस प्रकार से धर्म प्रचार एव धर्म परिवर्तन की ओट मे ईसाई मिशनरियो द्वारा किया गया सेवा कार्य आदिवासियो के लिये अधिकांशत अभिशाप ही सिद्ध हुआ। नवीन धर्म के साथ खानपान, रहन सहन, पहनने ओढने के तौर तरीके भी प्रभावित होने लगे। उन्होंने आदिवासियो को अपने दृष्टिकोण से सभ्य बनाने के प्रयास किये। इसी प्रकार से हिन्दुओं के सम्पर्क में आकर हिन्दू धार्मिक विश्वासों, देवी देवताओं एव नैतिक आदर्शों का प्रभाव आदिवासियो पर पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप विशेषकर बिहार एव मध्य प्रदेश के आदि-

वासियों में प्रबल आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ। ये सभी आन्दोलन सुधारवादी आन्दोलन थे तथा इस मान्यता पर आधारित थे कि आदिवासियों के परम्परागत धार्मिक विश्वास, देवी देवता तथा उनके नैतिक व्यवहार दोषपूर्ण हैं और उनकी गरीबी एवं आर्थिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण हैं। माँस खाना, मदिरापान, देवी देवताओ की पूजा आदि में बलिदान करना हिंसा मुर्गीपालन आदि का प्रबल धर्मों ने विरोध किया। परिणामस्वरूप परम्परागत आर्थिक सास्कृतिक ढाँचे मे एक अपरिचित किन्तु नवीन जीवन दर्शन का आरोपण हुआ। ऐसी परिस्थितियो मे समायोजन की समस्याओ एवं सामाजिक विघटनात्मक परिस्थितियों का जन्म हुआ। दूसरी ओर मिशनरियों की गतिविधियो ने भी ऐसी ही समस्याओ को जन्म दिया। इसमें कोई सन्देह नही कि उद्देश्य भले ही कुछ भी रहा हो किन्तु ईसाई मिशनरियो द्वारा किया गया सेवा कार्य अत्यत सराहनीय था। आदिवासियो मे शिक्षा प्रसार एव चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओ को उपलब्ध कराने के क्षेत्र मे उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। किन्तु पाश्चात्य आदर्शों पर आधारित एव धर्म परिवर्तन की भावना से ओतप्रोत सेवाकार्य वास्तव में समस्यामूलक ही रहा। धर्म परिवर्तित ईसाइयो एवं परम्परागत जीवन व्यतीत करने वाले आदिवासियों के वर्ग एक दूसरे से भिन्न स्तरो के दो वग बन गये जिससे पारस्परिक व्यवहारों में यह सामाजिक विषमता कटुता उत्पन्न करने लगी। धर्म परिवर्तन एव मिशनरी स्कूलो मे शिक्षा प्राप्त करने के साथ साथ उनमे अपने जीवन स्तर एवं अपनी परम्पराओ के प्रति अरुचि एव अस तोष का जन्म तो हुआ किन्तु इस असतोष को दूर करने की सामथ्य एव साधनो का जन्म नही हो सका। परिवर्धित आकाक्षाओ एवं सीमित साधनो के इस अन्तर ने उनमे एक विशिष्ट मानसिक तनाव को जन्म दिया जिसके परिणाम असम की आदिम जातियो मे व्याप्त राजनैतिक असतोष के रूप मे दृष्टिगोचर होते रहे हैं।

किसी भी सस्कृति के धार्मिक विश्वास तथा लोगो की आस्थायें उस सस्कृति की परम्पराओ का केन्द्र होती हैं। भारतीय आदिवासियों में हिन्दू एव ईसाई धर्मों के प्रभाव धर्म परिवतन के दो स्वरूप हैं। दोनो ही स्वरूपो को क्रमश हिन्दू एव ईसाई सम्पर्कों का परिणाम माना जा सकता है। ईसाई मिशनरियो ने आदिवासियो को अपने धर्म प्रचार का एक उपयुक्त माध्यम बनाया। सुखमय जीवन व्यतीत करने के आश्वासन तथा नाना प्रकार के प्रलोभनो के आधार पर उन्होने अधिक सख्या मे आदिवासियों का धर्म परिवर्तन किया और परिणामस्वरूप उन्हें उनकी परम्पराओं से विमुख करके

एक तनावपूर्ण स्थिति में जीवनयापन करने के लिये छोड़ दिया। जहाँ मिशनरी शिक्षा एवं प्रलोभनों से उत्प्रेरित महत्वाकांक्षाओं का बाहुल्य तो था, किन्तु उनकी पूर्ति के साधनों का अभाव था। अतः अपने परम्परागत आदिमजातीय संदर्भ में परिवर्तन के नवीन मानदंडों ने उनका जीवन अधिक कष्टमय बना दिया।

दूसरी ओर अनेक आदिवासी हिन्दू धर्म से प्रभावित हुये, यह प्रक्रिया उपर्युक्त प्रक्रिया से विपरीत रही है। आदिवासी स्वयं अपने पड़ोसी क्षेत्रों में बसे हिन्दू समुदायों की संस्कृति से प्रभावित हुये और उस संस्कृति में उन्हें एक श्रेष्ठ जीवन की आशायें दिखलाई दी। इस आकर्षण के परिणामस्वरूप अन्य सांस्कृतिक तत्वों के साथ ही साथ धार्मिक विश्वासो एवं नैतिकता के आदर्शों का भी अतिक्रमण हुआ। जाति व्यवस्था के आदर्श से आकर्षित होकर उनमे हिन्दू समाज में प्रवेश पाने की आकांक्षा ने जन्म लिया और इस आकांक्षा की पूर्ति के लिये उन्होंने स्वयंमेव हिन्दू देवी देवताओं एवं धार्मिक व्यवहारो को अपनाने तथा अपने देवी देवताओ एवं नैतिक आदर्शों के परित्याग को साधन बनाया।

ये दोनों प्रकार की धर्म परिवर्तन की प्रक्रियायें यद्यपि एक दूसरे से भिन्न थीं तथापि उनके परिणाम लगभग एक ही हुए। दोनो के परिणामस्वरूप आदिमजातीय व्यवस्थाओ की टूटने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तथा नवीन सदर्भों में अनुकूलन के अभाव मे समायोजन की समस्याओं ने जन्म लिया। यदि सामान्य व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाये तो आदिवासियो मे धर्म परिवर्तन को किसी भी रूप में अनैतिक अथवा अवांछनीय नहीं कहा जा सकता यदि इसके परिणामस्वरूप विघटनात्मक प्रवृत्तियों का जन्म न हो और यदि नवीन समस्याओ के नये समाधान प्राप्त हो सकें। परन्तु वास्तव में आदिवासियो पर धार्मिक प्रभावों में इन दोनो बातो का अभाव रहा है, जिससे उन्हें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा।

औद्योगीकरण के प्रभाव

हमारे देश के अधिकांश आदिवासी क्षेत्र खनिज सम्पदा से परिपूर्ण हैं। विशेष कर असम बिहार, मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों में अत्यधिक परिमाण में खनिज पदार्थ उपलब्ध हैं अतः ये आदिवासी क्षेत्र धीरे धीरे औद्योगिक गतिविधियों के केन्द्र बनते जा रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उपयुक्त परिमाण मे कच्चे माल की उपलब्धि के कारण इन क्षेत्रों में बड़े बड़े

औद्योगिक संस्थानो की स्थापना हुई है, तथा देश के औद्योगीकरण की तीव्र गति के साथ साथ और भी औद्योगिक इकाइया तीव्रता से इन क्षेत्रों में स्थापित होती जा रही हैं। स्वतत्रता प्राप्ति के पहले से भी खनन काय मे श्रमिको के रूप मे तथा जमशेदपुर मे स्थित टाटा के इस्पात कारखाने मे आदिवासी श्रमिक अधिक सख्या मे काय करते रहे हैं। असम के चाय बागान भी आदिवासी श्रमिको का आकर्षण रहे हैं। सन् 1950-60 के मध्य से लेकर अभी तक आदिवासी अचलो मे स्थापित औद्योगिक संस्थानो ने आर्थिक स्तर पर उनके जीवन को प्रभावित किया है तथा इसके साथ ही साथ सामाजिक सांस्कृतिक परिवतन भी तेजी से होते जा रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों मे मानववैज्ञानिको का ध्यान इस ओर गया है तथा औद्योगीकरण के प्रभावो से सबधित कई अध्ययन भी किये गये है। इन प्रभावो की गभीरता को ध्यान मे रखते हुये ही सन 1960 मे ढेबर कमीशन की रिपोट मे इस प्रकार के अध्ययनो की आवश्यकता एव उपादेयता पर बल दिया गया।

औद्योगीकरण जहाँ एक ओर आधुनिक अथव्यस्था का प्रमुख आधार है, वहीं सभी देशो मे सभी वग इसके सामाजिक सांस्कृतिक प्रभावो से पीडित हुये हैं। आदिवासी क्षेत्रो मे वृहद् औद्योगिक सस्थापनो की स्थापनामात्र से ही लोगो की गतिशीलता तीव्र हुई है तथा काम के अवसरो का लाभ उठाने एव अपनी आर्थिक विपन्नता से छुटकारा पाने के लिये अधिकाधिक सख्या मे आदिवासी अपने स्वतत्र स्वच्छ एव शात वातावरण को छोडकर औद्योगिक सस्थानो के इद गिद बसे नगरो मे आकर बसने लगे। इन औद्योगिक सस्थानो मे काय करने वाले आदिवासी एक नई आर्थिक प्रणाली के अग बन जाने के बाद जब अपने मूल क्षत्रो मे वापस जाते हैं तो सहज ही में वे एक भिन्न श्रणी के लोग बन जाते है तथा अन्य लोगो से उनके व्यवहारो मे अन्तर आ जाते हैं। साथ ही इन व्यक्तियो के जीवन स्तर मे आये परिवतन अन्य सदस्यो मे भी औद्योगिक सस्थानो की ओर आकषण उत्पन्न कर दते हैं और परिणामस्वरूप प्रवासियो की सख्या मे वद्धि होती जा रही है और आदिमजातीय समुदायो के टूटने की प्रक्रिया को प्रश्रय मिल रहा है। परपरागत रूप से आदिवासियो का जो जीवन होता है उनकी जो सीमित आवश्यकतायें एव प्रत्याशायें होती हैं उनमे एकाएक परिवर्तन आ जाता है तथा नई औद्योगिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिदिन निश्चित समय तक निश्चित नियत्रण मे काय करने का क्रम उनके स्वच्छद जीवन के बिल्कुल

विपरीत होता है। जहाँ अपने जीवन में संगीत, नृत्य आदि से, कठिन परिश्रम करने के उपरान्त आदिवासी अपना मनोरंजन करते हैं, वहां इन औद्योगिक नगरों के जीवन मे अत्यधिक मदिरापान एवं वेश्यावृत्ति आदि ही सामान्यतः उनके मनोरंजन के एकमात्र साधन बन जाते हैं। औद्योगिक संस्थानों में अन्य अनेक प्रकार के लोगों के साथ कार्य करते हुये प्राय, वे ऐसी आदतों एवं आवश्यकताओं को अपना लेते हैं जिनका परम्परागत जीवन मे अभाव होता है। जीवन की दो भिन्न एव विपरीत अर्थव्यवस्थाओं के बीच सहज ही में वे एक विशिष्ट तनावपूर्ण जीवन के शिकार हो जाते हैं। कहीं कही पर आदिवासी क्षेत्रो मे औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप कुछ विशिष्ट समस्याओं ने जन्म लिया है। इस दृष्टिकोण से मध्यप्रदेश के दुर्ग जिले का उदाहरण महत्वपूर्ण है। इस जिले मे भिलाई इस्पात कारखाने की स्थापना के उपरात औद्योगिक कार्यों से सबधित वर्गों के लोग काफी सख्या मे आकर बसने लगे। दूसरी ओर श्रमिकों के रूप मे काम करने के लिये सम्पूर्ण छत्तीसगढ के आदिवासी अचलो से आदिवासी परिवार भी आकर बसने लगे। बाहर से आकर बसे हुये व्यक्तियो को घरेलू काम काज की सेवाओ की आवश्यकताओं की पूर्ति आदिवासी परिवारो की लडकियो के द्वारा हुई जिन्हे अपनी आर्थिक आय मे वृद्धि का एक और साधन प्राप्त हो गया। आदिवासियो मे स्त्रियों मे स्वाभाविक स्वच्छदता से इन बाहरी व्यक्तियो ने अनुचित लाभ उठाने का प्रयास किया। कुछ ही समय मे ऐसी आदिवासी स्त्रियो की संख्या हजारो मे पहुच गई जिनके विवाह नहीं हुये थ और वे गर्भवती हो चुकी थी। ऐसी परिस्थिति आदिवासी सामाजिक सन्दर्भों मे एक विषम परिस्थिति बन गई जबकि उन स्त्रियो को अपने समाज में स्वीकार नही किया गया तथा तिरस्कृत होना पडा।

औद्योगीकरण का एक पक्ष और है—मुद्रा अर्थप्रणाली का विस्तार। आदिवासियों का आर्थिक सगठन प्राय सामान्यत पारस्परिकता एवं सहयोग के आदर्शों पर आधारित होता है। क्रय विक्रय के आधार—मुद्रा—के अभाव में उनके आपसी लेन देन परपरागत मान्यताओं के आधार पर चलते रहते हैं जहां उत्पादन एवं खपत मे एक निश्चित सम्बन्ध होता है बाह्य साधनो पर निर्भरता कम होती है तथा मूल्यो के उतार चढ़ाव की समस्या नहीं होती। किन्तु औद्योगीकरण के प्रसार के साथ ही साथ आदिवासी, मुद्रा प्रणाली पर आधारित अर्थव्यवस्था के अग बनते जा रहे हैं तथा आधुनिकता के आकर्षण को मुद्रा व्यवस्था प्रश्रय देती जा रही है। आदिवासी क्षेत्रों के बाजार अब

उन उपभोग वस्तुओं के क्रय विक्रय के केन्द्र बने हुये हैं, जिनकी आज तक उनके जीवन में कोई आवश्यकता नहीं थी। औद्योगीकरण एवं आधुनिकीकरण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप परम्परागत मान्यतायें एवं मूल्य समाप्त होते जा रहे हैं तथा नवीनता से परिपूर्ण परिवर्तित सांस्कृतिक सन्दर्भ कष्टपूर्ण होते हुये भी उन्हे अधिक आकर्षक प्रतीत होते हैं। परिणामस्वरूप इन क्षेत्रो में आदिमजातीय सामाजिक विघटन एव संस्कृतीकरण मे तीव्रता आई है।

औद्योगीकरण का ही एक तीसरा एव अनिवार्य परिणाम नागरीकरण हुआ है। औद्योगिक सस्थानो के साथ साथ ही नगरों की स्थापना होती है, जिनका समीपवर्ती आदिवासी क्षेत्रो पर आर्थिक दबाव पड़ता है। रान्ची मे 'हिन्दुस्तान मशीन टूल्स' औद्योगिक सस्थान की स्थापना के उपरांत काफी दूर दूर तक समीपवर्ती आदिवासी क्षेत्र उस बढ़ते हुये नगर की आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन बने तथा इन क्षेत्रों मे बसे हुये आदिवासियो ने नगर निवासियो की आवश्यकता के अनुरूप अपनी आर्थिक गतिविधियो को परिवर्तित किया। इन नगरों मे बसने वाले आदिवासी समुदाय एक मिश्रित सस्कृति के अग बनने लगे हैं और अपनी परम्पराओ से उनका सम्बन्ध विच्छेद होता जा रहा है। इन नगरो की श्रमिक बस्तियों का घुटन से भरा हुआ जीवन उनके अपने स्वच्छन्द वातावरण से बिल्कुल भिन्न होता है जिसके कि वे आदी नही होते और परिणामस्वरूप शीघ्र ही अनेक नवीन अपरिचित समस्याओ का उन्हे सामना करना पड़ता है जिनके समाधान उनके लिये कठिन हो जाते हैं।

पिछले कुछ दशको मे पर्वतीय एव सीमान्त क्षेत्रो मे भी कुछ नगरीय केन्द्रो की स्थापना हुई है, जिन्होंने समीपवर्ती क्षेत्रो के आदिवासियो को विभिन्न स्वरूपो मे प्रभावित किया है। कुछ छोटे छोटे नगरो को छोड़कर अन्य सभी नगरो की स्थापना समीपवर्ती आदिवासी समुदायो के विकास के परिणामस्वरूप न होकर प्रशासकीय अथवा अन्य आवश्यकताओ की दृष्टि से हुई है। उदाहरण के लिये शिलांग अथवा कोहिमा या मनीपुर मे चूरचदपुर आदि नगर समीपवर्ती आदिवासियों के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं, किन्तु परोक्ष रूप से इनकी स्थापना के कुछ विशिष्ट प्रभाव भी पड रहे हैं जिन्होंने कुछ समस्याओं को जन्म दिया है। इन अधिकांश नगरों मे आदिवासी अन्य वर्ग के लोगो के साथ रहने लगे हैं किन्तु अन्य वर्गों के साथ उनका समुचित ताल मेल नहीं

हो सकता है । अन्य वर्गों से उनके पारस्परिक संसर्ग के आधार अत्यंत सीमित हैं । परिणामस्वरूप इन नगरों में आदिवासी एवं अन्य वर्ग मिलकर सामान्य नगरीय जीवन के साझीदार नहीं बन पाते और दो विशिष्ट वर्ग एक दूसरे से भिन्न स्तर पर उभर कर सामने आते हैं, जिनके आपसी सम्बन्ध कभी-कभी कटुतापूर्ण भी हो जाते हैं । वे अपने व्यापक हितों की रक्षा करने के लिये अक्सर ऐसे व्यवहारों के लिये विवश हो जाते हैं, जो उनकी परम्पराओं के प्रतिकूल होते हैं । परन्तु जब ऐसे ही व्यवहार वे स्वयं अपने वर्ग के लोगों से भी करने लगते हैं, तो उन्हे तिरस्कृत होना पड़ता है । आदिवासी क्षेत्रों में नगरीय जीवन का विकास यदि अन्तजनित विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप हो तो सभवत ऐसी परिस्थिति उत्पन्न न हो । किन्तु केवलमात्र प्रशासकीय सुविधाओ के लिये स्थापित किये गये नगर समस्यामूलक सिद्ध हो रहे हैं यद्यपि ये नगर शिक्षा एव कल्याणकारी कार्यों के केन्द्रो के रूप मे महत्वपूण भूमिका भी अदा कर रहे हैं । यद्यपि उत्तर पूर्वी क्षेत्र मे शिलाग, कोहिमा, ऐजल आदि नगर आदिवासियों की राजनैतिक गतिविधियो के प्रमुख केन्द्र बनते जा रहे हैं किन्तु आर्थिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप इन नगरो का विकास नहीं हुआ है और इसीलिये आदिवासी जीवन से ये भली भाँति सम्बद्ध नही है ।

सांस्कृतिक व्यक्तित्व से सम्बन्धित समस्याय

जब दो भिन्न सस्कृतियो वाले समुदाय एक दूसरे के अत्यंत निकट सपर्क मे आते है और उनमे से एक सस्कृति के लोग दूसरी सस्कृति को श्रेष्ठ समझते हैं तो निकट सम्पर्कों के परिणामस्वरूप सास्कृतिक आदान प्रदान अथवा परसस्कृतीकरण के परिणामस्वरूप कुछ विशिष्ट समस्यायें जन्म लेने लगती हैं । प्राय श्रेष्ठ संस्कृति की श्रेष्ठता अधिक जनसख्या, अपेक्षाकृत उत्कृष्ट तकनीकी क्षमता एव योग्यता आदि कारको पर आधारित होती है । ऐसी परिस्थिति मे श्रेष्ठ संस्कृति एक प्रभावी एव प्रबल सस्कृति के रूप मे सम्पर्क मे आयी अपेक्षाकृत निर्बल सस्कृति को प्रभावित करने लगती है । आदिवासी सन्दर्भों मे प्राय इस प्रकार के सांस्कृतिक सम्पर्कों का प्रभाव तीव्र एवं आकस्मिक होता है । उनमें प्रभावी संस्कृति के आक्रमक प्रभावों के प्रति एक प्रकार की असुरक्षा की भावना व्याप्त हो जाती है तथा निजी संस्कृति की अस्तित्वहीनता जीवन के प्रति उदासीनता आदि के लक्षण जन्म लेने लगते हैं । टूटती हुई परम्पराओं एक नवीन मूल्यो एव आदर्शों के अभाव मे

उनमें अपने अन्धकारमय भविष्य एव स्वर्णिम अतीत के मध्य एक प्रकार की विरक्तता से पूर्ण वर्तमान जीवन अत्यत कष्टसाध्य हो जाता है। आज देश के अधिकांश आदिवासी समुदाय ऐसी ही परिस्थितियो में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अधिक उन्नतिशील सभ्य समुदायो के बढते हुए सम्पर्कों के दबाव को रोका नही जा सकता। केवल नियन्त्रित नियोजन के आधार पर इस प्रभाव के परिणामो मे कुछ अन्तर लाया जा सकता है। किन्तु ये प्रभाव मानसिक स्तर पर इतने व्यापक होते हैं कि नियोजको के समक्ष उनके निवारण के सरल उपाय नही हो पाते। बहुत से आदिवासियो के आदिमजातीय स्वरूप टूटते जा रहे हैं और कही कही पर बहुसख्यक पडोसियो मे उनका विलीनीकरण हो चुका है। आज अडमान द्वीप समूह के आदिवासी टोडा कोरवा एव चेंचू आदि आदिमजातिया ऐसी ही परिस्थितियो मे जीवनयापन कर रही हैं।

वर्तमान समय मे देश के आदिवासियो मे आधुनिकता के स्वरूपो को दो प्रकार के कारको के सदर्भ मे स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। एक तो बाह्यकारक और दूसरे आतरिक कारक। बाह्य कारको मे उपर्युक्त वर्णित सपर्कों के परिणामस्वरूप प्रगतिशील तकनीकी एव जटिल राजनैतिक तथा सामाजिक सगठन का प्रवेश माना जा सकता है। आधुनिकता के आतरिक कारक दो प्रकार की प्रक्रियाओ से सम्बन्धित हैं। एक प्रक्रिया के अन्तगत सस्कृति मे व्याप्त असगतियो मे सश्लेषण तथा सास्कृतिक तत्वो की पुनर्व्यवस्था नवीन विवेचना आदि के द्वारा सस्कृति विकासोन्मुख होती है। इस प्रक्रिया से आधुनिकता के तत्व स्वयमेव जन्म लेते हैं। दूसरी प्रक्रिया के अन्तर्गत बाह्य कारको के द्वारा आधुनिकता के प्रवेश के विरोध के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितिया परम्परागत मूल्यो मे परिवर्तन आवश्यक कर देती हैं तथा नवीन परिस्थितियो से समायोजन के प्रयास स्वय आधुनिकता को जन्म देते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर किये जा रहे कल्याणकारी प्रयासो के प्रभाव मे आज हमारे अधिकाश आदिवासी सशक्त परम्पराओ के खिंचाव तथा आधुनिकता के सतत प्रहारो एव प्रघातो से उत्पन्न मानसिक तनाव के शिकार हो रहे हैं।

यद्यपि सभी आदिमजातियाँ तकनीकी एव शैक्षणिक दृष्टि से पिछडी हुई हैं, फिर भी उनके विकास स्तरो मे अत्यधिक विषमतायें हैं और सभी आदिवासी कुछ सामान्य राजनैतिक सास्कृतिक प्रभावो से प्रभावित हैं। सामान्य राजनैतिक प्रभाव सविधान मे प्रदत्त सरक्षण एव विशेष सुविधाओ एव अधिकारो के परिणाम हैं। सामान्य सास्कृतिक प्रभाव उस ऐतिहासिक

दृष्टिकोण के परिणाम हैं, जिसके अनुसार आदिवासियों को सदैव पिछड़ा हुआ दलित एवं अन्य समुदायो से बिल्कुल भिन्न समझा जाता रहा है। परिणाम-स्वरूप आदिवासियों ने भी सदैव राष्ट्र के जीवन से अपने को अलग रखा। परन्तु ऐसी परिस्थितियों में एक लंबे समय तक रहने के बाद अब हम उन्हें राष्ट्रीय जीवन की क्रियाशील इकाई के रूप मे परिवर्तित करना चाहते हैं। ब्रिटिश सरकार ने इस दिशा मे कुछ थोड़ा सा प्रयास किया तथा परिणाम-स्वरूप विशेष प्रशासनिक सुविधाओ के दृष्टिकोण से अनुसूचित एव अननुसूचित आदिवासी क्षेत्रो का निर्माण किया। राष्ट्रीय सरकार ने इस नीति में थोड़ा सा रूपातरण किया और इन क्षेत्रो को विशेष रूप स नियोजित करने का कार्यक्रम निश्चित किया। उद्देश्य यह था कि इन क्षेत्रो मे विकास कार्य क्रमो को कार्यान्वित करने के पूर्व आदिवासियो को कार्यक्रमों के प्रति जागरूक बनाया जाये तथा कार्यक्रमो के औचित्य के प्रति उनमे आवश्यक वातावरण बनाया जा सके। परन्तु पिछले कुछ वर्षों मे किये गये इन प्रयासो के परिणामस्वरूप आदिवासियो मे अपने को एक अल्पसख्यक वर्ग के रूप मे कायम रखने की भावना जोर पकड़ती जा रही है जिससे सविधान मे प्रदत्त विशेष सुविधाये उन्हे निरन्तर प्राप्त होती रहे तथा समय समय पर उनमे वृद्धि भी होती रहे। यहाँ तक कि अधिक जनसख्या वाले आदिवासी क्षेत्रो मे स्वतन्त्र राजनैतिक अस्तित्व की माग जोर पकड़ती जा रही है। उत्तर पूर्वी सीमात क्षेत्र मे आदिवासी प्रदेशो की स्थापना एवं बिहार मे 'झारखड' सम्बन्धित आदोलन इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं। स्पष्ट है कि ऐसी प्रवृत्तियो ने उन आदर्शों को ठेस पहुचाई, जिनके लिये आदिवासियो को विशेष संवैधानिक सुविधायें प्रदान की गई थी। जिस राष्ट्रीय एकता के आदर्श को सामने रख कर यह प्रयास किया गया था बिल्कुल उसके विपरीत परिस्थितिया जन्म लेती जा रही हैं यह एक चिंता का विषय है। यह केवल देश के लिये ही एक समस्या नहीं है बल्कि स्वय आदिवासी भी इस परिस्थिति का शिकार होते जा रहे हैं। कतिपय राजनीतिक दल इस प्रवृत्ति को साधन बनाकर उन्हे राजनीतिक शतरज मे मोहरो के समान प्रयोग मे ला रहे हैं। आदिवासियो के सरल जीवन मे राजनीतिक जोड़ तोड़ की गदगी दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। ये गतिविधियां उनकी आर्थिक समस्याओ का समाधान नही कर सकती। सामान्य आदिवासी आज भी कठिनाइयो से भरा जीवन व्यतीत कर रहा है। राजनीतिक कुचक्र ने उनकी कठिनाइयों में वृद्धि ही की है।

जहां एक ओर विकास कार्यक्रमों एवं राजनीतिक गतिविधियो के

माध्यम से हुये संपर्कों के प्रभाव उल्लेखनीय हैं, वहां दूसरी ओर आदिवासियों में शिक्षा प्रसार की योजनायें भी बाह्य जगत से सम्पर्कों का एक महत्वपूर्ण माध्यम हैं। शिक्षा प्रसार को अत्यधिक महत्व देते हुये देश के अन्य भागों में प्रचलित शिक्षण व्यवस्था आदिवासियो मे भी लागू की जा रही है। आदिवासियो मे शिक्षा का प्रसार होना है इस आवश्यकता के सम्बन्ध में मतभेद का कोई प्रश्न नही उठता। ब्रिटिश प्रशासनकाल मे आदिवासियो में शिक्षा प्रसार का काय अधिकांशत ईसाई मिशनरियो के माध्यम से हुआ। मिशनो के माध्यम से दी जाने वाली शिक्षा का एक विशिष्ट उद्देश्य होता है जो कि आवश्यक नही कि हमारी राष्ट्रीय आवश्यकताओ के अनुरूप हो। मिशनरियो ने सदव अपनी शिक्षा के माध्यम से आदिवासियो मे उनकी परम्पराओ एव सामाजिक प्रथाओ के प्रति घणा का वातावरण तयार किया। साथ ही उनका परिचय एक ऐसी जीवन प्रणाली से कराने का प्रयास किया जिसके लिये कोई सास्कृतिक आधार नही था। इस शिक्षा प्रणाली ने उनमे नवीन उपलब्धियो की आकाक्षा तो जागृत की परन्तु वे उपलब्धिया ऐसी थी जिनके लिए उनकी परपराये उन्हे कोई अवसर नही प्रदान कर सकती थी। परिणामस्वरूप उनमे निराशा का जन्म हुआ। आज नागालन्ड मीजोराम एव मेघालय मे शिक्षितो की सख्या अन्य आदिवासियो की अपेक्षा कही अधिक है। किन्तु इन शिक्षित आदिवासियो का वग ही उस क्षेत्र मे आतक एव राजनैतिक अशाति का प्रणेता है। उन्होने जो शिक्षा प्राप्त की है उसके बदले मे निराशा एव कुठा ही उनके हाथ लगी है।

शिक्षा एव सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था मे तालमेल होना आवश्यक है। जो शिक्षा व्यक्ति के सामाजिक सास्कृतिक जीवन के अनुरूप न होकर उसे विपरीत दिशा मे प्रेरित करे, वह कभी भी अपने सान्य उद्देश्यो की पूर्ति नही कर सकती। ऐसी ही परिस्थितिया आज हमारे देश मे सर्वत्र उत्पन्न हो रही हैं। हम एक ऐसी शिक्षा प्रणाली को अपनाये हुये हैं जिसे ब्रिटिश प्रशासन ने अपने विशिष्ट स्वार्थों की पूर्ति के लिये गढा था। इसका हमारी वर्तमान परिस्थितियो से कोई सामजस्य नही है। आज ब्रिटिश प्रशासनकालीन आवश्यकतायें समाप्त हो चुकी हैं। स्वतन्त्र देश की अपनी समस्यायें है और उनके समाधान हमारे अपने ही सामाजिक सांस्कृतिक ढांचे मे होने हैं। परन्तु शिक्षा प्रणाली मे उचित परिवर्तन नहीं लाये गये हैं। इसी प्रकार से जब हम देश के सभ्य एव आदिवासी समुदायो के सांस्कृतिक अतर

को ध्यान में न रखते हुए एक सी ही शिक्षा प्रणाली पर शिक्षण व्यवस्था निर्धारित करते हैं, तो ऐसी ही असंगति के कारण परिणाम समस्या मूलक होते हैं। आदिवासियों के लिए हमें ऐसी शिक्षण व्यवस्था की योजना बनानी चाहिये, जिससे जहां एक ओर उनमें अपनी परम्पराओ, विश्वासों एवं आस्थाओं के प्रति आकर्षण बना रहे वहीं दूसरी ओर उनका आर्थिक जीवन भी समुन्नत हो सके।

आदिवासियो की इन समस्याओ के साथ ही साथ एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न जुड़ा हुआ है कि इनके समाधान के लिये हमें क्या करना उचित है। इसमे कोई दो मत नही हो सकते कि इन समस्याओं से उन्हे मुक्ति दिलाना हमारा राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है। किन्तु समस्याओ के कारकों की ओर ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हम उन कारको को पूर्णरूप से नियन्त्रित भी नही कर सकते। बढ़ती हुई आबादी, औद्योगीकरण का प्रसार सचार सुविधाओ तथा आवागमन के साधनो मे वृद्धि आदि प्रक्रियायें राष्ट्रीय हित मे आवश्यक हैं। अत देश मे शीघ्रता से हो रहे परिवतनो को रोका अथवा सीमाबद्ध नही किया जा सकता। प्रत्येक परिवर्तन के साथ साथ कुछ पीडायें भी होती हैं। चिर परिचित व्यवस्थाओ का स्थान जब नवीन व्यवस्थायें लेती हैं तो कुछ समस्यायें उत्पन्न होती हैं। पुरातन से नूतन मे पदाक्षेप कितना भी आशाप्रद क्यो न हो कष्टकारी भी होता है। कठिन रोग के निवारण के लिये रोगी को कभी कभी कडवी दवा एव इजेक्शन की वेदना भी सहन करनी पडती है। अत आज प्रश्न यह है कि बढ़ते हुये सपर्कों की पृष्ठभूमि मे अनुकूलन की जो समस्यायें आदिवासियो के समक्ष हैं उनका निदान क्या होना चाहिये ?

इस सम्बन्ध मे अनेक विचार व्यक्त किये जा चुके हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न विचारो के औचित्य के भ्रम मे हम इतना पड चुके हैं कि मूल प्रश्न वैसा ही बना हुआ है। एक विचार तो यह है कि आदिवासियों की कोई भी विशिष्ट समस्यायें नही हैं। देश के अन्य ग्रामीण अचलो से लोगों की जो समस्यायें हैं आदिवासियो की समस्यायें उनसे अधिक भिन्न नही हैं। अत विकास योजनाओ मे उन्हें हमे एक विशिष्ट वर्ग के रूप मे नहीं मानना चाहिये।

किन्तु अधिकांश विचारक इस तर्क से सहमत हैं कि आर्थिक एवं तकनीकी पिछड़ेपन तथा सामाजिक सांस्कृतिक समायोजन की कुछ जटिल समस्याओ (जो कि अन्य वर्गों में नही हैं) के दृष्टिकोण से उनके कल्याण के

लिये तथा उनकी समस्याओं के समाधान के लिये हमें एक विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाना चाहिये । आदिवासियों का जीवन सर्वत्र देश के अन्य लोगों से भिन्न कोटि का है । हमे इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही कल्याणकारी योजनाओं को उनके अनुरूप नियोजित करना होगा । संभवत इसी दृष्टिकोण से संविधान मे आदिवासियो को कुछ विशेष सुविधायें प्रदान की गई हैं, जिनकी चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे ।

● ●

9

आदिवासी कल्याण एवं नीतिया

स्वाधीनता के पश्चात् सर्वप्रथम आदिवासी समस्याओ एव उनके समाधानो पर राष्ट्रीय स्तर पर विचार करने के प्रयास किये गये । सन 1950 मे निर्मित सविधान में इन विचारो को एक मूतरूप प्रदान किया गया । देश के विभिन्न क्षेत्रो मे आदिवासी सस्कृतिया समान नही हैं और न ही उनकी समस्याओ में एकरूपता है । इन समस्याओं के समाधान के मार्गदर्शन के लिये एक उपयुक्त राष्ट्रीय नीति की आवश्यकता अत्यन्त महत्वपूर्ण है । ऐसी नीति के आधार पर कार्य करते हुये ही हम सविधान मे निर्धारित कर्तव्यों एवदायित्वो का निर्वाह कर सकते हैं । इस अध्याय में इन्हीं तथ्यों का उल्लेख करते हुये कल्याणकारी योजनाओं में अपनायी जा सकने वाली संभावित नीतियों की विवेचना की गई है ।

समस्या के कुछ प्रमुख पक्ष

पिछले अध्याय मे हमने आदिवासी समस्याओं के विभिन्न स्वरूपों की विवेचना की है। इन विभिन्न समस्याओ का निवारण कैसे हो ? उनके प्रति हमारा उचित दृष्टिकोण क्या होना चाहिये ? यह विचारणीय प्रश्न हैं। इस दृष्टिकोण के निर्धारण से पहले हमें स्वय यह निश्चित कर लेना आवश्यक है कि हम क्या चाहते हैं। किसी भी समस्या के समाधान के अनेक विकल्प हो सकते हैं। हमें यह देखना है कि हम किस विकल्प का चयन करें।

पिछले अध्याय मे हमने कहा है कि अधिकाश आदिवासी समस्याओ का जन्म बाह्य सपर्कों के प्रभावो से हुआ है। अत एक विकल्प यह भी हो सकता है कि हम उन्हे ऐसा सरक्षण प्रदान करें जिससे वे सपर्कविहीन विलगित जीवन व्यतीत करते रहे। एलविन ने ब्रिटिश शासनकाल में बाह्य सपर्कों के प्रभावो से पीडित बैगा आदिमजाति के कष्टो एव उनकी समस्याओ की चर्चा करते हुये तत्कालीन प्रशासन से यह संस्तुति की थी कि कुछ समय तक उनके क्षेत्र को सम्पर्कविहीन बनाया जाये तथा उन्हे आरक्षित राष्ट्रीय पार्क घोषित किया जाये। घुरये एव कुछ अन्य समाजशास्त्रियो तथा मानव वैज्ञानिको ने उन्हे इस पृथकतावादी दृष्टिकोण का पोषक घोषित किया यद्यपि एलविन ने बाद के अपने लेखो मे निरतर इस आरोप का खडन किया है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि देश के आदिवासी समुदाय सदियो से निर्जन क्षेत्रो मे निवास करते रहे हैं। किन्तु इससे हमे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिये कि वे अन्य समुदायो के साथ सहयोगिता एव सहचयता का जीवन व्यतीत नही कर सकते। अपने छोटे छोटे समुदायो के सीमित दायरो मे उनका सामाजिक सगठन अत्यन्त सुगठित होता हैं इन दायरो की परिधि मे वृद्धि की जा सकती है एव देश के नवनिर्माण मे उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जा सकता है।

अधिकाश विद्वानो का ध्यान आदिवासियो के आर्थिक पिछड़ेपन और उसके परिणामस्वरूप उनमे व्याप्त अभाव एव दरिद्रता की ओर आकर्षित हुआ है। अत एक दृष्टिकोण यह भी रहा है कि आदिवासियो की भौतिक समृद्धि ही उनके कल्याण का मात्र उपाय है। अर्थात आर्थिक पिछड़ापन का दूर हो जाना ही उनकी सभी समस्याओ का समाधान है। इसमे कोई संदेह नही कि अभाव एव दरिद्रता का नग्नरूप हमे आदिवासियों में देखने को मिलता है। किन्तु वास्तव मे उनका जीवनदर्शन ही कुछ इस प्रकार का है

कि यह स्थिति उन्हें उस सीमा तक असहाय नहीं होती जितना कि हम अपने जीवन के मानदण्डो के आधार पर समझते है। इस विशिष्ट जीवनदर्शन के कारण ही भौतिक समृद्धि कभी भी उनके आकर्षण का केन्द्र नहीं रही है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनमें अपने जीवन स्तर को उन्नत करने की अभिलाषा का नितांत अभाव है। इसी विचारधारा के आधार पर उनके सांस्कृतिक पिछडेपन की बात भी की जाती है। संस्कृति के क्षेत्र में जब हम श्रेष्ठता अथवा उन्नत अथवा पिछडेपन की बात करते हैं तो अचेतन रूप से हमारा तात्पर्य सदैव आर्थिक एवं तकनीकी उन्नति से होता है किन्तु यह वस्तुनिष्ठ निष्कर्ष संस्कृति की अवधारणा के विरुद्ध है। वास्तव में प्रत्येक संस्कृति का अपना एक व्यक्तित्व होता है। वह अपने मे एक विशिष्ट जीवन प्रणाली होती है। अत- किसी भी संस्कृति को तुलना मे कम या अधिक श्रेष्ठ नही कहा जा सकता। यह कोई समस्या का प्रश्न नही है और न ही यह स्थिति किसी समस्या को जन्म ही देती है। वास्तव में सांस्कृतिक पिछडापन एक भ्रामक शब्द है। कोई भी कल्याणकारी योजना इतने भ्रामक आधार पर नहीं बनाई जा सकती। आदिवासियों के सांस्कृतिक एव आर्थिक पिछडेपन की बात करने वाले कतिपय विद्वानो ने उनके आधुनिकीकरण एव आधुनिक समुदायो मे उनके विलीनीकरण (Assimilation) को अत्यधिक महत्व दिया है। इन विद्वानो के विचार से आदिवासियो की सभी समस्याओ का यह एक श्रेष्ठतम समाधान है अत उनके कल्याण से सम्बन्धित सभी योजनाओ मे यही हमारा लक्ष्य एवं दृष्टिकोण चाहिये। इस विचारधारा को 'विलीनी करणवाद' कहा गया है। यह एक विचारणीय प्रश्न है। आर्थिक पिछडापन एक समस्या हो सकती है, किन्तु पूर्णरूपेण आधुनिकीकरण उसका समाधान नही है। आदिवासी समुदाय परिवर्तन के प्रति उदासीन नही हैं। वस्तुत स्वाधीनता के पश्चात के पिछले पच्चीस वर्षों में जो भी परिवर्तन हुये हैं हमारे आदिवासी उन परिवर्तनो से विमुख नही रहे हैं। किन्तु उनके सांस्कृतिक जीवन को विच्छिन्न करके आधुनिकीकरण के नाम पर अपनी मान्यताओं को श्रेष्ठ मानते हुये उन पर लादना अनैतिक है। परिवर्तन के लिये उन्हें बाध्य करना अनुचित ही नहीं अमानवीय भी है। आधुनिक जीवन की मान्यतायें एवं मूल्य उनकी परम्पराओ से श्रेष्ठ हैं, यह विचारधारा किसी भी प्रकार से तर्कसंगत नहीं मानी जा सकती। अत आधुनिकीकरण आदि-वासियो की समस्याओ का समाधान नही है।

पिछले अध्याय में हमने यह दृष्टिकोण अपनाया है कि वास्तव में

आदिवासियो की अधिकाश समस्यायें उनकी स्वजनित समस्यायें न होकर सभ्य कहे जाने वाले उनके पड़ोसियो एव प्रशासकों की देन हैं जो समय समय पर उनके सपर्क में आते रहे हैं और जिन्होंने अपने स्वार्थ सिद्धि के आवेश मे मनमाने ढग से उनका शोषण किया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम उनकी समस्या पर अपना दृष्टिकोण निर्धारित करने से पहले उनके दृष्टिकोण उनकी मान्यताओ, मूल्यो एव विचारो से परिचित हो।

देश के विभिन्न आदिवासी समुदाय विकास के भिन्न भिन्न स्तरो पर हैं। एक दूसरे से भिन्न उनकी आवासी परिस्थितिया आवश्यकतायें एव आकाक्षाये उन्हे परस्पर अलग करती हैं। स्पष्ट है कि इन सास्कृतिक विषम ताओ के होते हुये हम सभी आदिवासियो के लिये एक सामान्य नीति निर्धा रित नही कर सकते। हमे उनकी आवश्यकताओ एव समस्याओं को उनके विशिष्ट सदर्भों मे समझना है। स्वाधीनता से पहले आदिवासियों के सबध म प्रशासन की कोई निश्चित योजना नही थी। किन्तु अब यह हमारा राष्ट्रीय दायित्व हो गया है कि देश के अन्य सामान्य नागरिको की भाति हम उनकी ओर भी समुचित ध्यान द। उन्हे अधिक समय तक उपेक्षित नही रक्खा जा सकता। ऐसा तभी सभव है जब हम उन्हें राष्ट्रीय जीवन से सम्बद्ध कर सकें और वे अपने को राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण अग समझ सकें। इसके लिये परिवतन आवश्यक है। किन्तु परिवतन की रूपरेखा कुछ ऐसी होनी चाहिये जिससे उनके जीवन मे व्यतिक्रम एव दुर्व्यवस्था का वातावरण न उत्पन्न हो। हमारा सपक उन्ह उसी अवस्था मे असाध्य हो उठता है जब हम उनके विशिष्ट सास्कृतिक व्यक्तित्व पर आघात करते है। जवाहरलाल नेहरू ने आदिवासियो के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा था कि हमे किसी भी दशा मे आदिवासियो को अपना अस्तित्व अपनी विशिष्टता समाप्त करने के लिये बाध्य नही करना चाहिये। हम राष्ट्रीय एकता के नाम पर उन्हे अपने समान हो जाने पर विवश न करें। विविधताओ मे एकरूपता का आदश आदिवासियो के सम्बन्ध मे हमारा उचित दृष्टिकोण होना चाहिये। किसी सुन्दर उपवन का सौन्दय उसमे खिले हुये पुष्पो की विविधता से और भी अधिक निखर उठता है। सास्कृतिक विविधता हमारे राष्ट्र की विशिष्टता है। इसी विविधता को ही हमे राष्ट्रीय एकता के सूत्र मे पिरो देना है। हमे विश्वास है कि नेहरू की उक्त मान्यतायें वतमान सदर्भ मे आज भी उतनी ही सशक्त हैं।

अत इस सम्बन्ध मे हमारी प्रमुख समस्या यह है कि आदिवासियों

का राष्ट्रीय एकीकरण कैसे किया जाये, जिससे उनका विशिष्ट सांस्कृतिक अस्तित्व बना रहे तथा देश की समृद्धि से वे भी लाभान्वित हों। इस समस्या के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं। एक तो सरक्षणात्मक पक्ष तथा दूसरा विकासीय पक्ष। प्रथम पक्ष से हमारा तात्पर्य है उनके क्षेत्रों मे जंगलों एव भूमि आदि पर उनके अधिकारो को सुरक्षित रखने की समस्या। अवांछनीय तत्वों ने समय समय पर उनके इन अधिकारो का हनन किया है। द्वितीय पक्ष से हमारा तात्पर्य रचनात्मक एव कल्याणकारी योजनाओ को निर्धारित करने की समस्या से है। इन दोनो पक्षों से सम्बन्धित उचित नीतियो को निर्धारित करके योजनाबद्ध कार्यक्रम के द्वारा ही समस्या का वास्तविक समाधान सभव है।

सवैधानिक सुविधायें एव सरक्षण

इस सम्बन्ध मे राष्ट्रीय नीति का निर्धारण सविधान के माध्यम से आदिवासियो को प्राप्त सुविधाओ एव सरक्षण के आधार पर ही सम्भव है। सविधान मे उपर्युक्त दोनो पक्षो को महत्व प्रदान किया गया है। यद्यपि पिछले 23 वर्षों मे किये गये काय मे इन सुविधाओ एव सरक्षण की पृष्ठभूमि मे निहित भावना का पूर्णरूपेण अनुसरण नही किया जा सका है, फिर भी किसी सीमा तक उन्हें आधार मानकर कार्य किया गया है। मैदानी एव पर्वतीय क्षेत्रो के आदिवासियो की समस्याओ मे अन्तर है। जो भी कल्याणकारी योजनायें बनाई गई उनमे पर्वतीय क्षेत्रो की अपेक्षा मैदानी क्षेत्रो में निवास करने वाले आदिवासियो की ओर अधिक ध्यान नही दिया गया है। सम्भवत इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि पर्वतीय क्षेत्रों के अधिकांश आदिवासी (विशेषकर उत्तर एव उत्तर पूर्वी सीमान्त प्रदेशो के निवासी) राजनैतिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण एवं अपेक्षाकृत अधिक अशान्त होने के कारण प्रशासन का ध्यान उनकी समस्याओ की ओर अधिक आकृष्ट हुआ है।

स्वाधीनता के पश्चात संविधान में आदिवासियो के कल्याण का उत्तरदायित्व विभिन्न राज्यों के गवर्नरों एवं राष्ट्रपति के माध्यम से देश की जनतान्त्रिक सरकार को सौंपा गया। ब्रिटिश प्रशासन काल मे आदिवासियों को विधान मडलो एवं स्थानीय निकायो मे कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था। सन् 1935 के गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट के अन्तर्गत देश की विधान सभाओ में केवल 24 आदिवासी थे। इस उपेक्षा की नीति का परिणाम यह हुआ कि उनमें एक प्रकार से तटस्थता की स्थिति बनी रही। उनकी भूमि पर निरन्तर

बाह्य लोगों का अधिकार होता गया, जिससे उनकी आर्थिक दशा निरन्तर बिगड़ती गई। प्रशासकीय एवं वनविभाग से सम्बन्धित कार्यों के लिए उनके बीच आये बाहरी तत्वों ने अपने निहित स्वार्थों के लिए उनका भरपूर शोषण किया। विदेशी मिशनरियों की गतिविधियों ने भी अनेक समस्याओं को जन्म दिया। इस निरन्तर उत्पीड़न की स्थिति से प्रभावित होकर यदा कदा समय समय पर उन्होंने अपने आक्रोश का प्रदर्शन भी किया।

तत्कालीन प्रशासन ने उनके दमन के साथ साथ कुछ सुधारवादी दृष्टि कोण भी अपनाया, किन्तु इन सबका कोई विशेष प्रभाव नहीं पडा। ब्रिटिश प्रशासन ने मूलरूप से आदिवासियों के सम्बन्ध मे पृथकतावादी दृष्टिकोण ही अपनाया। इस दृष्टिकोण के विरुद्ध तत्कालीन अनेक मानववैज्ञानिको एव सामाजिक कार्यकर्ताओ ने अपने विचार व्यक्त किये। आदिवासियो के कल्याण की ओर अनेक राष्ट्रीय नेताओ एव राजनीतिज्ञो ने प्रशासन का ध्यान आक र्षित किया। भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस के कार्यक्रम मे आदिवासियो का कल्याण भी एक प्रमुख कार्यक्रम था। महात्मा गाँधी ने आदिवासियो को अन्य देश वासियो के निकट लाने एव उन्हे बराबरी के स्तर पर मान्यता प्रदान करने पर बल दिया। उसी समय ए० वी० ठक्कर बापा भी आदिवासियो में सराह नीय कार्य कर रहे थे। वेरियर एलविन ने महात्मा गाँधी एवं सरदार पटेल के आग्रह पर ही आदिवासियो मे सेवा एव अध्ययन कार्य आरम्भ किया था। बिहार मे राय बहादुर शरतचन्द्र राय अपनी पुस्तको एव लेखो के माध्यम से आदिवासियों के अधिकारो के प्रति जनमत तैयार कर रहे थे। विशेषकर असम एव बिहार मे विदेशी मिशनरियो की गतिविधियो ने आदिवासियो मे प्रगति की चेतना जागृत की। कुछ ब्रिटिश पदाधिकारियो जैसे ग्रिगसन एव हटन ने भी आदिवासियो के कल्याण के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये। इन सबके बावजूद भी स्वाधीनता के उपरान्त ही आदिवासी कल्याण के उत्तर दायित्व की ओर उचित ध्यान दिया जा सका। इसी उत्तरदायित्व को ध्यान मे रखते हुये संविधान सभा ने ठक्कर बापा की अध्यक्षता मे एक उपसमिति का गठन किया जिसकी महत्वपूर्ण संस्तुति यह थी कि अत्यन्त निर्जन स्थानो मे बसे हुये आदिवासियो के कल्याण के लिए भी राज्य का ही उत्तरदायित्व होना चाहिये। इस प्रकार से आदिवासी कल्याण भी सम्पूर्ण देश के विकास की समस्या का एक अंग बन गया।

इस स्थिति का आभास हमे संविधान मे आदिवासियो से सम्बन्धित विभिन्न धाराओ से होता है। संविधान के अनुच्छेद 46 में कहा गया है कि

"राज्य देश के आदिवासियों एवं निम्नवर्गों (कमजोर वर्गों) के शैक्षणिक एवं आर्थिक स्वार्थों की ओर विशेष ध्यान देगा तथा उन्हें सभी प्रकार के सामाजिक अन्याय एवं शोषण से सुरक्षा प्रदान करेगा।" इस आदर्श उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए संविधान की धारा 244 में राष्ट्रपति को यह विशेष अधिकार दिया गया कि वह समय समय पर आवश्यकतानुसार असम के अतिरिक्त अन्य सभी क्षेत्रों को पाँचवी सूची के अन्तर्गत तथा छठी सूची में केवल असम की आदिमजातियों को सम्मिलित कर सकता है। पाँचवी सूची मे अनुसूचित क्षेत्रों पर भी राज्य सरकारो का ही अधिकार क्षेत्र माना गया है, किन्तु व्यवस्था यह है कि राज्यपाल कभी भी अपने विशेष अधिकारो के द्वारा इन क्षेत्रो के निवासियो के हित मे राज्य एव केन्द्रीय कानूनी व्यवस्था में परिवर्तन कर सकता है। संविधान की व्यवस्थाओ के आधार पर ही सभी प्रदेशों मे जहाँ अनुसूचित क्षेत्र हैं वहाँ आदिमजातीय सलाहकार समितियो की स्थापना की गई। राज्य के आदिवासियो के सम्बन्ध मे राज्यपाल के लिए समय समय पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट देना अनिवार्य है। इन क्षेत्रो के सुचारु रूप से प्रशासन के लिए केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारो को निर्देशित करने का अधिकार भी है।

संविधान की धारा 275 के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार आदिवासियों के कल्याण एव उनमे सभी सवैधानिक व्यवस्थाओ के लिए राज्य सरकारो को आर्थिक सहायता भी प्रदान करती है। धारा 330 332 तथा 334 में संसद एव राज्य विधान सभाओ मे आदिवासियो के लिए स्थान सुरक्षित करने का प्राविधान भी है। धारा 335 के अन्तर्गत राजकीय सेवाओ मे भी आदिवासियों के लिए स्थान सुरक्षित किये गये। धारा 15, 16 एव 19 मे देश के अन्य सभी नागरिको के समान लागू की जाने वाली व्यवस्थाओ में आदिवासियों की विशिष्ट व्यवस्थाओ को ध्यान में रखने की व्यवस्था है। उद्देश्य यह है कि उनके हितो एव उनकी सस्कृति की सुरक्षा हो सके। बिहार, मध्य प्रदेश तथा उडीसा मे इसीलिए एक अतिरिक्त मन्त्रालय की स्थापना की व्यवस्था की गई। इस प्रकार से, सविधान में प्रदत्त इन सुविधाओ एव सरक्षण के माध्यम से आदिवासियों को सम्पूर्ण राष्ट्र से सम्बद्ध करने के प्रयास किये गये। हम आशा कर सकते थे कि पिछले 25 वर्षो के समय में एक प्रभावशाली बहुमुखी विकास कार्यक्रम की योजना का समारम्भ हो सकता और तब इन विशेष सुविधाओं की कोई आवश्यकता न रह जाती। किन्तु ऐसा सम्भव न हो सका, जिसके परिणामस्वरूप इस अवधि में वृद्धि करनी पड़ी। यह स्थिति सम्पूर्ण

व्यवस्था को कार्यान्वित करने की दोषपूर्ण पद्धति का परिणाम है। जिससे निर्धारित अवधि में ही वाँछित परिणाम प्राप्त नहीं हो सके। उदाहरण के लिए राष्ट्रपति की आज्ञा के अनुसार पाँचवी सूची मे आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र उडीसा एव मध्य प्रदेश आदि राज्यो मे कुछ क्षेत्रो को अनुसूचित क्षेत्र घोषित किया गया। इन क्षेत्रो मे असम तथा केन्द्रशासित क्षेत्र सम्मिलित नही हैं। इन सभी राज्यो के राज्यपालों को यह अधिकार प्राप्त है कि राज्य मे स्थित अनुसूचित क्षेत्रो मे प्रशासन के लिए उचित व्यवस्था कर। भूमि पर आदिवासियो के अधिकारो को सुरक्षित रखने तथा महाजनो आदि के आर्थिक शोषण से उन्हे मुक्ति प्रदान करने के लिए आवश्यक कानूनी व्यवस्था करें। इस उत्तरदायित्व की पूर्ति मे राज्यपाल को आदिम जातीय सलाहकार समिति की राय लेने का भी विधान है। इन क्षेत्रो का निर्माण दो प्रमुख उद्देश्यो से किया गया था। एक तो यह कि आदिवासी अपने वर्तमान अधिकारो का उपभोग करते रहे तथा दूसरा यह कि इन क्षेत्रो की आवश्यकताओ की ओर विशेष ध्यान दिया जा सके जिससे लोगो की आर्थिक शैक्षणिक तथा सामाजिक उन्नति हो सके। पाँचवी सूची मे आरक्षित क्षेत्रों के आदिवासियो के विशेष सवधानिक अधिकारो एव सुविधाओ का उल्लेख तो है किन्तु इनकी पूर्ति के लिए पर्याप्त निर्देशो का अभाव है। इनके अभाव मे राज्य सरकारो के लिए सामान्य विकास कार्यक्रमो के निर्धारण मे समुचित वैधानिक व्यवस्था की सीमाओं एव उनके महत्व का आभास नहीं हो पाता। जिस मनोवृत्ति से सवैधानिक सुविधाओ को निश्चित किया गया था तथा एक निर्धारित समय मे इनके परिणामो की आशा की गई थी उस समय में निरन्तर वृद्धि करते रहने के कारण उस मनोवृत्ति की पूर्णतया अवहेलना हुई है। इसके लिए केन्द्रीय सरकार का यह उत्तरदायित्व होना चाहिये कि उसके द्वारा निश्चित समय मे निर्धारित विकास कायक्रम पूरे हो तथा उसे इस सम्बन्ध मे राज्य सरकारो को उचित निर्देश देते हुये अपना नियन्त्रण बनाये रखना चाहिये।

एक दूसरी कमी यह है कि राज्यो मे विकास कार्यक्रमो पर खर्च किये गये धन का आँकलन जिले के स्तर पर होता है। जब तक अनुसूचित क्षेत्रों को एक जिला न बना दिया जाये अथवा उन क्षेत्रो में किये गये व्यय का अलग से आँकलन न किया जाये तब तक वास्तविक लक्ष्य की पूर्ति के आँकड़े उपलब्ध नहीं हो सकते। केन्द्र का उत्तरदायित्व केवल वित्तीय सहायता तक ही सीमित न होना चाहिये, बल्कि राज्य सरकारो का उचित निर्देशन भी केन्द्र का

उत्तरदायित्व होना चाहिये।

उपर्युक्त स्थिति के बावजूद भी पिछले पच्चीस वर्षों में जो कुछ कार्य किया गया है उसके आंशिक परिणाम दिखलाई पड़ने लगे हैं। प्रशिक्षित अधिकारियों का वह वर्ग, जिससे विकास कार्यक्रमों के सम्बन्ध में आदिवासियों का सम्पर्क हुआ है, उनका हितचिंतक एवं सहायक बन कर उनके बीच आया है और अधिकांशतः आदिवासियों ने उनकी मनोवृत्ति का स्वागत किया है। इसी को हम नियोजित सम्पर्क की संज्ञा भी दे सकते हैं। आदिवासियों के लिये यह एक नवीन अनुभव था जहां उन्हे अपने शोषण की आशंका नही थी। साथ ही इन कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप आदिवासी तथा अन्य लोगों के मध्य भौगोलिक पृथक्करण मे भी कमी आई है। वे अपने चारो ओर की गतिविधियों से परिचित हो सके हैं। इसके अतिरिक्त सामुदायिक विकास की देशव्यापी योजना एव राजनैतिक चुनावो मे आदिवासियो का बराबरी के स्तर पर योगदान, दो अन्य प्रमुख कारक हैं जिनसे उनमे एक नवीन चेतना का प्रसार हुआ है। आदिवासियो तथा अन्यो के मध्य विभाजन रेखा किसी सीमा तक धीरे धीरे समाप्त होती जा रही है तथा सामान्य जनजीवन से उनके एकीकरण की भूमिका तैयार हो रही है। फिर भी सविधान की धाराओ में व्यक्त भावना का पूर्णरूप से पालन नही हो सका है। अप्रैल सन 1973 में बिहार विधानसभा मे एक सदस्य ने सप्रमाण यह वक्तव्य दिया कि आज भी बिहार के आदिवासी क्षत्रो मे केवल 125/ रुपये के कर्ज के लिये पिछले पैंतीस वर्षों से गुलामी करते रहने के बाद भी मूलधन अदा न कर पाने वाले व्यक्ति हैं। यह एक प्रमाण सदियो से चले आ रहे आर्थिक शोषण का प्रतीक मात्र है। आज भी बस्तर के आदिवासी बाजारो मे दक्षिण भारत के महाजनो का एक वर्ग सक्रिय है जिसके हाथो मे आदिवासियों के शोषण से करोडो की सम्पत्ति पहुच चुकी है। यद्यपि इस सम्बन्ध मे विधिवत किये गये सर्वेक्षण के आधार पर एकत्रित न्यास हमे उपलब्ध नहीं हैं फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह समस्या देश के लगभग सभी आदिवासियो मे आज भी समान रूप से विद्यमान है। स्पष्ट है कि निर्धारित लक्ष्यो एवं उद्देश्यो की पूर्ति में अभी बहुत कुछ कार्य करना शेष है। किन्तु पिछले तेइस वर्षों में किये किये गये प्रयासों का समय समय पर मूल्यांकन न करके यदि हम बार बार केवल समय बढ़ाते रहे तो यह निश्चित है कि हमारे उद्देश्यों की पूर्ति असम्भव होगी। हमे अपनी त्रुटियो से सीखना होगा तथा भविष्य मे अधिक प्रभाव रूप से समयबद्ध कार्यक्रम चलाया जा सके इसके लिए एक योजना

बनानी होगी ।

आदिवासियो को सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन मे बराबरी के स्तर पर भाग लेना है यह एक राष्ट्रीय आवश्यकता है । संविधान मे प्रदत्त मौलिक अधिकारों से आदिवासी वंचित न रहें यह देखना हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है । हमारी राष्ट्रीय एवं भावनात्मक एकता का दायरा इतना विशाल हो जिसमे सदियो से उपेक्षित आदिवासियो का समावेश भी हो सके। इसके लिए हमें सहयोग एव सहकारिता के आधार पर आदिवासियो से स्वस्थ सम्पर्क कायम करने होंगे । हम जानते हैं कि आदिवासियो की सभी समस्याओ का समाधान एक साथ एव तत्काल ही सम्भव नही है । इन समस्याओ के समाधान मे प्राथमिकताओं का निर्धारण प्रयासो के नियोजन की आधारशिला है । किन्तु ये प्राथमिकतायें स्वय गवेषणा के आधार पर ही निर्धारित की जा सकती हैं । मई सन 1972 मे इण्डियन काउंसिल आफ सोशल रिसर्च तथा इण्डियन इन्स्टीटयूट आफ एडवांस स्टडीज के सयुक्त तत्वावधान मे देश के शीर्षस्थ मानव वैज्ञानिको के सम्मेलन मे इस समस्या पर विचार विमर्श हुआ जिसके परिणामस्वरूप कुछ महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आये हैं ।

आदिवासी समस्याओ एव परिस्थितियो से सम्बन्धित गवेषणा मे मुख्यरूप से आज दो ही सगठन सक्रिय है, जिनके माध्यम से समय समय पर वर्तमान वस्तुस्थिति से परिचय प्राप्त होता है । एक तो केन्द्रीय स्तर पर राज्य द्वारा सचालित भारतीय मानव वैज्ञानिक सर्वेक्षण तथा दूसरे विभिन्न राज्यों मे स्थित आदिवासी शोध सस्थान इस दिशा मे महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं । इन दोनो प्रकार के सगठनो मे सम्बद्धता लाने के लिये इन्हे दो भिन्न प्रकार के कार्य सौंपे जा सकते हैं । यद्यपि विभिन्न आदिमजातियो पर समय समय पर लिखे गये वृत्तांत काफी सख्या मे उपलब्ध हैं फिर भी इनमें से अधिकांश वृत्तान्त हमे वर्तमान परिस्थितियो का आभास दे सकने मे असमर्थ हैं । इसके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी छोटी छोटी आदिमजातियां भी हैं जिनके सम्बन्ध मे कभी कुछ भी नही लिखा गया है और उनके सम्बन्ध मे हमे कोई सूचना नही है । इन सबके बावजूद भी, जो भी सूचनायें हमे उपलब्ध हैं उनसे आदिवासी सस्कृतियो की एक स्पष्ट रूपरेखा हमारे समक्ष आ चुकी है । इन अध्ययनों के आधार पर हम अब ऐसी स्थिति मे हैं कि ऐसे समस्यापूर्ण क्षेत्रों का निर्धारण कर सकें जहाँ वैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा हम एक राष्ट्रीय नीति के निर्धारण मे महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं । अधिकांश आदिमजातीय वृत्तांत बहुत समय पहले लिखे गये थे । पिछले बीस वर्षों के काल मे इस

प्रकार के कार्यों में काफी शिथिलता आई है। इन सबके परिणामस्वरूप वर्तमान समस्याओं के अनेक पहलुओं पर नये दृष्टिकोण से विचार करना सम्भव नहीं है। कई आदिवासी क्षेत्रों में विभाजन, द्वेष, हिंसा आदि की भावनायें जन्म ले रही हैं। जिन आदिवासियों में आज हमें अपेक्षाकृत शान्त वातावरण का आभास हो रहा है, वहाँ भी परिस्थिति किसी भी समय परिवर्तित हो सकती है, क्योंकि उनकी आर्थिक प्रगति की गति अत्यन्त मन्द है तथा उनमें समाज कल्याण के क्षेत्र में किये गये कार्यों की उपलब्धियाँ अत्यन्त न्यून हैं। अत आदिवासियो की आवश्यकताओ एव उनकी समस्याओं पर नये सिरे से विचार एव एक नवीन दृष्टिकोण की आवश्यकता है। विशेष कर सविधान मे निर्धारित लक्ष्यो की पूर्ति के सन्दर्भ मे यह और भी आवश्यक है। कई प्रकार की सस्थाएँ आदिवासियो मे अपने अपने दृष्टिकोण से शोधकार्य में सलग्न हैं, किन्तु उनमे परस्पर किसी प्रकार के समन्वय का अभाव है। इस समन्वय के अभाव मे ही एक उचित राष्ट्रीय नीति के निर्धारण मे विलम्ब हो रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि इन सभी प्रकार की सस्थाओं के काय को एक केन्द्रीय शोध कायक्रम के माध्यम से उचित निर्देशन मे कार्य करने के लिए प्रेरित किया जाये। इस सन्दर्भ मे भारतीय मानव वैज्ञानिक सर्वेक्षण को राष्ट्रीय स्तर पर एक केन्द्रीय शोध सस्थान के रूप मे माना जा सकता है। दूसरी ओर विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों मे कार्य कर रहे आदिमजातीय शोध सस्थानो को इस केन्द्रीय सगठन से सार्थक रूप से सम्बद्ध किया जा सकता है। हमारे समक्ष दो प्रमुख कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। एक तो जिन आदिवासियो के सम्बन्ध मे अभी तक कुछ भी ज्ञात नही है, उनका अध्ययन होना आवश्यक है। इनमे कम जनसंख्या वाले वे छोटे छोटे आदिवासी समुदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनकी ओर अभी तक इसलिए ध्यान नही दिया गया है क्योंकि उनकी जनसख्या कम है। दूसरे, कुछ ऐसे चुने हुए आदिमजातीय समुदायो का पुन अध्ययन करना भी आवश्यक है, जिनके बहुत समय पहले लिखे गये वृतान्त हमें उपलब्ध हैं किन्तु सम्पर्कों एव अन्य माध्यमो से हुये परिवर्तनों के प्रभावो से उनकी परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चुकी हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये सभी संस्थायें विभिन्न क्षेत्रों में अध्ययन करके महत्वपूर्ण योगदान कर रही हैं, फिर भी यह आवश्यक है कि केन्द्रीय शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय उन्हें अपने दृष्टिकोण में आवश्यक परिवर्तन लाकर, उनके अध्ययनों के लक्ष्य को पुन निर्धारित करने एवं एक समयबद्ध कार्यक्रम बनाने के लिए प्रेरित करे। इस कार्य में इण्डियन काउन्सिल

आफ सोशल रिसर्च से सलाहकारी सहायता ली जा सकती है। यह परिषद एक निर्धारित कार्यक्रम की रूपरेखा प्रदान करने मे सहायक हो सकती है जिससे आवश्यकताओ के निर्धारण में एकरूपता आ सके तथा विभिन्न संस्थाओं द्वारा किया गया शोध काय एक ऐसे तुलनात्मक अध्ययन का आधार बन सके जिससे अन्ततोगत्वा एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण निर्धारित किया जा सके। यह कार्य विश्वविद्यालयो के विभागो के माध्यम से भी हो सकता है। इसमें मानव वैज्ञानिको के अतिरिक्त अन्य सामाजिक वैज्ञानिको की सहायता भी ली जा सकती है। किन्तु चूंकि इन सभी अध्ययनों का उद्देश्य राष्ट्रीय नीति के निर्धारण के लिए एक उचित आधार एव आवश्यक सूचनायें प्रदान करना है अत परिषद द्वारा निर्धारित कायक्रम के अन्तगत किये गये अध्ययनो के परिणाम कम समय में ही उपलब्ध हो सकें यह आवश्यक है।

वर्तमान समय मे परिवर्तनशील सामाजिक पर्यावरण से आदिवासियो के समायोजन से सम्बन्धित समस्याओ का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस सामान्य वृहद् विषय के अन्तगत विशिष्ट अध्ययन क्षेत्रो को निर्धारित किया जा सकता है जैसे आदिवासियो के देश की राजनैतिक प्रक्रिया मे भाग लेने के परिणामस्वरूप उत्पन्न समस्यायें। देश की सामान्य राजनीतिक गतिविधियो में भाग लेने के परिणामस्वरूप आदिवासियो मे एक नवीन राजनीतिक व्यवस्था का अभ्युदय हुआ जो कि उनकी परम्परागत व्यवस्थाओ से सर्वथा भिन्न है। कहीं कहीं पर इस परिस्थिति ने पृथकतावादी प्रवत्ति को जन्म देकर राजनैतिक असन्तोष की स्थिति ला दी है। इन नवीन राजनीतिक गतिविधियो के प्रभाव मे अधिकाश आदिवासी एक विशेष परिस्थिति मे आ चुके हैं, जिसने समायोजन सम्बन्धी अनेक समस्याओ को जन्म दिया है। सामान्य राजनीतिक प्रक्रियाओ का अंग बन कर आदिवासी समुदायो का विशिष्ट व्यक्तित्व धीरे धीरे समाप्त होता जा रहा है। परन्तु अपनी सामाजिक विशिष्टता को बनाये रखने का मोह भी वे नहीं त्याग सकते। परिणामस्वरूप एक विशेष प्रकार की तनावपूर्ण स्थिति मे वे नवीन राजनीतिक प्रभावो का सामना कर रहे हैं। बिहार मे प्रान्तीय स्तर पर आदिवासियो का राजनीतिक संगठन वहाँ की राजनीतिक अस्थिरता का कारण बन चुका है। एक ओर विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रभाव से मुक्त होना सम्भव नही है और दूसरी ओर आदिवासियो के रूप में वे अपना पृथक अस्तित्व बनाये रखना चाहते हैं। इसलिए किसी दल विशेष में वे अपने को लीन नहीं करना चाहते। इन प्रवृत्तियो के बीच निरन्तर अशान्त एवं तनावपूर्ण राजनीतिक स्थिति उनकी मानसिक अस्थिरता का

प्रमुख कारण है।

दूसरे प्रकार की समस्यायें आर्थिक समस्यायें हैं। संचार एवं परिवहन सुविधाओं में तीव्र गति से प्रसार होने के साथ ही साथ आदिवासियों का परम्परागत आर्थिक जीवन प्रभावित हो रहा है। उन्हे भी विवश होकर सामान्य जनजीवन की आर्थिक क्रियाओं में भाग लेना पड रहा है। व्यवस्थित एवं सगठित बाजारो की अथ व्यवस्था के प्रभाव उनकी परम्परागत आर्थिक व्यवस्थाओं को विच्छिन्न कर रहे हैं। नये आर्थिक अवसर नये नये मूल्यो को आरोपित कर रहे हैं। औद्योगीकरण की प्रक्रिया उनके आदिमजातीय सांस्कृतिक सामाजिक व्यक्तित्व को नष्ट कर रही है। उनके समीपस्थ स्थानों में बडे-बडे औद्योगिक सस्थानो के चारों ओर नगरों एवं उपनगरों का विस्तार होता जा रहा है। आदिवासियो का आर्थिक पिछडापन एक प्रमुख समस्या है जिसके समाधान को प्राथमिकता दी जानी चाहिये। इस पर विचार करने के लिये उपयुक्त सभी स्थितियो का गहन अध्ययन आवश्यक है।

तीसरे प्रकार की समस्यायें सास्कृतिक समस्यायें हैं। देश की औद्योगिक प्रगति के साथ ही साथ अन्य समुदायो से उनके सम्पर्क तेजी से हो रहे हैं। ऐसी परिस्थिति मे उनका सांस्कृतिक जीवन पृथक एवं अप्रभावित नहीं रह सकता। भाषा एव क्षेत्रीय विलगता के परम्परागत सास्कृतिक प्रतिरोध प्रभावहीन होते जा रहे हैं। परिवतन चाहे आतरिक चेष्टाओ से हो अथवा बाह्य प्रभावो से हो सदव एक प्रकार के विघटन को जन्म देता है। सस्कृतिया इन विघटनात्मक शक्तियो स समायोजन करने के लिये नवीन स्वरूप ग्रहण करती है। आज आदिवासियो मे भी यही प्रक्रिया पाई जाती है। नये प्रभावा ने उनकी सास्कृतिक विशिष्टताओ पर आघात किया है। नवीन एव पुरातन के अ तर समाप्तप्राय होते जा रहे हैं। अधिकाश क्षेत्रो मे आदिवासी सस्कृतिया वृहद क्षेत्रीय सस्कृतियो मे लीन होती जा रही है। कही कही पर इस परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप आदिवासी सस्कृतियाँ नवीन परिवेशो मे उदित होकर अपने सास्कृतिक व्यक्तित्व को एक नया स्वरूप देकर अपनी विशिष्टता को बनाये रखने का प्रयास कर रही है। इस सम्बन्ध मे किये जाने वाल अध्ययनो मे तीन बातो पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। आदिवासियों की शिक्षा व्यवस्था, आधुनिकीकरण प्रक्रिया में उनका समावेश एव राज्य द्वारा सचालित विकास एव कल्याणकारी कायक्रमो मे उनका योगदान। विकास कार्यक्रमो के सम्बन्ध मे एक महत्वपूण बात उल्लेखनीय है। अक्सर यह सन्देह व्यक्त किया

जाता है कि राज्य की ओर से आदिवासियो के विकास एव कल्याण से सम्बन्धित कार्यक्रमो मे जो धनराशि व्यय की जाती है उसका पूण लाभ आदि वासियो को न होकर अन्य वर्गों तक भी पहुच रहा है। अत इन कार्यक्रमो का परीक्षण आवश्यक है। इन कार्य क्रमो के क्रियान्वित करने की विधियो मे आवश्यकतानुसार परिवतन किये जा सकते हैं। यह एक अति आवश्यक अध्ययन का विषय है।

उपर्युक्त प्राथमिकताओ को ध्यान मे रखते हुए नियोजित अनुसन्धान के माध्यम से शीघ्र से शीघ्र समयबद्ध योजना के आधार पर एक ठोस राष्ट्रीय नीति का निर्धारण आज की प्रमुख आवश्यकता है। देश मे तीव्रता से हो रहे परिवतनो के क्रम को रोका अथवा सीमाबद्ध नही किया जा सकता। प्रत्येक परिवतन मे कुछ पीडायें भी होती हैं। चिर परिचित व्यवस्थाओ का स्थान जब नवीन व्यवस्थायें लेती हैं तो कुछ समस्याओ का जन्म लेना आवश्यक ही है। पुरातन से नूतन मे पदाक्षेप कितना ही आशाप्रद क्यो न हो कष्टकारी भी होता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम एक ऐसा मानवीय दृष्टिकोण निर्धारित कर सकें जिससे ये कटुतायें कम की जा सकें तथा आदि वासियो के लिए भी प्रगति के द्वार खोले जा सकें।

● ●

परिशिष्ट

भारत की अनुसूचित आदिम जातियाँ

अरुणाचल प्रदेश

अबोर	खोवा
आक्का	मिशमी
आपातानी	गोम्बा
डाफला	शीरडुकपेन
गलोंग	सिंघपो
खाम्पटी	बारमास

असम

बोरो-बोरोकछारी	मीरी
देवरी	राभा
होजाई	चकमा
कछारी	डिमसा
लालुंग	हजोंग
मेच	मिकिर

मेघालय

गारो	हमार
खासी	

नागालैंड

नागा	सिंटेंग

मणिपुर

कूकी

मिजोरम

मिजो	लाखेर
भाल	पाकी

पश्चिमी बंगाल

हो	बजारा
कोरा	बठूडी
लोधा खेडिया या खडिया	बेडिया
मल पहाडिया	बिझिया
मुडा	बिरहोर
ओरांव	बिरजिया
सथाल	चेरु
भूमिज	चिक बारैक
भुटिया	गोंड
चकमा	गोडैत
गारी	करमाली
हजांग	खरवार
लेपचा	खोंड
माघ	किसान
महाली	कोरवा
मेच	लोहरा
म्रू	माहली
नगेसिया	परहैया
राभा	सौरिया पहाडिया
असुर	सबर
बैगा	

बिहार

असुर
बैगा
बंजारा
बथूडी
बेडिया
बिझिया
बिरहोर
बिरजिया
चेरु
चिक बाराईक
गोंड
गोडैत
हो
करमाली
खड़िया
खरवार
खोंड
किसान
कोरा
कोरवा
लोहरा
माहली
मलपहाड़िया
मुंडा
ओरांव
परहैय्या
संथाल
सौरिया पहाड़िया
सवर
भूमिज

उत्तर प्रदेश

थारू
भोकसा
भोटिया
राजी
जौनसारी

उड़ीसा

बगाटा
बैगा
बंजारा या बंजारी
बथूडी
भोटाडा या ढोटाडा
भुइया या भुयां
भूमिया
भूमिज
किसान
कोल
कोल्हा कोल लोहार
कोल्हा
कोली
कोंडाडोरा
कोरा
कोरुआ

भुंजिया	कोटिया
बिंझल	कोया
बिंझिया या बिंझोआ	कुली
बिरहोर	लोध
बोदो पोराजा	माडिया
बेंचू	महाली
डाल	मानकीदी
देसुआ भूमिज	मानकिरदिया
धरुआ	मत्या
दिदायी	मिरधा
गडाबा	मुंडा
गाडिया	मुंडारी
घारा	ओमत्या
गोंड गोंडो	ओराव
हो	परगा
काधा गौडा	परोजा
होलवा	पेंटिया
जटाप	राजौर
जुआंग	सथाल
काधा गाडा	साओरा
कवार	शबर या लोध
खडिया	सोंटी
खरवार	थारुआ
खोंड या कंध	

मध्य प्रदेश

गोंड	मुंडा
कोरकू	नगेसिया
सेहारिया	निहाल
भील	ओराव
भिलाला	परधान

भारत की प्रमुख आदिमजातियाँ
1 नागा
2 खासी
3 गारो
4 मिजो
5 कुकी
6 डाफली
7 मिकिर
8 आपातानी
9 सथाल
10 ओरॉव
11 मुंडा
12 हो
13 बिरहोर
14 सावरा
15 बोडो
16 खोंड
17 गोंड
18 भील
19 बैगा
20 कमार
21 थारू
22 खासा
23 भोकसा
24 कोरवा
25 गद्दी
26 गुज्जर
27 मीना
28 कटकरी
29 चेंचू
30 येनादी
31 टोडा
32 कोटा
33 बडगा
34 इरूला
35 पनियान
36 उराली
37 कादार
38 ओंज
39 जरावा

अन्ध	परधी
बैगा	परजा
भैना	साओंता
भारिया-भूमिया	सवर
भतरा	अगारिया
भूंजिया	बियार
बिंझवार	माझी
बिरहोर या बिरहुल	मवासी
धनवार	नट
गडाबा या गाधा	पतिका
हलबा या हलबी	पाओ
कमार	सौर
कावर	सोवर
खैरवार	करकू
खड़िया	कीर
खोंड या कोंध या कंध	मोगिया
कोल	भील मीना
कोलम	दमोर
कोरवा	गरासिया
मझवार	मीना

हिमांचल प्रदेश

गद्दी	किन्नर या कनौरा
गुज्जर	लाहुला
जद, लाम्बा, खम्पा और भोट	पंगवाला

पंजाब

गद्दी	भोट या बोध
स्वांगला	

राजस्थान

भील	भील मीना

दबोर	कठोडी या कटकरी
गरासिया	कोकना कोकनी, कुकना
भीला	कोली ढोर
सेठरिया	नायका या नैकदा
बरदा	परधी
बावचा या बमचा	पटेलिया
चोधारा	पोमला
ढाँका	रथावा
ढोडिया	वरली
दुबला	विटोलिया
गमिट	कोरकू
गोंड या राजगोंड	

महाराष्ट्र

बरदा	बिझवार
बावचा या बमचा	बिरहोर या बिरहुल
भील	धनवार
चोधारा	गडाबा
ढाका	हलबा या हलबी
ढोडिया	कमार
दुबला	कुवार
गमिट	खरवार
गोंड या राजगोंड	खड़िया
कठोडी या कटकरी	कध या खोड
कोकना, कोकली, कुकना	कोल
कोली ढोर	कोलम
नायका या नैकदा	कोरकू
परधी	कोरवा
पटेलिया	मझवार
पोमला	मुंडा
रथावा	नगेसिया

बरली	निहाल
बिटोलिया	ओरांव
कुनबी	परधान
कोधरी	परजा
कोली मल्हार	साओंता
कोली महादेव	सवर
ठाकुर या ठाकर	कोया
अन्ध	ठोटी
बैगा	सिद्दी
भैना	भारवाद
भारिया भमिया	चारन
भतरा	रबारी
भील	पवार
भुंजिया	बागरी

आन्ध्र प्रदेश

चेंचू	पोरजा
कोया	रेड्डीधोरा
गडाबा	रोना
बगाटा	सावरा
जटापू	सुगाली
कम्मारा	येनादी
कट्टूनेयकन	येरुकुला
कोंडाधोरा	अन्ध्र
कोंडाकापू	भील
कोंडारेड्डी	गोंड
कोंध	कोलम
कोटिया बिंधू	परधान
कुलिया	थोटी
माली	मोडू
मन्नाधोरा	नायक
मूकधोरा	वाल्मीकि

कर्नाटक

गोडालू
हक्की पिक्की
हसालारु
इकलिगा
जेनूकुरुबा
काडुकुरुबा
मालाईकुडी
मलेरु
सोलीगारु
बरडा
बमचा
भील
चोधारा
ढाका
ढोडिया
दुबला
गामटा
राजगोंड
कठोडी
कोकना
कोलीढोर
नैकदा
परधी
पटेलिया
पोमला
रथावा
वरली
विटोलिया
गोंडू
कोया

थोटी
माडियान
अरनाडन
इरुलार
कादार
कम्मारा
कहूनायकन
कोडाकाकुश
कोडा रेड्डी
कोरागा
कोटा
कुडिया
कुरीचाचन
कुरुम्मन
महामाल्यासार
मलाइकडी
मुडुगार
पलियान
पनियान
पुलायन
सोलगा
टोडा
कनियान
मारटी
पोरामा
कुडिया
कोरूबा
मराठा
मेडा
येरावा

तामिलनाडु

कादार
इरुलाज
आडियान
अरनादन
कम्मारा
कट्टूनायकन
कोंडाकापुश
कोंडारेड्डी
कोरागा
कोटा
कुडिया
कुरीचाचन
कुरुमान
मालसर
मलाईकिरवी
मुडुगार
पलियान
पनियान
कुलायन
शोलगा

टोडा
मलयाली
कनियान
कुरुम्बा
इरावालन
कानिकरन
कोचूवेलन
मालाकुरवन
मलाईआयन
मलाईपण्डरम
मल्याईवेडन
मलायान
मलायारायार
मन्नन
मुथूरान
पलियार
उल्लाडान
उराली
विशावन

केरल

कादार
इरुलाज
मुथुवान
इरावल्लन
कनिकर
कोचूवेलन
मालाकुरवन

कडियान
अरनादन
कम्मारा
कट्टूनायकन
कोंडाकापुस
कोंडारेड्डी
कोरागा

मलाईआर्यन
मलाईपंडरम
मलाईवेडन
मलायाम
मलाकारायार
मन्नन
पल्लयान
पल्लियार
उल्लाडान
उराली
विशवान
कोटा
कुडिया
कोरीचच्चन
कुरुमान
माल्लामलसार
मलायकाण्डी
पनियान
पुलायान
कुरुम्बा
मारती

प्रस्तावित पाठ्य सामग्री

अध्याय 1

Anderson J D — The Peoples of India, Cambridge 1913

Atal Yogesh — Adivasi Bharat

Bailey F G — Tribes, Caste and Nation, Manchester University Press 1960

Ghurey, G S — Scheduled Tribes, Bombay 1959

Govt of India Publication — Advasi, Delhi 1959

Iyer, L A K & Balaratnam L K — Anthropology in India 1961

Mamoria, C B — Tribal Demography in India, Kitab Mahal Delhi

Risley, H H — The Peoples of India, Calcutta 1915

अध्याय 2

Bhartiya Adim Jati Sewak Sangh — Tribes of India, Delhi 1957

Chandra Shekhar S — Indian Population facts and Policy 1950

Das, T C — Classification of the Tribes in India, Report of the IVth Conference for Tribes and Tribal areas 1959

Elwin, V — The Aboriginals, Bombay D P I, Pamphlet No 14, 1943,

Grierson Sir G A — The Linguistic survey of India and the census of 1911, Calcutta, 1919
Guha, B S — The Racial Elements in Indian Population
Iyer, L K A — Lectures in Ethnology
Majumdar D N — Races and Cultures of India
Risley H H — The Peoples of India Calcutta 1915
Sarkar S S — The Aboriginal Races of India Calcutta 1974

अध्याय 3

Bose N K — Tribal Life in India
Ehrenfels U R — Kadar of Cochin Madras 1952
Forde, C D — Habitat Economy and Society, London 1957
Furer-Haimendorf C Von — The Chenchus London 1943
The Naked Nagas, Calcutta 1946
The Apatanis and their Neighbours London 1962
HersKowits M S — Economic Anthropology New York 1953
Mandelbaum D G — Cultural Change among the Nilgiri Tribes, American Anthropologist Vol 43, Jan–Mar 1941
Murdock G P — Our Primitive Contemporaries New York 1961
Nag D S — Tribal Economy Delhi 1958
Saxena, R N — Social Economy of a Polyandrous people, Agra 1955

अध्याय 4

Bose N K — Cultural Anthropology Calcutta 1963
Das, T C — Social Organization of the Tribal

People, Delhi, Indian Journal of Social Work, Vol XIV-1951

Elwin, V — The Kingdom of the Young, Bombay 1968

Goswami, M C. & Majumdar, D N, — Social Instiutions of the Garo of Meghalaya, Calcutta 1972

Karve, Iravati — Kinship Organization in India, Poona, Deccan College, 1962

Kapadia, K M — Marriage and Family in India, Bombay

Mathur, K S & Agrawal B C. (ed) — Tribe, Caste and Peasantry

Majumdar D N — Races and Cultures of India, Asia Publishing, Bombay

Majumdar D N & Madan T N — Introduction to Social Anthropology Bombay 1956

Majumdar D N — Himalayan Polyandry

Makane, C — Garo and Khasi A Comparative study in Matrilineal system Paris 1967

Sachhidananda — Profiles of Tribal Cultures in Bihar

Schneider D, N & Gough K — Matrilineal Kinship Berkeley and Los Angeles-1961

Vidyarthi, L P — Cultural Contours of Tribal Bihar, Calcutta 1964

अध्याय 5

Bailey F G — Tribe, Caste and Nation, Manchester University Press, 1960

Bailey, F G — Stratagems and Spoils-A social Anthropology of Politics

Chattopadhaya, K P — Report on Santhals in Bengal, Culcutta University Press 1947

Das Gupta K K — A Tribal History of Ancient India, Calcutta

Gluckman, M — Politics, Law and Ritual in Society, Chicago-1965.

Joshi, M M — Bastar-India's Sleeping Giant, New Delhi 1967

Majumdar, D N — Matrix of Indian Culture, Lucknow 1947

Singh Inderjit — Gondwana and the Gonds, Lucknow 1944 -

Vidyarthi, L. P — Indian Anthropology in Action (ed), Ranchi 1960

अध्याय 6

Dutta K K — The Santhal Insurrection of 1855–57, Calcutta' 40

Elwin, V — The Naga in the 19th Century, Bombay 1969

Fuchs Stephon — Rebellious Prophets Bombay 1965

Goswami B B — The Mizo Movement Bulletin of the Anthropological Survey of India 1971

Kar P C. — British Annexation of Garo Hills Calcutta 1920

Orans Mutin — The Santhal A Tribe in search of a Great Tradition Detroit 1965

Singh K S — Tribal Situation in India (Ed) Simla

Raghaviah, V — Tribal Revolts, Bhartiya Adim Jati Sewak Sangh

अध्याय 7

Elwin, V — Bondo Highlanders O U P 1958
The Religion of an Indian Tribe, London 1955

Furrer-Haimendorf, C Von — The After Life in Indian Tribal Belief Journal of Royal Anthropology Institute, London 1953

Fuchs, Stephen — Man in India

Furrer-Haimendorf, C Von — The Raj Gonds of Adilabad, Myths and Ritual, London 1948,

Ghurey, G S. — Scheduled Tribes, Bombay 1959

Majumdar, D N — The Affairs of Tribe Lucknow 1950

Roy, S C. — The Oraon Religion and Customs, 1926

Srinivas, M N — Religion and Society among the Coorgs of South India, Oxford 1952

अध्याय 8

Aiyappan, A — Report on the Socio-Economic Conditions of the Aboriginal Tribes of the Province of Madras, 1948

Bose, N K — The Hindu Method of Tribal Absorption, Science and Culture Vol VI 1941

Dube, S C — Approaches of Tribal Problems–Indian Anthropology in Action. Ranchi 1960

Elwin V — The Loss of Nerve, Bombay 1942
The Tribal World of Verier Elwin, London 1964

Ghurey G S — Scheduled Tribes, Bombay 1959

Govt of India — The Adivasis Delhi 1959

Guha, B S — The Indian Aboriginals and their administration, Journal of Asiatic Society Vol XVII 1651

Jay E J — The Anthropological and Tribal Wel fare, Hill Muria, A Case Study-Journal of Social Research, Ranchi 1959

Kalia, S K — Sanskritization and Tribalization, Bulletin of the Tribal Research Institute, Chhindwara, April, 1959

Majumdar, D N — A Tribe in Transition, London 1937

Majumdar, D N & Madan, T N — An Introduction to Social Anthropology, Bombay 1952

Mathur, K. S — Some Problems of Tribal Rehabilita-

tion in M P Journal of Social Research III-2, 1960
Tribal Indentity, The Eastern Anthropologist Vol. XXII-2, 1969

Sachhidananda — Culture Change in Tribal Bihar, Calcutta 1964

Sahay K N — Trends of Sanskritization among the Oraon, Ranchi Bulletin of Bihar T R I Vol IV No 2, Sept 196?

Vidyarthi, L P — Applied Anthropology in India (Ed), Allahabad 1968
Socio Cultural Implications of Industrialization in Tribal India Report submitted to the S P C of the Planning Commission Delhi 1970

अध्याय 9

Bose N K — Anthropology and Tribal Welfare Report of the Fourth Conference for Tribes and Tribal Areas Delhi 1957
Problems of National Integration Simla 1967

Dhebar U N — Report on the Scheduled Tribes, Delhi, Govt of India, 1960

Elwin, V — The Philosophy for NEFA Shillong 1960
New Deal for Tribal India, Delhi 1963

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

Aiyappan, A — 'Nair Polyandry', Man No 55 1934

— Social & Physical Anthropology of the Nayadis of Malabar, Madras, 1937

— Iravas & Culture Change, Madras, 1944

Report on the Socio-Economic Conditions of the Aboriginal Tribes of the Province of Madras, 1948

Anderson, J D — The Peoples of India, Cambridge, 1913

Archer W G — 'The Santal Problem Man in India, Dec 1945

— Tribal Heritage London 1949

Arya, B S — Kolta Enquiry Committee Report (Hindi), Lucknow 1960

Atal, Yogesh — Adivasi Bharat, Delhi, 1965

Baleja, J D — Across the Golden Heights of Assam & NEFA, Calcutta Modern Book Depot

Bagchi P C — Pre-Aryan & Pre-Dravidian in India Calcutta 1920

Bahadur, F & Sharma D K — Bhils of Madhya Pradesh Consumption Pattern, Tribal Research Institute, Bhopal, 1970

— Murias of Bastar-Consumption Pattern, Tribal Research Institute, Bhopal 1971

Bailey, F G — Tribe, Caste & Nation, Manchester

Baines, A — University Press, 1960
— Census of India, 1891, Report
— Ethnology, Strassbury, 1912.
Ball, V — Jungle Life in India, London, 1880
Bannerjee Dr A P — The Asur India, 1926
Bannerjee, M — Primitive Man in India, Ambala, 1964
Barkataki, S — Tribes of Assam, Delhi, National Book Trust 1969
Barnes E — The Bhils of Western India, Journal of the Society of Arts Vol LV 1906-07,
Best, J W — Forest Life in India 1935
Bhargava B.S — Criminal Tribes Lucknow 1949
Bhartiya Adimjati Sewak Sangh — Tribes of India Delhi 1957
Biddulph I — Tribes of Hinukoosh, 1880
Biswas P C — Santals of Santal Parganas Delhi 1956
Bose, J K — The Garo Law of Inheritance, Anthropological Paper (New Delhi) 6 Calcutta 1941
Bose, N K — 'The Hindu Method of Tribal Absorption, Science & Culture Vol VI 1941
— Anthropology & Tribal Welfare Report of the Fourth Conference for Tribes & Tribal Areas, Delhi, 1957
— Cultural Anthropology, Bombay 1962
— Fifty Years of Science in India–Progess of Anthropology & Archaeology, Calcutta, 1963
— Culture and Society in India, Calcutta, 1967
— Problems of National Integration, Simla, 1967
— Tribal Life in India, Delhi, 1971
Bounding, P O — Traditions & Institutions of the San-

tali, Oslo, 1942

Bower, U G. — Naga Path, London, 1950

Campbell, J — A Personal Narrative of Thirteen Years' Service Amongst the Wild Tribes of Khondistan London, 1864

Cantlie, Keith — Notes on Khasi Law, Henry Munro Ltd., 1934

Chanda, R P — The Indo Aryan Races, Rajasthan 1916.

Chandrashekhar, S — Indian Population—Fact & Policy, 1950

Chatterji, A. & Das, T C — The Hos of Saraikella, Calcutta, 1927

Chatterji D D — The Story of Gondwana, London 1916

Chattopadhyay K P — Report on Santals in Bengal Calcutta University Press 1947

Chaturvedi S C — Andman Island, Delhi, National Book Trust

Cooper, T T — The Mishmee Hills London, 1873

Crooke W — Tribes & Castes of the N W Provinces & Oudh, Calcutta, 1896

Culshaw, W J — Tribal Heritage (The Santhal) London 1949

Dalton E T — Descriptive Ethnology of Bengal, Calcutta, 1872

Das, T C — Social Organisation of the Tribal People', Delhi, Indian Journal of Social Work, Vol XIV, 1953

— Classification of the Tribals of India, Report of the Fourth Conference for Tribes & Tribal Areas 1957

— The Purams

— The Bhumiyas of Saraikella.

Das, T — The Wild Kharias of Manbhum, Calcutta, 1931

Datta, K.K — The Santal Insurrection of 1855 57,

		Calcutta, 1940
Datta Majumdar, N	—	The Santal, A Study in Culture Change, 1956
Dhebar, U N	—	Report on Scheduled Tribes, Delhi, Govt. of India, 1960
Doshi, S L	—	Bhils, Delhi 1971
Dube, S C	—	The Kamar, Lucknow, 1951
	—	Manav Aur Sanskriti
	—	Approaches of Tribal Problems Indian Anthropology in Action, Ranchi, 1960
Ehrenfels U R	—	Kadar of Cochin, Madras, 1952
Eickstedt, E V.F	—	The Travancore Tribes & Castes, Trivandrum 1939
Ellis R H	—	A Short Account of the Laccadive Islands & Minicoy, Madras, 1924
Elwin V	—	The Baiga London 1939
	—	The Agaria, Oxford, 1942
	—	The Loss of Nerve, Bombay 1942
	—	Maria Murder & Suicide, O U P, 1943
	—	The Aboriginals Bombay D P I Pamphlet No 14, 1943
	—	Bondo Highlanders O U P 1950
Elwin, V	—	The Religion of an Indian Tribe, London, 1955
	—	India s North East Frontiers in the 19th Century, London, 1959
	—	The Philosophy for NEFA, Shillong, 1960
	—	When the World was Young Delhi, 1961
	—	Nagaland, Shillong, 1961
	—	New Deal for Tribal India, Delhi, 1963.
	—	The Tribal World of Verrier Elwin, London, 1964

— The Kingdom of the Young, Bombay, 1968.
— The Nagas in the 19th Century, Bombay, 1969
Endle, Sidney — The Kacharis, London, 1911
Enthowern, R.E — Tribes & Castes of Bombay, (3 Vols), Bombay, 1920.
Fawcett, F — The Nayars of Malabar, Madras, 1915
Forde, C D — Habitat, Economy & Society, London, 1957
Forsyth J — The Highlands of Central India, 1876
Frazer, J G — The Golden Bough
Fuchs, Stephen — Census of India 1941, Vol XVI Pt I
— The Gond & Bhumia of Eastern Mandla Bombay, 1960
— Rebellious Prophets, Bombay 1965
Furrer-Haimendorf C Von — The Chenchus London, 1943
— The Reddis of the Bison Hills, London, 1945
— The Tribal Population of Hyderabad, Hyderabad, 1945
— The Naked Nagas, Calcutta 1946
— The Raj Gonds of Adilabad—Myth & Ritual, London, 1948
— "The After life in Indian Tribal Belief,' Journal of Royal Anthropology Institute, 83, I London 1953.
— The Apatanis & Their Neighbours, London, 1962
Gait, E.A — Census of India, 1911, Report Vol I, Pt I
Gates R.R — Human Ancestry, Cambridge, Mass, 1948.
Ghurye, G S — The Aborigines So-called & Their Future, Poona, 1943.

	—	The Mahadev Kolis, Bombay, 1957
	—	Scheduled Tribes, Bombay 1959
Gilbert, W A	—	Peoples of India, Washington, 1944
Giuffride, Ruggeri	—	Arch Anthrop Etnol Firenze XLVII 1917 (Translated by Chakladar, H C.)
Gluckman, M	—	Politics Law & Ritual in Society Chicago, 1965
Goswami, B B	—	The Mizo Movement, Bulletin of the Anthropological Survey of India 1971
Goswami M C. & Majumdar D N	—	Social Institutions of the Garo of Meghalaya, Calcutta 1972
Govt. of India	—	The Adivasis, Delhi 1959
Govt of M P	—	A Study of Tribal People & Tribal Areas of Madhya Pradesh, Bhopal, 1967
	—	The Tribes of Madhya Pradesh Bhopal, 1964
Govt of Rajasthan	—	Tribal Rehabilitation in Rajasthan 1956
Graham, D.C	—	A Brief Historical Sketch of Bheel Tribes Inhabiting the Province of Khandesh, 1843
Griffiths, Walter G	—	The Kol Tribe of Central India Calcutta, 1946
Grierson, Sir G A	—	The Linguistic Survey of India & the Census of 1911 Calcutta, 1919
Grigson, W V	—	The Maria Gonds of Bastar Oxford, 1938
	—	The Aboriginal Problems of C P & Berar, Nagpur
	—	Notes on the Settlement of the Abhujh mar Villages, Document C–14, Jodhpur Record Room Baster
Guha, B.S.	—	Census of India 1931 Delhi, 1935.
	—	The Racial Elements in Indian Population, Bombay, 1938
	—	The Indian Aborigines & their

Administration, Journal of Asiatic Society, Vol. XVII, 1951

Gupta, K. K. Das — A Tribal History of Ancient India, Calcutta.

Haddon, A.C. — Wanderings of People.

— Head Hunters, 1901

Hamilton, F B. — The Abor Jungle, London, 1912

Harem, K. — Traditions & Institutions of the Santals, Benagona 1887

Harkness, H — A Description of a Singular Aboriginal Race Inhabiting the Summit of the Nilgherry Hills London, 1832

Hasan Amir — A Bunch of Wild Flowers, Lucknow

Herskovits M J — Economic Anthropology New York, 1952

Hislop — Aboriginal Tribes of the Central Provinces.

Hivale, S. — The Pardhans, Oxford, 1946

Hobhouse L T & Wheeler, G C. & Ginsberg M — The Material Culture & Social Organizations of the Simpler People, London, 1930

Hodson T C — The Meitheis of Manipur London, 1908.

— The Naga Tribes of Manipur, London, 1912

— The Primitive Culture of India, 1922

Hoebel, E.A. — Anthropology—The Study of Man, New York, 1949

Hoffman, J — Encyclopaedia Mundarica, Patna, 1950.

Hutton J H. — The Angami Nagas, London, 1921

— The Sema Nagas, London 1921.

— Census Report of India—1931, Vol I, Pt. I, Delhi, 1933.

Iyer, A.K. — The Cochin Tribes & Castes, 2 Vols, Madras, 1912.

Iyer, L A K. — Travancore Castes & Tribes, 2 Vols Trivandrum 1938 & 1939

Iyer, L A K. & Bala Ratnam, L.K — Anthropology in India, 1961

Iyer L K A — The Cochin Tribes & Castes 1909

— Lectures on Ethnology 1925,

— The Mysore Tribes & Castes, 1928

— The Travancore Tribes & Castes, 1937

Jay E J — The Anthropologist & Tribal Welfare Hill Maria a Case Study Journal of Social Research Ranchi, 1959

Jay E J — A Tribal Village of Middle India, Calcutta 1970

Johnstone, J — My experience in Manipur & the Naga Hills, London, 1896

Joshi M M — Bastar–India s Sleeping Giant New Delhi 1967

Kalia, S K — Sanskritization & Tribalization Bulletin of the Tribal Research Institute Chhindwara April 1959

Kapadia, K M — Marriage & Family in India Bombay

— The Matrilineal Social Organization of the Nagas of Assam

Kar P C. — British Annexation of Garo Hills Calcutta 1970

Karve I — Kinship Organisation in India, Poona, Deccan College, 1962

Karve, I & Majumdar, D N — Racial Problems in Asia Indian Council of World Affairs 1948

Khanpurkar D V — Aboriginal Tribes of South Gujarat, (Unpublished Thesis Bombay University)

Kitts E J — A Compendium of the Castes & Tribes in India 1885

Kroeber, A L — Anthropology Chicago, 1923

Kutty, A.R — Marriage and Kinship in an Island Society, Delhi, 1972

Lacey, N G — Notes on the Santals & other Chhota Nagpur Tribes, Census of India, 1931, I Pt 3 (b), 1933

Lalit 'Nikunj' — Sansar Ki Adimjatiyan, Lucknow, 1954

Latham, R G — Ethnography of India London, 1959

Law, B.C — Ancient Indian Tribes, Vol. I, Lahore, 1926
Ancient Indian Tribes, Vol II, London, 1934

Leuva K K — The Asur, Delhi, 1963

Lewin, Lt Col T A — Wild Race of South Eastern India, 1870

Luard, C E — The Jungle Tribes of Malwa, Monograph No 11 Lucknow, 1909

Luiz, A A.D — Tribes of Mysore.
— Tribes of Madras
— Nomadic Tribes of India
— Tribes of Kerala Delhi 1962

Mac Alpin, M C — Report on the Conditions of the Santhals in the district of Birbhum, Midnapore & North Balasore 1909

Madan T N & Sarana, G — Indian Anthropropology (ed), Bombay 1962

Mahapatra, L K — Transformation of Tribal Society in India, Delhi University, National Lecture 1970

Majumdar, D.N — A Tribe in Transition London, 1937
— The Fortunes of Primitive Tribes, Lucknow, 1944
— The Matrix of Indian Culture, Lucknow, 1947
— The Affairs of a Tribe, Lucknow, 1950.
— Races and Cultures of India, Bombay, 1958
— Himalayan Polyandry, Bombay, 1962

Majumdar, D N & Madan T N — An Introduction to Social Anthropology Bombay, 1956

Mandelbaum, D G — Cultural Change Among the Nilgiri Tribes American Anthropologist Vol 43, Jan -Mar, 1941

Man, E G — Santhalia & Santhals Calcutta, 1867

Man E H — On the Aboriginal Inhabitants of the Andaman Islands, London 1932

Marshall W E — A Phrenologist Amongst the Tribes London 1873

Mathur, K K — Nicobar Islands Delhi

Mathur, K S — 'Some Problems of Tribal Rehabilitation in M P Journal of Social Research, III-2 1960

— 'Tribal Indentity The Eastern Anthropologist, XXII-2 1969

— Manav Pragati ki Kahani Lucknow 1971

Mathur, K S Shukla, B R K & Singh Banvir — Studies in Social Change (Ed) Lucknow 1973

Mathur K S & Verma S C — Man & Society (Ed) Lucknow 1972

Mathur K S & Agarwal B C — Tribes Caste & Peasantry (Ed), Lucknow 1974

Majumdar B C — The Aborigines of the Highlands of Central India Calcutta 1927

M E Culluch, W — Account of the Valley of Munnipore & of the Hill Tribes Calcutta 1859

Mamoria, C B — Tribal Demograghy in India, Kitab Mahal

Metz, J F — The Tribe Inhabiting the Neilgherry Hills, Mangalore 1864

Mills J P — The Lhota Naga London, 1922

— The Ao Naga London 1926

— The Rengama Naga London, 1937,

Mitchell — North East Frontiers of India.

Morgan, L.H — Ancient Society, New York, 1877

Mukherjee, C — The Santals, Calcutta 1962

Murdock, G P — Our Primitive Contemporaries, New York, 1961

Nadel, S F — Foundations of Social Anthropology, London 1953

— The Theory of Social Structure, London, 1957

Nag, D S — Tribal Economy Delhi 1958

Naik, T B — The Bhils, Delhi, 1956

Naik T B & Bhouraskar K M — Tribal Economic Organization & Market, Chhindwara 1964

Nakane C — Garo & Khasi, A Comparative Study in Matrilineal System Paris, 1967

O Malley L S S — Popular Hinduism, the Religion of Masses, Cambridge 1935

— Modern India & the West (Ed), Oxford 1941

Oppenheimer F — The State (Translated from German by Gitterman) New York 1922

Orans, Mutin — The Santal A Tribe in Search of a Great Tradition Detriot, 1965

Oswalt W H — Other Peoples Other Customs New York, 1972

Pant, S D — Social Economy of the Himalayas, Lucknow

Parry, N E — The Lakhers, Macmillau, 1932

— A Monograph on Lushai Customs & Ceremonies, Assam Govt. Press.

Pearson, Roger — Introduction to Anthropology New York, 1974

Pemberton R B. — Report on the Eastern Frontier of British India Calcutta, 1835

Playfair, A — The Garos, London, 1909

Radcliff Brown, A.R, — The Andaman Islanders, Cambridge, 1922,

Ray, P C. — The Effect of Culture Contact on the Personality Structure of two Indian Tribes the Riang of Tripura and the Baiga of M P , Calcutta, Anthropological Survey of India Research Bulletin Vol VI No 2 1957

Risley H H — The Study of Ethnology in India' Journal of Anthropological Institute, Vol XX 1890
— The Tribes & Castes of Bengal, 4 Vols Calcutta 1891
— The Peoples of India Calcutta, 1915

Rivers, W H R — The Todas, London, 1906
— Social Organization London 1932

Rowney H B — The Wild Tribes of India London 1882

Roy S C — The Mundas and their Country Calcutta 1912
— The Oraons of Chhota Nagpur Ranchi 1915
— The Birhor Ranchi 1925
— The Oraon Religion & Customs 1926
— The Hill Bhuiyas of Orissa Ranchi, 1935

Roy S C & Roy, R C — The Kharias Ranchi 1937

Russel R N & Hira Lal — The Tribes & Castes of the Central Provinces of India Vol I-IV London, 1916

Sachhidananda — Culture Change in Tribal Bihar Calcutta, 1954
— Profiles of Tribal Culture in Bihar
— Tribal Village in Bihar
— 'Tribe-Caste Gontinuum A Case Study of the Gond in Bihar'-Anthropos, LXV 1970

Sahay K N — Trends of Sanskritization Among the

Oraon', Ranchi, Bulletin of the Bihar Tribal Research Institute, Vol. IV No 2, Sep 1962.

Saksena, R.N — Social Economy of A Polyandrous People, Agra, 1955

Sarkar, S.S. — The Maler of the Rajmahal Hills, Calcutta, 1938

— The Aboriginal Races of India, Calcutta, 1954

Save, K J — The Warlis of Gujarat Bombay, 1945

Schapera, I — Government & Politics in Tribal Societies, London 1956

Schneider, D M. & Gough, K — Matrilineal Kinship, Berkeley & Los Angles, 1961

Sedgwick — Census of India 1921 Report

Shah, P G — Dublas of Gujarat Delhi, 1958

Shakespeare, J — The Lushai Kuki Clans, London, 1912

Sharma R.L — Janjatiya Jeewan Aur Sanskriti Kanpur 1967

Shaw William — The Thadou Kukis Govt of Assam

Singer, M — Introduction to the Civilization of India (Ed), Chicago 1957

— Traditional India Structure & Change (Ed), Philadelphia 1959

Singh Inderjeet — The Gondwana & the Gonds Lucknow 1944

Singh K S — Tribal Situation in India (Ed), Simla, 1972

Sinha, D P — Culture change in an Inter Tribal Market, Bombay 1968

Sinha, Surjit — Tribe Caste & Tribe-peasant Continuation in Central India, Man in India, Vol. 45 No 1, 1965

Smith, W C. — The Ao Naga Tribe of Assam, London, 1925

Soppit, C A — A Short Account of the Kacha Naga Tribe Shillong, 1885
— A Short Account of the Kuki Lushai Tribe on the North Fast Frontier, Shillong, 1885
— Kachari Tribes in North Cachar Hills

Srinivas M N — Religion & Society Among the Coorgs of South India Oxford 1952
— India s Villages (Ed) Calcutta, 1955
— Social Change in Modern India, Berkeley & Los Angles, 1966

Srivastava S K — The Tharus, Agra, 1958

Stack, E & Lyall — The Mikris London 1908

Thakkar A.V — The Tribes of India

Thurnwald — Economics in Primitive Societies Oxford 1932

Thurston, E — Anthropology of the Todas & Kotas of the Nilgiri Hills, Madras Govt Museum, Bulletin Vol I No 4, Madras 1896
— Ethnographic Notes in Southern India, Madras, 1907

Thurston E & Rangachari — Castes & Tribes of Southern India — 7 Vols Madras 1909

Vedalankar H — Bhartiya Naslen Avum Janjatiya Jeevan Dehradun 1957

Vidyarthi L P — Bihar ke Adivasi (Ed) Patna 1960
— Indian Anthropology in Action (Ed), Eanchi, 1960
— Maler A Study in Nature-man spirit Complex of a Hill Tribe, Cal cutta, 1963
— Cultural Conturs of Tribal Bihar, Calcutta 1964

— Applied Anthropology in India (Ed), Allahabad, 1968.
— Socio—Cultural Implications of Industralization in Tribal India, Report submitted to the R. P C of the Planning Commission, Delhi, 1970
Weling, A.N — The Katkaris

● ●

विषय संदर्भिका

अ

आ

ख

ग

च

ज

ट

ड

त

थ

द

ध

न

प

शुद्धि पत्र

पृ० सं०	पैरा	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
1	1	संदिग्ध	संदिग्ध
6	अंतिम	जनजाति	आदिमजाति
11	2	आसाम	असम
16	2	राजदूत	राजपूत
19	3	जयराम	जरायम
19	3	अधिकारी तथा	अधिकांशतया
28	अंतिम	25 वर्षों	28 वर्षों
30	अंतिम	जनजातियाँ	आदिमजातियाँ
34	2	बहिर्विवाह	अंतःविवाह
42	3	वेड्डी	वेड्डिड
45	1	उपली	उराली
59	1	हमें	हम
64	अंतिम	बठाठा	बड़ाया
66	2	घटियाँ	घंटियाँ
68	2	नब्बे	अस्सी
69	2	बेबुर	बेवर
77	2	वाह्य	वाद्य
86	2	बनो	बनों
91	1	टैसू	टैटू
92	अंतिम	अंतर्विवाही	अंतःविवाही
97	4	अंतर्विवाही	अंतःविवाही
98	2	ढोडा	टोडा

113	1	अंतर्विवाही	अंत विवाही
132	अंतिम	आसाम	असम
156	2	सामाज्य	साम्राज्य
195	1	है	हैं
196	1	यसम	समय
229	1	अभूतपूर्ण	अभूतपूर्व